आदरणीय गुरुजी को
सादर समर्पित।
अर्जुन पाण्डेय
3-V-80

॥ श्री हरिः ॥

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज

की

७४ वीं वर्षग्रन्थि पर प्रस्तुत

सन्मार्ग

आगम विशेषांक

वाराणसी, मंगलवार, श्रावण शुक्ल द्वितीया, संवत् २०३७ वि०, १२ अगस्त, १९८० ई०

प्रधान सम्पादक
स्वामी श्रीनन्दनन्दनानन्द सरस्वती

इस अंक के संपादक
डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी　　डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी

प्रबंध संपादक
गोपाल पाण्डेय

संपादकीय कार्यालय		प्रबंधकीय कार्यालय
'सन्मार्ग' दैनिक गोलघर, वाराणसी पो० बा० १२८, फोन : ६३५२०	मूल्य : ८ रु०	'सन्मार्ग' दैनिक तुलसी मंदिर, तुलसीघाट, वाराणसी फोन : ६३४५८

श्री हरिः

धर्म की जय हो

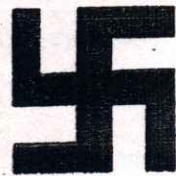
अधर्म का नाश हो

प्राणियों में सद्भावना हो

विश्व का कल्याण हो

गो हत्या बन्द हो

गोमाता की जय हो



हर हर महादेव



प्रकाशक

महंत वीरभद्र मिश्र



धर्मसम्राट् परमपूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

सन्मार्ग

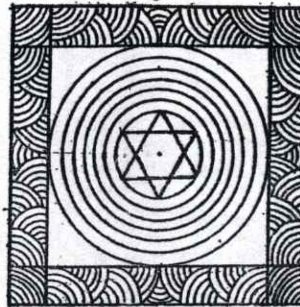
आगम विशेषांक

वर्ष : ३५] [अंक २०३

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः

सरणी

आवरण—श्री वासुदेव स्मार्त



विज्ञापनदाताओं की सूची

निगम और आगम*

अनन्तश्री विभूषित पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजी महाराज

ॐ निगम का स्वरूप अनादि, अपौरुषेय मंत्रब्राह्मणात्मक वेद है। निगम का स्वरूप है "सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वम्" जिसका सम्प्रदाय टूटा न हो और जिसके कर्त्ता किसी प्रमाण से सिद्ध न हो। जिसकी शब्द और अर्थ दोनों की परम्परा अविच्छिन्न हो। माने शब्दतः उसका अध्ययन अध्यापन चल रहा हो। नहीं तो, अननुष्ठापकत्व-लक्षण अप्रामाण्य ही कहा जाता है। कोई प्रमाण अपने अर्थ का अनुष्ठान न करा सके, तो यह भी उसका अप्रामाण्य होता है। वेद में ही ये सब बात घटती हैं। वेद की अध्ययनपरम्परा भी प्रचलित है और उसका अर्थ जो है— अग्निहोत्र, दशपौर्णमास, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम आदि, इसका यथाकथंचित् 'यत्र-कुत्र-चित्' अनुष्ठान चल रहा है।

काशी में, दक्षिण में, महाराष्ट्र और भिन्न भिन्न स्थानों में अग्निहोत्र भी चलते हैं। दर्शपूर्णमास भी चलते हैं, ज्योतिष्टोम भी चलते हैं और आप्तोर्याम आदि भी चलते हैं। इस तरह से "सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वं" जिनमें हो, वही निगम है। यद्यपि आगम में भी सम्प्रदाय अविच्छेद कहा जा सकता है, तथापि उनका कर्त्ता स्मर्यमाण है। शिवजी या नारायण या भिन्न-भिन्न उसके जो कर्त्ता हैं, वे स्मर्यमाण हैं। यही पौरुषेयत्व अपौरुषेयत्व का भेद दोनों में है। निगम में अपौरुषेयत्व, आगम में आर्षत्व या ईश्वरकर्तृकत्व आदि आदि ये सब मानना होता है और इसीलिए लगभग ये आगम वाले जो ग्रंथकार हैं, वेद को भी पौरुषेय सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। जैसे कि परशुराम कल्पसूत्र के भाष्य में वेदों के पौरुषेयत्व पर बड़ा जोर दिया है।

परन्तु मीमांसकों की दृष्टि से व्यापक दृष्टिकोण यही है कि जिसकी सम्प्रदायपरम्परा भंग नहीं हुई और जिनका कर्त्ता किसी प्रमाण से प्रमित नहीं है, उन्हीं सब ग्रंथों को निगम कहते हैं और तद्भिन्न को आगम कहते हैं। अब आगम भी इतने मात्र से नहीं बनता—तद्भिन्नता—मात्र से, क्योंकि आगम होता है सामान्यतया किसी ऋषि-महर्षि के द्वारा उक्त होने से ही। आगम में मुख्य बात है—ईश्वर जैसे भगवान शिव, भगवान नारायण— ऐसे-ऐसे-जिन पवित्र ग्रंथों के वक्ता हैं और जिनकी परम्परा अविच्छिन्न है, उन्हीं को आगम कहते हैं। निगम में मन्त्र-ब्राह्मण रूप में जो प्रसिद्ध हैं, वे सब हैं। यद्यपि इसमें भी थोड़ी सी बात रह जाती है। बहुत शाखाएँ लुप्त हो गयी हैं। हमारी उनकी सम्प्रदाय से अध्ययनाध्यापन परम्परा भी टूट गयी है। हजार शाखा वाले सामवेद में केवल दो-तीन ही शाखाएँ मिलती हैं और कोई नहीं मिलतीं। ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं में से दो या एकार्ध शाखाएँ हैं और कोई नहीं।

इसी प्रकार से आध्वर्यव शाखाओं में भी थोड़ी —दो-तीन-चार मिलती हैं। इन सारे संबंधों में तो "सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वम्" भंग हुआ। क्योंकि सम्प्रदाय परम्परा ही भंग हुई है तो फिर "अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्व" रहे, न रहे—कोई बात नहीं। उसका समाधान है! मत्स्य पुराण आदि के द्वारा यह विदित होता है कि जो शाखाएँ यहाँ लुप्त होती हैं, वे सूर्यमण्डल में स्थित रहती हैं। आर्ष प्रमाण के आधार पर यह सिद्ध है। जैसे प्रसिद्ध है कि शुक्ल यजुर्वेद पहले उपलब्ध नहीं था। इस व्यवहार को भी केवल "चरकाध्वर्यव" चरक शाखाएँ चलती थीं। उसके वैशम्पायन आदि आचार्य थे और उस परम्परा से विरक्त होने के कारण 'याज्ञवल्क्य' ने तपस्या की। सूर्य नारायण की आराधना की। सूर्य भगवान के अनुग्रह से १५ शाखाएँ उनको प्राप्त हुईं। यह १५ शाखाएँ शुक्ल यजुर्वेद शाखाएँ हैं। उनमें माध्यन्दिनी है, काण्व इत्यादि-इत्यादि सब शाखाएँ। इसी प्रकार से माना जा सकता है कि अब भी जो शाखाएँ लुप्त हो रही हैं, वह सूर्यमण्डल में स्थित हैं। इसलिए सूर्यमण्डल को ऋक् का समुदाय माना जाता है और ऋक् का समुदाय सूर्यमण्डल की मूर्ति मानी जाती है और साम का प्रकाश सूर्यमण्डल का जो बाह्य है। इस प्रकार 'शतपथ ब्राह्मण' आदिकों में भी इस प्रकार की चर्चा है। इसलिए कह सकते हैं कि निगम का अंश यहाँ उपलब्ध नहीं है और यह भी मानना चाहिए कि यह जो निगम की ११३१ शाखा आदि हैं, यह एक सीमित स्वरूप है। क्योंकि 'अनन्ता वै वेदाः' तैत्तिरीय शाखा में यह वचन आता है। उसके अर्थवाद के रूप में वहाँ निरूपण है कि भरद्वाज ने सौ वर्षों तक वेदों का अध्ययन किया और उस पर इन्द्र प्रसन्न होकर आये और कहा कि 'वरं ब्रूत'। इस पर उन्होंने कहा कि आयु और प्राप्त हो तो 'वेदाध्ययन' करें। उनको १०० वर्ष की आयु दी। फिर वेदाध्ययन किया। फिर इन्द्र आए, बोले 'अब'। बोले थोड़ा आयु और दें। ऐसे चार बार चार सौ वर्ष की आयु के द्वारा वेदाध्ययन किया। फिर आए। फिर वही कहा, तो उन्होंने कहा, ये जो सामने चार पहाड़ दिखाई दे रहे हैं—यही चार जाति के 'वेद' रूप पहाड़ अभी सब बाकी हैं। अभी चार मुष्टि आपने अध्ययन किया है। इन बातों से स्पष्ट है कि "अनन्ता वै वेदाः"। और युक्ति भी है। क्योंकि जितने ज्ञान हैं, सब शब्दानुविद्ध हैं 'न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते"। शब्दानुगम के बिना कोई प्रत्यय नहीं होता। प्रत्ययों की संख्या नहीं है। प्रत्ययानुविद्ध शब्द भी अनन्त हैं। इसलिए "अनन्ता वै वेदाः"। क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में अनुविद्ध जो शब्द है— मनुष्यों के ज्ञान में अनुविद्ध मौलिक शब्द भी हो सकते हैं। परन्तु ईश्वर का ज्ञान अनन्त का है।

*टेप का लेखरूप

सम्पादकीय

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद स्वामी करपात्री जी महाराज भारतीय ज्ञानसाधना और अध्यात्म के मूर्त्त रूप हैं। उनका योगशुद्ध ब्राह्मण शरीर आज से ७४ वर्ष पूर्व प्रकट हुआ था। तिथि थी श्रावण शुक्ल द्वितीया। यह तिथि श्रौत तथा स्मार्त्त पथ से पुरुषार्थ चतुष्टय की ओर अग्रसर सनातन धर्मियों के लिए उत्सव या महोत्सव की तिथि है। जब यह तिथि आती है सन्मार्ग अपनी प्रणामाञ्जलि विशेषांक के रूप में अर्पित करता है। योग, गौ और तन्त्र पर तीन विशेषांक इसी रूप में श्रद्धेय स्वामीजी महाराज को अर्पित किए गए। इस पवित्र तिथि पर, इस बार आगम विशेषांक प्रस्तुत है। भगवान् शंकराचार्य ने सौन्दर्य लहरी के अन्त में कहा था—'जगदम्बा की वाङ्मयी स्तुति दीपक से सूर्य की आरती करना है या चन्द्रकान्तमणि से निस्यन्दित जल से चन्द्रमा को अर्घ्य देना है या है अपने ही जल से समुद्र का संपोषण'। आगम विशेषांक प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी के विषय में भी हमारा यही कहना है। उन्हीं को वस्तु उन्हें समर्पित की जा रही है। समर्पण का तो बहाना है, वस्तुतः है यह हमारा आत्मसंपोषण। विशेषांक प्रस्तुत कर सन्मार्ग परिवार और स्वामीजी के भक्त अपने लिए कुछ सामग्री एकत्रित कर लेते हैं। महतां संस्तव एव गौरवाय=महान् पुरुषों का परिचय महत्ता जनक होता है। आशा है हमारी स्वार्थमूलक यह प्रणामांजलि श्रीचरणों को स्वीकार होगी।

आगम के विषय में स्वयं स्वामीजी, महात्माओं और विद्वानों ने अपने गुरुगंभीर विचार दिए हैं। उन्हें विषय क्रम से यहाँ प्रस्तुत किया गया है। विचार अनेक प्रकार के हैं। पाठक-भृंग उनसे अपना मधुकोष पूरा कर लेंगे और अनेकता में एकता के दर्शन कर इन विचारों के मुक्ता-हार से अपना पवित्र हृदय अलंकृत और पवित्र करेंगे।

निगम कोष है और आगम उसकी परंपरा। इस प्रकार आगम से निगम उपलब्ध होते हैं और निगम के कारण ही सभी आगमों का आगमत्व सफल होता है। परंपराएँ और भी हैं जिनसे कुछ ऐसी प्रयोग विधियाँ और साधनापद्धतियाँ उपलब्ध हैं जिनका मार्ग वैदिक दक्षिण मार्ग से भिन्न है। परन्तु उनसे भी मानव जीवन का उत्कर्ष देखा जाता है। यदि उनसे निश्रेयस भी संभव हो तो वे मार्ग भी नमस्य हैं। कालिदास की भाषा में—'पथ अनेक हैं। उन सबके आगम हैं और इसीलिए उन सभी पथों से सिद्धि भी होती है। सिद्धि का स्वरूप है गङ्गाजी के अनेक जलप्रवाहों का समुद्र में मिलने के समान सब पथों का परमात्मा में मिलना।' देखना यह है कि दक्षिण मार्ग के समान क्या अन्य मार्ग भी व्यक्ति और समाज दोनों के लिए समान रूप से हितकारी हैं तथा क्या उन सबमें विडम्बना की मात्रा बराबर है? यही है कसौटी जिससे मार्गों की उपादेयता में तारतम्य आता है।

भाषा भी आगमों के भेद में कारण है। कुल, भैरव और प्रपञ्च एक ही अर्थ के वाचक हैं। स्पन्द, क्रम और माया भी इसी प्रकार अभिन्नार्थक ही हैं। मन का मिट्ठू अपनी डाल पकड़े है और अपना राम जप रहा है। इस प्रकार के एकत्रित विचारों से उन सभी परिभाषाओं का समन्वय स्पष्ट हो सकता है।

कम समय में अधिक सामग्री प्रस्तुत करना कठिन था तथापि श्रीसंकट-मोचनजी के महन्त प्रोफेसर डाक्टर वीरभद्र जी मिश्र के प्रेरक उत्साह, श्री गोपाल पाण्डेय तथा श्री अर्जुन पाण्डेय के अथक परिश्रम, भार्गव भूषण प्रेस के अपूर्व सहयोग, स्वामीजी के भक्तों और विद्वान् लेखकों की उदारता से यह कार्य सम्पन्न हो रहा है। वस्तुतः सबसे बड़ी है स्वामी करपात्रीजी महाराज की लोकप्रियता। उनका नाम लेते ही वैदुष्य के अप्रतिम और अक्षय्य कोष सागर के समान लहराने लगते हैं और कितने ही विद्वान् उन्हें अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करने में गौरव का अनुभव करने लगते हैं। तब अत्यन्त दुर्लभ सामग्री हमें विना आयास, अतीव सुलभ हो जाती है। हम इन सभी विद्वानों और मित्रों के हृदय से आभारी हैं।
इस अंक में जिन-जिन विज्ञापन दाताओं ने अपने विज्ञापन भेज कर स्वामी जी को अपने श्रद्धासुमन अर्पित किए हैं वे भी साधुवाद के पात्र हैं तथा हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी उनका उदार सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

इस अंक के आवरण पृष्ठ का निर्माण भारत के सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री वासुदेव स्मार्त ने किया है। हम उनके कृतज्ञ हैं।

प्रूफ संशोधन का कार्य श्रीयुत पं. शिवशंकर जी मिश्र ने किया है, जो हिन्दी संपादनकला के प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। उनको धन्यवाद देना स्वयं को ही धन्यवाद देना है।

ज्ञानं, तपः, करुणता, मृदुवाग्मिभावः
सौस्थ्यं च यान् स्वयमुपावृणते यतीन्द्रान्।
वन्दाहेऽमृत समुद्रभृतान्तरङ्गाँ
स्तान् ब्रह्ममात्रकरपात्रपदान् कवीन्द्रान्॥

रेवा प्रसाद द्विवेदी
प्रमुख, प्राच्य विद्याधर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी

कमलेशदत्त त्रिपाठी
अध्यक्ष, धर्मशिक्षा विभाग, प्राच्य विद्याधर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी

निगम और आगम*

अनन्तश्री विभूषित पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजी महाराज

ॐ निगम का स्वरूप अनादि, अपौरुषेय मंत्रब्राह्मणात्मक वेद है। निगम का स्वरूप है "सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्" जिसका सम्प्रदाय टूटा न हो और जिसके कर्त्ता किसी प्रमाण से सिद्ध न हो। जिसकी शब्द और अर्थ दोनों की परम्परा अविच्छिन्न हो। माने शब्दतः उसका अध्ययन अध्यापन चल रहा हो। नहीं तो, अननुष्ठापकत्व-लक्षण अप्रामाण्य ही कहा जाता है। कोई प्रमाण अपने अर्थ का अनुष्ठान न करा सके, तो यह भी उसका अप्रामाण्य होता है। वेद में ही ये सब बात घटती हैं। वेद की अध्ययनपरम्परा भी प्रचलित है और उसका अर्थ जो है— अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम आदि, इसका यथाकथंचित् 'यत्र-कुत्र-चित्' अनुष्ठान चल रहा है।

काशी में, दक्षिण में, महाराष्ट्र और भिन्न भिन्न स्थानों में अग्निहोत्र भी चलते हैं। दर्शपूर्णमास भी चलते हैं, ज्योतिष्टोम भी चलते हैं और आप्तोर्याम आदि भी चलते हैं। इस तरह से "सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं" जिनमें हो, वही निगम है। यद्यपि आगम में भी सम्प्रदाय अविच्छेद कहा जा सकता है, तथापि उनका कर्त्ता स्मर्यमाण है। शिवजी या नारायण या भिन्न-भिन्न उसके जो कर्त्ता हैं, वे स्मर्यमाण हैं। यही पौरुषेयत्व अपौरुषेयत्व का भेद दोनों में है। निगम में अपौरुषेयत्व, आगम में आर्षत्व या ईश्वरकर्तृकत्व आदि आदि ये सब मानना होता है और इसीलिए लगभग ये आगम वाले जो ग्रंथकार हैं, वेद को भी पौरुषेय सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। जैसे कि परशुराम कल्पसूत्र के भाष्य में वेदों के पौरुषेयत्व पर बड़ा जोर दिया है।

परन्तु मीमांसकों की दृष्टि से व्यापक दृष्टिकोण यही है कि जिसकी सम्प्रदायपरम्परा भंग नहीं हुई और जिनका कर्त्ता किसी प्रमाण से प्रमित नहीं है, उन्हीं सब ग्रंथों को निगम कहते हैं और तद्भिन्न को आगम कहते हैं। अब आगम भी इतने मात्र से नहीं बनता—तद्भिन्नता—मात्र से, क्योंकि आगम होता है सामान्यतया किसी ऋषि-महर्षि के द्वारा उक्त होने से ही। आगम में मुख्य बात है—ईश्वर जैसे भगवान शिव, भगवान नारायण— ऐसे-ऐसे-जिन पवित्र ग्रंथों के वक्ता हैं और जिनकी परम्परा अविच्छिन्न है, उन्हीं को आगम कहते हैं। निगम में मन्त्र-ब्राह्मण रूप में जो प्रसिद्ध हैं, वे सब हैं। यद्यपि इसमें भी थोड़ी सी बात रह जाती है। बहुत शाखाएँ लुप्त हो गयी हैं। हमारी उनकी सम्प्रदाय से अध्ययनाध्यापन परम्परा भी टूट गयी है। हजार शाखा वाले सामवेद में केवल दो-तीन ही शाखाएँ मिलती हैं और कोई नहीं मिलतीं। ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं में से दो या एकार्ध शाखाएँ हैं और कोई नहीं।

*टेप का लेखरूप

इसी प्रकार से आध्वर्यव शाखाओं में भी थोड़ी —दो-तीन-चार मिलती हैं। इन सारे संबंधों में तो "सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्तृकत्वम्" भंग हुआ। क्योंकि सम्प्रदाय परम्परा ही भंग हुई है तो फिर "अस्मर्यमाणकर्तृकत्व" रहे, न रहे—कोई बात नहीं। उसका समाधान है। मत्स्य पुराण आदि के द्वारा यह विदित होता है कि जो शाखाएँ यहाँ लुप्त होती हैं, वे सूर्यमण्डल में स्थित रहती हैं। आर्ष प्रमाण के आधार पर यह सिद्ध है। जैसे प्रसिद्ध है कि शुक्ल यजुर्वेद पहले उपलब्ध नहीं था। इस व्यवहार को भी केवल "चरकाध्वर्यव" चरक शाखाएँ चलती थीं। उसके वैशम्पायन आदि आचार्य थे और उस परम्परा से विरक्त होने के कारण 'याज्ञवल्क्य' ने तपस्या की। सूर्य नारायण की आराधना की। सूर्य भगवान के अनुग्रह से १५ शाखाएँ उनको प्राप्त हुई। यह १५ शाखाएँ शुक्ल यजुर्वेद शाखाएँ हैं। उनमें माध्यन्दिनी है, काण्व इत्यादि-इत्यादि सब शाखाएँ। इसी प्रकार से माना जा सकता है कि अब भी जो शाखाएँ लुप्त हो रही हैं, वह सूर्यमण्डल में स्थित हैं। इसलिए सूर्यमण्डल को ऋक् का समुदाय माना जाता है और ऋक् का समुदाय सूर्यमण्डल की मूर्ति मानी जाती है और साम का प्रकाश सूर्यमण्डल का जो बाह्य है। इस प्रकार 'शतपथ ब्राह्मण' आदिकों में भी इस प्रकार की चर्चा है। इसलिए कह सकते हैं कि निगम का अंश यहाँ उपलब्ध नहीं है और यह भी मानना चाहिए कि यह जो निगम की ११३१ शाखा आदि हैं, यह एक सीमित स्वरूप है। क्योंकि 'अनन्ता वै वेदाः' तैत्तिरीय शाखा में यह वचन आता है। उसके अर्थवाद के रूप में वहाँ निरूपण है कि भरद्वाज ने सौ वर्षों तक वेदों का अध्ययन किया और उस पर इन्द्र प्रसन्न होकर आये और कहा कि 'वरं ब्रूत'। इस पर उन्होंने कहा कि आयु और प्राप्त हो तो 'वेदाध्ययन' करें। उनको १०० वर्ष की आयु दी। फिर वेदाध्ययन किया। फिर इन्द्र आए, बोले 'अब'। बोले थोड़ा आयु और दें। ऐसे चार बार चार सौ वर्ष की आयु के द्वारा वेदाध्ययन किया। फिर आए। फिर वही कहा, तो उन्होंने कहा, ये जो सामने चार पहाड़ दिखाई दे रहे हैं—यही चार जाति के 'वेद' रूप पहाड़ अभी सब बाकी हैं। अभी चार मुष्टि आपने अध्ययन किया है। इन बातों से स्पष्ट है कि "अनन्ता वै वेदाः"। और युक्ति भी है। क्योंकि जितने ज्ञान हैं, सब शब्दानुविद्ध हैं 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते"। शब्दानुगम के बिना कोई प्रत्यय नहीं होता। प्रत्ययों की संख्या नहीं है। प्रत्ययानुविद्ध शब्द भी अनन्त हैं। इसलिए "अनन्ता वै वेदाः"। क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में अनुविद्ध जो शब्द है—मनुष्यों के ज्ञान में अनुविद्ध मौलिक शब्द भी हो सकते हैं। परन्तु ईश्वर का ज्ञान अनन्त का है।

अनन्तब्रह्माण्डोत्पादनानुकूल ईश्वर का अनन्त ज्ञान, ईश्वर के अनन्त ज्ञान में अनुविद्ध जो अनन्त शब्दराशि वह वेद कही जाती है। किन्तु मानव बुद्धिग्राह्य वेद यह ११३१ शाखा और उसमें से भी इस समय लुप्त हैं। यह स्थिति है।

आगमवाली बात यह है कि शैव आगम है, वैष्णव आगम है, शाक्त आगम है, ये सब आगम हैं। इनका कुलार्णव है, ज्ञानार्णव है। ये सब जो ग्रन्थ हैं तन्त्रों के, ये सब उसी से सम्बन्धित हैं। उनमें भी कितने अब उपलब्ध नहीं हैं। पांचरात्र आगम है। उसमें भी बहुत से उपलब्ध नहीं हैं। कुछ उपलब्ध हैं। ईश्वर-संहिता आदि कई चीजें नहीं हैं। इसी प्रकार से शैव आगम, वैष्णव आगम में भी। शैव आगम में भी बहुत से अंश लुप्त हैं। ये देश-काल परिस्थिति का प्रभाव है।

परन्तु ये आगम-निगम दोनों ही सनातन धर्म के लिए और राष्ट्र-पुरुषों के लिए आदरणीय हैं। धर्म, ब्रह्म की प्राप्ति जैसे निगम के द्वारा होती है, वैसे आगम के द्वारा भी धर्म-कर्म की प्राप्ति होती है।

उपासनाओं में जो वैचित्र्य है, निगमों में भी। स्मृति भी किसी ज्ञानवान ऋषि की बनाई हुई हो सकती है। स्मृति तो आर्षमात्र होने से ही स्मृति कही जा सकती है और आगम में ईश्वर संबंध सीधा जोड़ना चाहिए। आगम जो वाणी में हैं, यह अवश्य है कि आनुपूर्वी भेद निगम-आगम में है। जो पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व का भेद था, उसी से आनुपूर्वी भेद भी आ जाता है। आनुपूर्वी भेद के अनुसरणादि से अनादि पुराण इतिहास भी माने जाते हैं अनादि, पर भेद यही है, इनमें आनुपूर्वियों का परिवर्तन होता है, निगम में आनुपूर्वियों का परिवर्तन नहीं होता। आनुपूर्वीभेद निगम में भी होता है। इस आधार पर कि "वाचस्पति मिश्र" ने लिखा है भामती में। जैसे गात्र-विक्षेप का अनुकरण करती हुई नर्तकी शिक्षक से नृत्य विद्या को ग्रहण करती है, तो नर्तक के गात्रविक्षेप से—ज्ञानी शिक्षक के गात्र विक्षेप से, नर्तकी का गात्रविक्षेप भिन्न है। क्योंकि दोनों के गात्र भिन्न हैं, इसलिए गात्रविक्षेप भी भिन्न है। तत् सदृश है, यानी शिक्षक के गात्रविक्षेप के सदृश है।

नर्तकी का गात्रविक्षेप शिक्षक के गात्रविक्षेप के सदृश है, इसी प्रकार वेद के आनुपूर्वी के ग्रहण की भी बात है। उसके द्वारा शिक्षा का ग्रहण है। वर्णनित्यता तो अस्मदादि वर्णों में भी सिद्ध होती है। पौर्वापर्य विभु में और नित्य में बनता नहीं, जो नित्य है उसमें कालतः पौर्वापर्य नहीं बनता और जो बिभु है, उसमें देशतः पौर्वापर्य बनता नहीं, पौर्वापर्य बिना बने उसमें पदत्व, वाक्यत्व नहीं बनेगा, क्योंकि पदत्व तो 'गौः' है। 'गौः' गकार तदुत्तरवर्ती ओकार, तदुत्तरवर्ती विसर्जनीय—इस तरह से पौर्वापर्य होता है। तभी 'पदत्व', 'वाक्यत्व' बनता है। इसलिए पदत्व वाक्यत्व नित्य और विभुवर्णों में हो नहीं सकता, अतएव वर्णाभिव्यक्तियों में पौर्वापर्य माना जाता है। वे वर्णाभिव्यक्तियाँ सब अनित्य हैं। अनित्य हैं, तो उनमें कालतः पौर्वापर्य बन जाएगा। इसलिए वर्णाभिव्यक्ति से पदत्व—वाक्यत्व सब बनेगा। तो ऐसी स्थिति में आचार्य के आनुपूर्वी से शिष्य की आनुपूर्वी भिन्न ही होगी। क्योंकि उसके कण्ठ-ताल्वादि अभिघात जनित जो ध्वनि है, वह पृथक् है। शिष्य के कण्ठ ताल्वादि-अभिघात जनित ध्वनि पृथक् है। इसलिए रेडियो आदि पर पता लगता है कि अशोक वाजपेयी का ये है, देवकीनन्दन पाण्डेय की ये शब्दावली है, ये भेद हमको प्रत्यक्ष मालूम पड़ता है।

ध्वनि में अभिव्यक्त जो वर्ण हैं, वे भिन्न भिन्न होते हैं। इसलिए आचार्य निर्मित जो आनुपूर्वी और उस आनुपूर्वी से शिष्य निर्मित आनुपूर्वी भिन्न है। हाँ तत्सदृश है। अतएव उसमें एकत्व का व्यवहार होता है, वही आनुपूर्वी है और जहाँ आनुपूर्वी में स्वतन्त्रता होती है, "प्रमाणान्तरेण अर्थेऽनुपलभ्ये विरचितत्वं" यहाँ है। जैसे 'रघुवंश' की जो आनुपूर्वी है उसका निर्माण तो कवि कालिदास ने किया। लेकिन हम जो रघुवंश की आनुपूर्वी का उच्चारण करते हैं वो कालिदास द्वारा उच्चरित आनुपूर्वी का अनुकरण करते हैं। कालिदास की जो आनुपूर्वी है उसमें तो प्रमाणान्तरेण अनुपलभ्य अर्थ विरचितत्व उसमें है। कालिदास ने अपने भिन्न-भिन्न प्रमाणों से अर्थ को समझा हो और उसका निर्माण किया लेकिन हम प्रमाणान्तरेण अनुपलब्ध अर्थ का निर्माण नहीं करते। किन्तु उस आनुपूर्वी शब्द की अपेक्षा से अर्थात् कालिदास की आनुपूर्वी शब्द की अपेक्षा हमारी आनुपूर्वी का निर्माण होता है। लेकिन कालिदास ने जो आनुपूर्वी का निर्माण किया वह अपने से पूर्व किसी आनुपूर्वी की अपेक्षा से स्वतन्त्र है। आनुपूर्वी की स्वतन्त्रता है। पूर्वआनुपूर्वी निरपेक्षत्व—यही उसकी स्वतंत्रता है, नवीनता है। यह सब भेद भी होता है। इसलिए आचार्य की आनुपूर्वी और शिष्य की आनुपूर्वी भिन्न ही भिन्न है, तथापि तत्सदृश होने के कारण उसमें आनुपूर्वी का परिवर्तन नहीं माना जाता। आनुपूर्वी वही है।

कई जगह पर ऐसा होता है कि प्रमाण की जहाँ गणना है प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, तो आगम से वहाँ पौरुषेय-अपौरुषेय सब ले लिया। जहाँ ऐसे गणना चली १ – प्रत्यक्ष प्रमाण, २—अनुमान प्रमाण, ३—आगम प्रमाण। वहाँ आगम शब्द में निगमागम सब कुछ ले लिया—"न तादृशागमे धर्मो वितर्केण प्रवर्त्यते।" आगम का भी पर्यवसान असल में ज्ञान में ही है। क्योंकि कर्मकांड बहुत आगम में भी है। जैसे ये समवर्गीय श्रीरंगम् या वेंकटेश या रामेश्वरम् में जितनी ये उपासनाएँ हैं, शैव या वैष्णव सब आगम से ओतप्रोत हैं तो, लेकिन ये सब होने पर भी उनका पर्यवसान अन्ततोगत्वा 'ज्ञान' में ही है। जैसे शैवागम या शाक्तागम में तो एक प्रकार से अभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित श्रीतन्त्रालोक आदिकों का है, इन सबों में भी अन्ततोगत्वा प्रकाश-विमर्श और उनका सामरस्य में उनका पर्यवसान है। एक ही शिवतत्त्व का ही नाम प्रकाश है और उसमें जो किंचित् हलचल है उसी का नाम विमर्श है। विमर्श ही शक्ति है। प्रकाश ही शिव है। शिव की अन्तर्मुखता और प्रपंच का प्रबल है और शिव की बहिर्मुखता—यही प्रपंच का निर्माण है। शिव की बहिर्मुखता ही तो अन्ततोगत्वा विवक्षित है। यही अन्त में सामरस्य—सारा-सारा विमर्श प्रकाश में सन्निविष्ट हो जाए—यही अन्तिम स्थिति है। यद्यपि थोड़ा सा भेद है जैसे अपने यहाँ तो 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य की भी निवृत्ति हो जाती है। वेदान्त में जो न्याय है, जैसे "पयः पयोन्तरम् जरयेत्, स्वयमपि जीर्येत्" और "विषम् विषान्तरम् जरयेत्, स्वयमपि जीर्येत्" विष दूसरे विषान्तरों को प्रशमन करके स्वयं प्रशान्त हो जाता है।

ऐसे ही महावाक्यजन्य परब्रह्माकारकवृत्ति स्वेतर सकल दृश्य को बाधित करके स्वयं भी बाधित हो जाती है— ऐसा मान्य है । लेकिन इन शैवागम शास्त्रार्थ में, आगम में, जो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारकवृत्ति है उसका बाध नहीं, विमर्श है । हाँ, अभेद है । भले उसका शिव-प्रकाश का । लेकिन उसका अनित्यता या बाध्यता या ऐसा कुछ नहीं मान्य है । इसलिए उनके यहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारकवृत्ति का बाध नहीं होता । वह बनी रहती है । किन्तु ये सब होने पर भी अन्ततोगत्वा शिव के द्वारा अपने स्वातंत्र्य का अनुभव ये ही अन्तिम चीज है, तो अन्तिम ज्ञान ही है । क्योंकि ज्ञान के बिना ही संसार है और ज्ञान से ही संसार की निवृत्ति होती है ।

ज्ञान में दीक्षा आदि उनके यहाँ मुख्य होती है । दीक्षा आदि के द्वारा क्रमेण ज्ञान का विकास होता है । अपने यहाँ श्रवणादि ही की प्रधानता है । ये सब अवान्तर भेद होने पर भी और अन्ततः पूर्णकृतार्थता ज्ञान के द्वारा उनके यहाँ भी मान्य है ।

रस ! अच्छा-अच्छा साहित्य का रस । नहीं, "रसो वै सः" उसमें भेद यह है कि वैसे तो तत्त्वतः निर्विशेष 'रस' ही मुख्य रस है । निर्विशेष रस और शुद्ध ब्रह्म एक की ही बात ठहरती है । फिर भी व्यवहार में जैसे हम आप, ज्ञान और आनन्द का भेद समझते हैं—ऐसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' और फिर 'नित्यम् विज्ञानमानन्दम् ब्रह्म' का भी तो है । वस्तुतः भले ही ज्ञान और आनन्द एक ही हो, तो भी अनुभव में हमको प्रतीत होता है कि आनन्द एक है । इसलिए उसकी आनन्द विवक्षा है, जैसे आप कल्पना कीजिए यों कि सत्यता क्या है ? ज्ञान में सत्यता । ज्ञान में सत्यता तो अत्यन्ता बाध्यता, ज्ञान की सत्यता माने आमतौर पर तत्तद् विषयों का प्रकाशक 'ज्ञान' है । घटपटादि तत्तद् विषयों का प्रकाशक ज्ञान है, क्योंकि प्रमेयाकारक 'वृत्यभिव्यक्त' चैतन्य ही प्रकाश माना जाता है और प्रमेयाकारकारक वृत्यभिव्यक्त चैतन्य फल । चैतन्यरूप उसी को कहा जाता है । अब उसी भान प्रकाश में जो अत्यन्ता बाध्यता, उसकी वही वृत्ति की सद्रूपता, तो सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म, सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म और 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' आनन्द भी वही है ।

सत्ता में ज्ञानरूपता क्या है ?

सत्ता की जो स्वप्रकाशता, अभेद्यत्व, सत्य, परोक्षता है, वह सत्ता अभेद्य होकर अपरोक्ष है । ज्ञान में जो अत्यन्ताबाध्यता है, वह है उसकी एकरूपता, पर इसमें जो "सर्वोपप्लववविर्जितता" है—यही आनन्दरूपता है । रस में इसका प्राधान्य होता है । माने तत्त्व तो एक ही है । निर्विशेष परिस्थिति पर पहुँचे, तो जैसे रसानुभूति का काव्यप्रकाशकार वर्णन करते हैं, क्या है ? किसका है ? हमारा है या दूसरे का है या तटस्थ है या सब विकल्पों से रहित है, सारे विकल्पों से रहित होने पर भी व्यवहार में आनन्दानुभूति 'रस' में ज्यादा होती है । यह सर्वोपप्लव विर्वाजितता अंश है ।

यह अपोह हुआ ? लेकिन साथ ही यह है कि अपोह में तो एक प्रकार से फिर परस्पराकांक्षा होने से परस्पराश्रयता हो जाती है । लेकिन यहाँ तो जैसे विशेषण एक वस्तु का प्रतिपादन करके और इतर का व्यावर्त्तन है, जैसे नीलम् उत्पलम् । यहाँ "नीलम्" "शुक्लम्" का व्यावर्त्तन करता है । "शुक्ल" का व्यावर्त्तन करने के पहले "नीलत्व" का विधान भी करता है । नीलत्व का विधान करके तब शुक्लत्व का व्यावर्त्तन करता है । इस दृष्टि से 'सत्यं' लोकव्यवहारप्रसिद्ध जो 'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' इत्यादि में जो अस्तित्व है, इस अस्तित्व का विधान करके और तद्भिन्न का व्यावर्त्तन करता है । इसी प्रकार, जो लोक में आनन्द प्रसिद्ध है "विषयावच्छिन्न चैतन्य" आनन्द-विशेष है । अनुकूलवृत्ति से अवच्छिन्न जो चैतन्य है, वही आनन्द है । इस लोक में जो आनन्द वस्तु प्रसिद्ध है, इसके अंश को विधान करके और तद् इतर का व्यावर्त्तन करना है । इस तरह से अपोह, केवल अपोह से ही इसमें भेद पड़ता है । प्रकाश कहो, अर्थ कहो—अब ऐसा है कि थोड़ा सा इसमें भेद यह है कि सांख्यवाले प्रकाशरूप पुरुष है—ये तो मानते हैं, आनन्द के डाँड़े नहीं जाते हैं । हाँ, लेकिन वेदान्ती तो आनन्द पर बहुत जोर देते हैं । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' आदि । इसीलिए सांख्य दृष्टि से फिर "रस" बस फिर सत्त्व-निष्ठ ठहरता है, तत्त्वनिष्ठ नहीं ठहरता और वेदान्त में जैसा है । 'रसगंगाधर' इत्यादिकों की दृष्टि से तो स्थायी उपहित चैतन्य ही रस है ।

आगम और तन्त्र के भेद

असल में आगम व तन्त्र दोनों पर्यायवाचक ही हैं । जैसे कहा कि कहीं-कहीं तो आगम पद से निगम-आगम दोनों का ग्रहण है, लेकिन जहाँ निगम को पृथक् कहा है और उसके पृथक् जब आगम का निर्देश करने लगे, तब वहाँ तन्त्र ही जाने ।

आगम की अपनी विशिष्ट साधना पद्धति का स्वरूप

यही तो ज्यादा विशेषता है । इसीलिए जो इनके यहाँ तत्त्व का निर्णय किया । तत्त्व के निर्णय के अनन्तर उस तत्त्व की प्राप्ति कैसे होगी ? क्या होगी ? इसके लिए तत्-तत् प्रकार के दीक्षाविधान हैं । दीक्षा विधान के साथ-साथ उपासनाएँ हैं । जैसे शिव की उपासना, शक्ति की उपासना । अब उनमें सूक्ष्म भी है, स्थूल भी है, सूक्ष्म तो उपासना उनकी यही है कि वृत्तिरूपी श्रुति में सारे दृश्यरूपी हवि को ले करके और अनन्त चिदग्नि मण्डल में आहुति करना । दृश्य सारा हवि है और वृत्तिरूपी श्रुति है । मुख्य उपासना तो यही है । इसलिए यह तो सब जगह चलता है । प्रायः वेदों में भी, पुराणों में भी, सब जगह चलता है । जैसे ईश्वर के तीन रूप— एक तो निर्गुण निराकार निर्विकार रूप, फिर एक सगुण निराकार रूप और फिर एक सगुण साकार रूप—तो क्रमेण पहले सगुण साकार रूप में पहले निष्ठा बने, फिर सगुण निराकार रूप में । पहले सगुण साकार में निष्ठा बने फिर सगुण निराकार में बने, फिर निर्गुण निराकार में निष्ठा बने । उसमें भी सगुण साकार में निष्ठा बनाने के पहले फिर अनेक प्रकार की जो प्रतिमाएँ या प्रतिमाओं की पूजा या चक्रों की पूजा । २४ प्रकार के चक्र बनाये जाते हैं ।

उनमें तत्तद् देवताओं का अधिष्ठान माना जाता है । फिर इतना ही क्यों, उसके तत्तद् यन्त्रों में तत्तद् देवताओं का सन्निधान मानकर और

आवाहन प्रतिष्ठापन आदि भी सब होते हैं। पर उसके आधार पर उसके साथ न्यास। न्यासों की विशेषता है और इस लिए लघु षोढा न्यास, महा-षोढा न्यास इत्यादि बड़े-बड़े विस्तृत-विस्तृत न्यास होते हैं। उनमें यह माना जाता है कि प्रकृति पुरुषात्मक सारा विश्व है और प्रकृति पुरुषात्मक ही मन्त्र हैं। उन मन्त्रों के द्वारा तत्तद् अंगों में भी तद्-तद् विशेषताएँ आविर्भूत होती हैं, जैसा कि महाभारत आख्यान है। कर्ण अर्जुन से युद्ध करना चाहता था। परन्तु कभी मुकाबले में दीर्घकाल तक ठहर नहीं पाता था। विशेषकर के कर्ण के अतिरिक्त दुर्योधन युद्ध करना चाहता था अर्जुन से, लेकिन खड़ा नहीं हो पाता था ज्यादा। थोड़ी देर में ही अर्जुन ऐसे बाण मारता था कि भयभीत होकर खिसक जाता था। एक दिन किसी प्रसंग से द्रोणाचार्य महाराज बड़े प्रसन्न हुए। कहा कि 'वरंब्रूहि' तो उन्होंने यही वरदान माँगा कि अर्जुन के सामने स्थिर होकर युद्ध करूँ। तब उन्होंने विभिन्न ढंगों से न्यास किया। न्यास में उसके अंगों को उपबृंहित करके सामर्थ्य सम्पन्न बनाया। फिर वह युद्ध करने गया और अर्जुन के साथ बड़ी देर तक लड़ता रहा। अर्जुन ने बाण मारे और वह हटा नहीं। अर्जुन ने भगवान् से कहा कि क्या बात है? रोज दो-चार बाण में भागता था, तो उन्होंने कहा कि द्रोणाचार्य ने 'न्यास' दिया है। न्यास का प्रभाव है। लेकिन इनमें नाखूनों के बीच-बीच में न्यास नहीं है। वहाँ बाण मारा, तो हटा। इस प्रकार से न्यास एक प्रकार से वज्रपंजर समझे जाते हैं, जैसे कोई 'कवच' पहनता है या पंजर अपने चारों ओर लगा देता है। जैसे वज्रपंजर होते हैं वैसे न्यासों की महिमा बहुत ज्यादा है। इसीलिए देवता की मूर्ति में भी न्यास किया जाता है और आत्मदेह में भी वह न्यास किया जाता है। दोनों प्रकार के न्यास होते हैं और इसमें भी वह जैसे कहते हैं कि 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' देव होकर के देव की पूजा करो। 'नादेवो देवमर्चयेत्'—अदेव देव की पूजा नहीं कर सकता।

तो, वेदान्त भी कहता है, "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"—ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है। इन सब दृष्टियों से ये मन्त्र जो हैं, मुख्य रूप से वैयाकरणों के अनुसार, शाक्तों के अनुसार बोध का ही परिणाम है। बोध ही का परिणाम शब्द है और शब्दों का ही परिणाम मन्त्र है। सो उनमें बोधात्मकता है। इसलिए तत्तद् मन्त्रों का तत्तद् अंगों में न्यास माने बोधात्मिक ब्रह्म का ही आधान करना है। उसमें प्राकृतता मिटा करके अप्राकृतता लानी है। ये पहले सबसे बड़ी चीज उपासनाओं में है। क्योंकि भगवान जो है मनवचनातीत है, अप्राकृत है और अलौकिक है, रसात्मक है और हमारा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार ये सब प्राकृत हैं, भौतिक हैं और लौकिक है तो इसमें जब तक अप्राकृतता नहीं आवेगी अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार में अप्राकृतता नहीं आवेगी, देह, इन्द्रिय बुद्धि, अहंकार में अप्राकृतता और अभौतिकता, अलौकिकता नहीं आवेगी, तब तक उस अलौकिक अप्राकृत रस का स्पर्श नहीं हो सकता है। क्योंकि-ग्राह्य-ग्राहक-भाव साजात्य में होता है। यह खूब जान लेना चाहिये। तभी तैजस् नेत्र से तैजस् रूप को हम देखते हैं। नेत्र से गन्ध नहीं जानते, क्योंकि उसका साजात्य नहीं है। नेत्र और रूप का तो साजात्य है—दोनों ही तैजस् हैं, लेकिन वह (गन्ध) तो पार्थिव है, इसलिए पार्थिव घ्राण से पार्थिव गन्ध का ग्रहण, आकाशीय श्रोत्र से आकाशीय शब्द का ग्रह[ण] होता है, तो साजात्य में ग्राह्य-ग्राहक-भाव होता है। भगवान् अप्राकृ[त] हैं, रसात्मक हैं, अलौकिक हैं और हमारा प्रमाण आदि सब कुछ लौकिक [है] प्राकृत है, भौतिक है, तो इससे उनका कैसे ग्रहण होगा? इसलि[ए] इसमें अप्राकृतता लानी है, अलौकिकता लानी है, अभौतिकता लानी है इन्हीं बातों के लिए भूशुद्धि, भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास ये सब कि[ए] जाते हैं। भूशुद्धि, भूतशुद्धि आदिको में पहले हमको प्राकृतिक शक्[ति] यानी, कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करना पड़ता है। मूलाधार में चतुर्द[ल] कमल, उसमें त्रिकोण, कर्णिका, कर्णिका में त्रिकोण, त्रिकोण में बिन्दु [को] वेष्टित करके स्थित होने वाली कुण्डलिनी शक्ति तो एक प्रकार से व[ह] त्रिकोण ही योनि है, वही जलहरी है और उसमें बिन्दु ही शिव और उसी को वेष्टित करके अर्थात् शिव को वेष्टित करके जैसे सर्प स्थि[त] होता है तैसे कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। और उसी को हुं बीज आ[दि] उच्चारण करके और मूलाधार, मूलबन्ध, उड्यान और जलन्धर आ[दि] बन्धों का अभ्यास करके उस कुण्डलिनी शक्ति का उत्थापन किया जा[ता] है। फिर कुण्डलिनी शक्ति 'आमूलाधारादा ब्रह्मलम्बम् लम्बितेऽम्बिन्दु नीयसीं'''विवस्वतद्भासिन स्वप्रकाशां पर:शतसुधामयूखशीतलतेजोद[य] रूपां परस्थिति भावयेत्।'

पर स्थिति ही है, सूर्य कुण्डलिनी शक्ति। कोई नाडी विशेष नहीं स्थिति है। कोटि कोटि सूर्य नारायण के समान प्रकाशवाली कोटि को[टि] चन्द्रमा के समान सुशीतल, कोटि कोटि विद्युत्पुंजपिंजर विद्युत्पुंज समान पिंजर वर्णवाली, तद्रसनिकरभस्मितकश्मलजाला, पहले उसके रस में निकर से ही जितने कश्मलजाल हैं, जन्म जन्मान्[तर] के—सब भस्मित हो जाते हैं। फिर उसके बाद में दिव्यता इ[स] आ गई, फिर बाकी जो रही उसमें पाप पुरुष का शोषण "यं यं [यं]" वायु बीज से पाप पुरुष का शोषण, "रं रं रं" से पाप पुरुष [का] दहन, फिर "यं यं यं' वायु से पाप पुरुष के भस्म का बहिर्निष्का[सन] और फिर 'लं वं रं यं हं' ये पंच भूतों के बीजों का आवर्तन क[र] प्राणायाम करते हुए पार्थिव प्रपंञ्च का पृथ्वी में प्रविलापन, पृ[थ्वी] का जल में प्रविलापन, जल का तेज में प्रविलापन, तेज का वायु [में] प्रविलापन, वायु का आकाश में प्रविलापन, आकाश [का] अहं में प्रविलापन, अहं का महान् में प्रविलापन, महान का अव्यक्[त में] प्रविलापन, अव्यक्त का अनन्त सत् में प्रविलापन। फिर क्या तदात[्म] अवस्थित होना, क्षण भर दो क्षण भर। ये फिर उसके बाद 'वं वं [वं]' अमृत बीज से पुनः महदादिक्रमेण पुनः पञ्चभूतों की उत्पत्ति, उनके [द्वारा] दिव्य देह निर्माण, दिव्य देह निर्माण के बाद फिर कुण्डलिनी शक्ति कि उसमें है, वह कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार से उठकर के अनाह[त] आकर के, वहाँ जो दीपकलिका का कार्य जीव है, उसे अपने मुख में [लेती] है और ब्रह्मरन्ध्र में जाकर ब्रह्म के साथ मिला कर स्वयं स्थित होती तब फिर जब दिव्य देह निर्माण हुआ तो कुण्डलिनी शक्ति वहाँ से [जीव] को लेकर के अनाहत में आकर जीव को स्थापित करके स्वयं मूलाधा[र] जा करके रहती है। यह तो सब भूशुद्धि, भूतशुद्धि का स्वरूप इसमें भी नाना प्रकार के सब दोष निवृत्त हो जाते हैं। और दिव[्य]

का निर्माण होता है एवं उसकी शुद्धियाँ होती हैं। फिर न्यासों के द्वारा उसकी-उसकी क्या-क्या विशेषता आती है—फिर यह सामान्यार्घ विशेषार्घ होता है। इनका भी नाना प्रकार के मन्त्रों से अभिमन्त्रण होता है। मन्त्रों से अभिमन्त्रण होने के कारण वह सामान्यार्घ विशेषार्घ भी ब्रह्मात्मक बन जाता है। जैसे मन्त्र सर्वथा ब्रह्मात्मक होते हैं, वैसे सामान्यार्घ विशेषार्घ भी ब्रह्मात्मक होते हैं। तो इनके जो प्रसक्तत्त्व, इनके बिन्दुओं का जो प्रोक्षण और इनके द्वारा भी वह होता है, कुण्डलिनी अधिष्ठित चिदग्नि मण्डल में कुछ आहुति होती है। "पुण्यं जुहोमि, पापं जुहोमि, धर्मं जुहोमि, अधर्मं जुहोमि, (अधर्मं जुहोमि) वौषट् फिर इतः परं इतः पूर्वं प्राणदेहबुद्धिधर्माधिकारतः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्‌भ्यां यत्कृतं यत् स्मृतं यदुक्तं तत् सर्वं ब्रह्मार्पणम् अस्तु" इस तरह से वह सारा कृताकृत सब का उस कुण्डलिनी अधिष्ठित चिदग्नि मण्डल में सब का होम होता है। इस प्रकार से शुद्धि की बड़ी विशेषता बनती है और इस मार्ग में जितनी शुद्धि की विशेषता बनती है उतना और कहीं बनती ही नहीं, और कोई विधान ही नहीं है हालांकि वहाँ भी—

"महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः"।

ब्राह्मी तनु माने ब्रह्मप्राप्त्यर्थ तनु वह महायज्ञों और यज्ञों के द्वारा। वो भी सब संस्कार ही है। संस्कारों के जैसे मलापनयन, और अतिशयाधान ये सब संस्कार की विशेषता होती है। ये सब यज्ञ यागादिकों में भी मलापनयन और अतिशयाधान के द्वारा दिव्यता लायी जाती है। ब्राह्मी तनु बनायी जाती है तभी वो विशेषता आती है। इस तरह से 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्' देव होकर देव की पूजा करता है। इन सब मार्गों से और ये फिर बाह्य पूजा भी, अर्चा भी, जप भी, धारणायें भी, भावनायें भी और उस प्रकार का वातावरण भी उन सबके द्वारा वही दिव्यता लाने के बाद फिर वह सरलता से सगुण निराकार ब्रह्म या निर्गुण सगुण या निर्गुण निराकार ब्रह्म समझ में आता है और तब निष्ठा आदि फिर सब कुछ खत्म हो जाती है। अन्त में तो 'आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि। ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि। अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि। अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा।' ये सब बड़ी विशेषतायें हैं।

पंच-मकार का विधान

मतलब यह है कि असल में उसका ज्यादा विस्तार न होना अच्छा है। क्योंकि उस प्रकार के साधक अब संसार में हैं नहीं। इसलिए उन बातों का विस्तार होने से उसका दुरुपयोग ही होता है। लोगों की निष्ठा तो बनती नहीं, पंचमकार के प्रयोग में रस आस्वादन और प्रत्यक्ष लौकिक रसास्वादन की तो वृत्ति होती है। ये सब गड़बड़ी होती है।

मोटी-मोटी बात इतना समझ लें कि कई जगह मन्दिरों में अश्लील चित्र बहुत-से हैं, पर वे अश्लील चित्र बाहर-बाहर हैं, भीतर नहीं। इसका मतलब यह है कि यह सारा प्रपञ्च जो है संसार का, बहिरङ्ग है। संसार में यह सब उपद्रव है। भीतर मन्दिर में बैठ जाओ, तो कुछ नहीं। खजुराहो में बाहर-बाहर है, भीतर नहीं।

इसका मतलब है यह सारा उपद्रव बाह्य जगत् में है। जो बाह्य जगत् में हैं उसके लिए जो-जो बातें हैं, सब ठीक है। जो अन्तर्मुख हो गया वह इन सब उपद्रवों से रहित होकरके विशुद्ध ब्रह्मात्मभाव में स्थित हो सकता है। एक बात यह भी होती है कि हमारे यहाँ एक परिसंख्या की दृष्टि होती है। प्रायः भागवत आदिवाले परिसंख्या की चर्चा बहुत करते हैं।

"लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यार्थजन्तोर्न हि तत्र चोदना।" जो लोक में व्यवाय है, आमिष है और मद्य है, इन सबकी सेवा नित्य रागप्राप्त है। बिना विधि के ही हरेक पशु, पक्षि, कीट, पतंग इन सबमें स्वाभाविक रूप से होता है। इसलिए 'न हि तत्र चोदना' माने कोई विधान नहीं होता तो फिर क्या, विधान तो है ?

"अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" और साथ ही साथ 'हुतशेषं भक्षयेत्' तो इसमें सब कुछ आ जाता है तो उसपर इसी प्रकार ये भी है कि 'घोरायां भ्रूणहत्यायां' जो ऋतुकाल में भार्यानुगमन नहीं करता, घोर भ्रूणहत्या के पाप से लिप्त होना है। ये सब ऐसी बातें भी शास्त्रों में मिलती हैं जो इस पर बताया कि ये नियम है कि तीनों विधियों के स्वरूप हैं, तो 'विधिरत्यन्तमप्राप्तः" अत्यंत अप्राप्ति हो, तो वह अपूर्व विधि कहलाती है। जैसे 'अग्निहोत्रम् जुहुयात्' अग्निहोत्र होम प्राप्त नहीं होता है। किसी को भी प्रत्यक्षानुमान आदि प्रमाणों के द्वारा वही अपूर्वविधि कहलाती है। किन्तु 'व्रीहीन् अवहन्यात्' 'व्रीहीभिर्यजेत्' 'यवैर्वा यजेत्' ये वचन हैं, जो इससे व्रीहि जव आदि को को याग का हेतु का विधि किया तो याग हेतुता उस पुरोड़ाश प्रकृतित्व के द्वारा ही वह याग में हेतुता बन सकती है व्रीहि जव पुरोड़ाश का प्रकृति बनें तभी याग का अंग बन सकता है। सीधे व्रीहि जव का होम कहीं भी विधान नहीं है। पुरोडाश का प्रकृतितान्यथानुपपत्ति पुरोड़ाश का प्रकृतित्व बिना तण्डुलनिष्पत्ति के सम्भव नहीं है। तण्डुलनिष्पत्ति हो, तब व्रीहि पुरोड़ाश प्रकृति बनें। इसलिए पुरोड़ाशप्रकृतित्वान्य शानुपपत्या तण्डुलनिष्पत्ति प्राप्ति है। उस तण्डुलनिष्पत्ति के लिए नखविदलनादि और अवघात आदि कई चीजें प्राप्त होती हैं। उनमें फिर जो "पक्षान्तराप्राप्ति फल को विधिः नियम विधिः" पक्षान्तर में अप्राप्त को करने वाली जो विधि होती है उसको नियम विधि कहते हैं तो अवघात से भी। तण्डुलनिष्पत्ति प्राप्त है, नखविदलनादि से भी, तण्डुलनिष्पत्ति प्राप्त है। तो पाक्षिक प्राप्ति है एक पक्ष में अवघात अप्राप्त है। उस पक्षान्तराप्राप्त को प्राप्ति कराने वाला जो विधि है वह नियम विधि है। नियमविधि कहती है कि 'अवघातेनैव तण्डुलनिष्पत्तिं कुर्यात्, न तु नखविदलनादिना' तो वहाँ भी निषेध आया। लेकिन शुद्ध-शुद्ध सीधा (उक्त) नियम के द्वारा निषेध में पर्यवसान है। पक्षान्तराप्राप्त-प्राप्ति उसका मुख्य फल है, निवृत्ति गौण है। जो परिसंख्या विधि है, परिसंख्या का यह नियम है कि "तत्र चा प्राप्तो" जहाँ नित्य ही अनेक में प्राप्ति है "एकस्मिन् शेषिणि अनेकेषां शेषाणां (और) एकस्य शेषस्य अनेकेषु (या) शेषेषु नित्यप्राप्तौ शेषान्तरस्य शेष्यन्तरस्य वा निवृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः' यह परिसंख्या विधि होती है। जहाँ पर एक शेष का अनेक शेषी में प्राप्ति हो या एक शेषी में अनेक शेषों की प्राप्ति हो वहाँ शेषान्तर और शेष्यन्तर की निवृत्ति ही उसका फल है। क्योंकि पक्षान्तर है नहीं इस लिए पक्षान्तराप्राप्ति यहाँ फल है नहीं। इसलिए

यहाँ पर इतर निवृत्ति हो फल है। लेकिन इतरनिवृत्ति में कई दोष आते हैं। एक तो दृष्टार्थता, जो उसका अर्थ है वाक्य का प्रत्यक्षसिद्ध उसको छोड़कर के अर्थान्तर की परिकल्पना। जैसे मान लिया कि—'ईमामगृम्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' और 'आज्यभागौ यजति' ये दो वस्तु हैं। तो, 'गृहमेधीयेष्टि' चातुर्मास्य आदिकों का विकृति है। तो 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' इस न्याय से फिर प्रकृतिवत् विकृति का अनुष्ठान करना। इस न्याय से प्रकृति के जितने 'प्रयाज, अनुयाज, आज्यभाग सब प्राप्त हैं। फिर भी 'आज्यभागौ यजति' यह वचनविशेष है गृहमेधी-येष्टि का। जब प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' से अनेक प्राप्त ही है तो फिर आज्यभागौ यजति' का विधान इतर की निवृत्ति में ही पर्यवसित होता है। माने प्रायाजादिकों का अनुष्ठान यहाँ नहीं होगा, यहाँ केवल आज्यभाग याग ही होगा। और कुछ नहीं होगा। तो वहाँ पर आज्यभाग का अनुष्ठान होता है।

इसी प्रकार से 'इमामगृम्णन्' यह मन्त्र है। इस मन्त्र में रशना प्रकाशन सामर्थ्य है। लिङ्गबलात् अश्वरशनाग्रहण और गर्दभरशनाग्रहण —दो रशनाग्रहण प्राप्त है। दोनों रशनाग्रहण का यह मन्त्र अङ्ग हो सकता है। इस मन्त्र के द्वारा अश्वरशना का ग्रहण करे और गर्दभ रशना का ग्रहण करे—दोनों नित्य प्राप्त है। उसमें 'अश्वाभिधानीमादत्ते' से इतर की निवृत्ति हुई। इस तरह से निवृत्ति ही जहाँ प्रत्यक्ष फल है, उसको परिसंख्या कहते हैं, पर इसमें यह होता है कि 'अश्वाभिधानीमादत्ते' का सीधा अर्थ है अश्वाभिधानी रशना को ग्रहण करे। इसका यह अर्थ न करके अर्थ करते हैं कि 'गर्दभरशनां न गृह्णीयात्'। इसलिए प्रत्यक्ष— अर्थ का अपलाप करके अर्थान्तर कल्पना। और यह दोष। दूसरी बात इसमें दूसरा दोष यह है—'प्राप्तस्य परित्यागः, अप्राप्तस्य प्राप्तिः' तो इन सब दोषों को वारण करने के लिए सीधे परिसंख्या नहीं मानी जाती। सीधे परिसंख्या न मानकर प्राप्यमाण की अपूर्व विधि। लिङ्गबलात् जिसकी प्राप्ति होने ही वाली है उसकी अपूर्वविधि। अपूर्वविधि की प्राप्ति व्यर्थ है क्योंकि आगे प्राप्ति होनेवाली है लिङ्ग द्वारा। इस अप्राप्तप्राप्ति का वैयर्थ्यापत्ति से इसका अर्थ निकलता है इतर की निवृत्ति। फिर इस दृष्टि से निष्कर्ष यह हुआ कि परिसंख्या—जहाँ कहीं ऐसी विधियाँ हैं, राग प्राप्त में जो विधान है, वह परिसंख्या है। परिसंख्या का अर्थ है कि इतरनिवृत्ति। जैसे कोई अगिनत बार हुक्का पीता है, कहते हैं—सौ बार पियो। सौ बार पीने का मतलब—सौ बार से अधिक मत पियो। सौ बार पीने में विधान नहीं है। सौ से अधिक मत पियो। आगे निन्यानबे करो, अट्ठानबे करो, एक करो। एक को भी छोड़ दो। इसमें तात्पर्य है। यह परिसंख्या का अर्थ है। लेकिन हम देखते हैं कि वेदों में जहाँ परिसंख्या आती है, परिसंख्या में अवश्यानुष्ठेयता होती है। अनुष्ठेयता आवश्यक है। जैसे 'आज्यभाग' का अनुष्ठान किया ही जाता है और इसी प्रकार 'अश्वरशना' का ग्रहण किया ही जाता है, तो अवश्यानुष्ठेयता है। तो इस प्रकार से अवश्यानुष्ठेयता होगी। तब तो यह सब 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' जैसे 'भार्यामेव' और 'ऋतावेव', ऐसा ही 'उपगच्छेदेव', ये नियम चल सकता है। तो इस सम्बन्ध में एक विचार किया, हमें इसमें देखना है कि जो प्राप्ति है वह कैसी है—एक तो शाश्वतिक प्राप्ति और एक अशाश्वत्तिक प्राप्ति। रागादि तो शाश्वत नहीं हैं। वैदिक विधि तो शाश्वत है। तो वैदिक विधि की परि-संख्या में शाश्वतत्व है। वहाँ तो अवश्यानुष्ठेयता है। लेकिन राग तो शाश्वत नहीं है। किसी आदमी को कभी एक तो हर आदमी में राग नहीं है। किसी आदमी में राग है, किसी में नहीं है। और आज जिसमें राग है, कल उसमें राग नहीं रह सकता। इसलिए जहाँ परिसंख्या का प्रापक अशाश्वत है वहाँ अवश्यानुष्ठेयत्व है। भाई, यह विचार तत्त्व है।

दूसरा इस रूप में भी कर लेते हैं कि ये वैदिक वेद नित्य होने के कारण वो तो प्राप्ति शाश्वत है और रागादि शाश्वत न होने के कारण वह ऐसा है। इस तरह से इसका मतलब यह निकला कि किसी को भी, जिसको राग है, तो राग दशा में दोष आदि वशात् जो भार्या का परित्याग है, यह दोष है। इसलिये अवश्यानुष्ठेयता वहाँ है। 'रागे सति अवश्यानु-ष्ठेयता' परन्तु अगर राग को श्रवणादि द्वारा दूर कर सके तो अवश्यानु-ष्ठेयत्व बाधित हो जाता है। ये सब इसके सम्बन्ध में उत्तर हैं।

निगम-आगम का सामञ्जस्य

इस लोकहृदय में इसीलिए हमलोगों के यहाँ ये पुराणों में कई तो निगम मूलक चीज हैं, कई आगम मूलक ही हैं। उसकी व्यवस्था यह है कि निगमाविरुद्ध आगम मूलक जो व्यवस्था है, वह तो ठीक चलती है, कहीं निगमविरुद्ध आगम मूलक जो व्यवस्था है, वह तो फिर ग्राह्य नहीं है। यह तो है कि निगमाविरुद्ध आगममूलक व्यवस्था के द्वारा काम चलाया जा सकता है। सब जगह। लेकिन उसमें निगमविरुद्ध भी कई चीजें हो सकती हैं जैसे इसी दृष्टि को लेकर पंचमकारादि सबके लिए निषिद्ध है। इसलिए उसके सम्बन्ध में निगमाविरुद्ध जो आगम है, वही परमादरणीय है। इन सबमें वही लग जायगा—'विरोधेषु अनपेक्षं त्याज्यमस्ति 'अभिमानस्य' जैसा कि स्मृतियों में लगता है। विरोध हो तो अनपेक्षित अर्थात् प्रत्यक्षश्रुति का विरोध हो तो स्मार्तवचन का, तो वो स्मार्तवचन अनादरणीय है। जैसे वचन है 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' ये कल्प का वचन है। कल्प में सम्पूर्ण औदुम्बरी का, मस्तिष्क से ऊपर से नीचे तक का वेष्टन। तो अब यह इससे विरुद्ध है कि 'औदुम्बरी स्पृष्ट्वा उद्गायति' औदुम्बरी का स्पर्श करके उद्गायन करे। यह प्रत्यक्ष श्रुति विरुद्ध होने के कारण यह स्मृति अनादरणीय है। इसलिए इतना वेष्टन करे जिससे कि स्पर्श का बाध न हो। इसलिए 'विरोधेष्वनपेक्षं त्याज्यं हेतु दर्शनाच्च'। एक और विशेषता है—हेतुदर्शनाच्च। हेतुदर्शनाच्च मा- लोभमूलक ही यह स्मृति है। क्योंकि लोभवशात् 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' यह स्मृति हो सकती है। इस दृष्टि से आप कह सकते कि आगम में तो यह दोष नहीं हो सकता है। क्योंकि जीव में भ्रम, प्रमाद विप्रलिप्सा, करणापाटव आदिक दूषण हो सकते हैं। पर ईश्वर में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदिक दूषण नहीं हो सकते। इसलिए ईश्वर का जो आगम है उसमें ऐसा कोई डर नहीं है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि। इसलिए उसका बाध न हो। पर, नहीं, ईश्वर में भी हम देखते हैं कि कुछ होता है। जैसे कि ईश्वर में भी भ्रम की संभावना होती है। जिनमें एक उदाहरण ज्ञान में दिया ग

है तो इस तरह से ईश्वर के भी भ्रम की संभावना होती है। इसलिए निगमवाले पक्का निगम को कहते हैं कि—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै"। ब्रह्मा को बनाने वाला भी वेद को बनाता नहीं, किन्तु वेद को ब्रह्मा के हृदय में प्रेषित करता है। प्रेषण तो विद्यमान का ही प्रेषण हो सकता है। जो विद्यमान है उसी का प्रेषण होगा। इस तरह से तो ब्रह्मा को बनानेवाला भी वेदों का निर्माण नहीं करता, किन्तु विद्यमान वेदों का प्रेषण करता है ब्रह्मा के हृदय में। इस दृष्टि से ही वेदों से वेदों का भी आविर्भाव ईश्वर से वैदिक भी मानते हैं। क्योंकि अगर ऐसा न मानेंगे तो उन भिन्न-निमित्तोपादानकत्व नहीं बनेगा। एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि एक विज्ञान से सर्व विज्ञान तभी होगा जबकि एक से अतिरिक्त सब उसका कार्य हो। एकातिरिक्त सब उसका कार्य हो, तब तो एक के विज्ञान से सर्वका विज्ञान हो जायगा। और अगर कोई कार्य नहीं है उस एक का, तो एक के विज्ञान से भी जो कार्य नहीं है उसका, विज्ञान नहीं बनेगा। इसलिए वेद को भी ईश्वर का कार्य कहते हैं। वेद ईश्वर का कार्य है। ईश्वर का कार्य होने पर भी पौरुषेय नहीं है। ईश्वरका कार्य है पर पौरुषेय नहीं है। पौरुषेय इसलिए नहीं है कि पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषों से शून्य है? क्यों शून्य है? इसलिए कि ईश्वर की बुद्धि से निर्माण नहीं है। ईश्वर से आविर्भाव होने पर भी ईश्वर की बुद्धि से उसका निर्माण नहीं है। क्यों? तो इसीलिए कि "निःश्वास-निःश्वास न्याय" से इसे समझना चाहिए। इसीलिए 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसित-मेतत् यत्' निःश्वसित जो कहा वह इसी गर्भ से निश्वसित कहा कि निःश्वास अकृत्रिम होता है। यानी बुद्धि-प्रयत्न-निरपेक्ष होता है। क्योंकि सुषुप्ति में बुद्धि भी नहीं, प्रयत्न भी नहीं, फिर भी श्वास चलता है। असावधान दशा में बुद्धि भी काम नहीं करती, प्रयास भी नहीं चलता। फिर भी श्वास चलता है, तो जैसे बुद्धि प्रयत्नानपेक्ष निःश्वास है, ऐसे ईश्वर से वेद का आविर्भाव होता है, तो भी ईश्वर की बुद्धि से और ईश्वर के प्रयत्न से उसका निर्माण नहीं होता। इसलिए निःश्वसितत्व उसमें संगत होता है। तभी अपौरुषेयता और वह भ्रम, प्रमाद, आदि दूषणों से या छल बल आदि किन्हीं दूषणों से दूषित नहीं होता है। किन्तु जहाँ जहाँ इतनी अपौरुषेयता पर आग्रह नहीं है वहाँ तो ईश्वर की बुद्धि खर्च हो सकती है। तब तो फिर ईश्वर की बुद्धि में छल हो सकता है? इसलिए छल की शंका हो सकती है। इसीलिए इन सब बातों को देखते हुए कहते हैं कि निगमाविरुद्ध आगम का ही अव्याहत प्रामाण्य है। निगम-विरुद्ध आगम को तो उनके अनुकूल गुण लगाना है। यद्यपि नहीं करना है, तब भी निगमविरुद्ध आगम को निगमानुकूल बनाना है। निगमन-केनुकूल उसका अर्थ कर लें।

आगम में पीठतत्त्व का महत्त्व

अब पीठ माने ऐसा क्या है? वह तो, किसी भी उपासना के लिए जो उपासनाएँ होती हैं, किसी भी देवता की आराधना के पहले यन्त्रादि जहाँ होंगे, वहाँ उसके पहले पीठ ही होगा। पीठ पर ही यन्त्र की स्थापना होगी। इसलिए पहले उसकी पूजा होती है। इसलिए वो सब उसका महत्त्व है। फिर इन सब में इसीलिए माना जाता है जैसे कि पार्थिवत्वेन रूपेण मिट्टी और हीरा दोनों एक ही है। पार्थिव दोनों है परन्तु विशेषता हीरा की है। ऐसे प्राकृत प्राकृत दृष्टि से सारा संसार प्राकृत ही है। तो भी सत्त्व की विशेषता है तो कहीं रज की विशेषता है, कहीं तम की विशेषता है तो कहीं हम प्रयास से तम-रज को अपकृष्ट करके सत्त्व का प्राधान्य बनाते हैं और कहीं स्वाभाविक रूप से सत्त्व का प्राधान्य होता है। इसीलिए पीठों का महत्त्व जहाँ सत्त्व का विशेष प्राधान्य है जैसे कि तत्तद् हेतुओं से जैसे भगवती के ५१ पीठ हैं तो वे भगवती के अङ्ग ही। भगवती का अंग तो दिव्य ही है। उस अंग का जहाँ सम्पर्क हुआ उस स्थान में विशेषता आ गयी। सत्त्व का प्राधान्य हो गया। इसी प्रकार से ज्ञान दिव्य देश होते हैं वैष्णवों के यहाँ। दिव्य देश और जहाँ विशेषता होती है, तो कई विशेषताएँ तो कृत्रिम हैं, कई विशेष-ताएँ अकृत्रिम हैं, कई विशेषताएँ बहुत प्राचीन काल से हैं। जैसे सुनते हैं कि श्रवण कुमार अपने माता-पिता को लिए हुए मेरठ आये। मेरठ आते ही उसको बुद्धि हुई कि आपको हम कन्धे पर लादे लादे घूम रहे हैं तो क्यों, क्या फायदा? क्या दोगे हमको आप? बड़ा आश्चर्य हुआ खड़ी हुई औरतों को। उसका उल्लंघन कर दिया। तब उन्होंने कहा कि 'हाय राम' क्या कहा? तब साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। तो उन्होंने समझा की यह स्थान की विशेषता है।

वह स्थान जहाँ कोई बड़े तामस्–राजस् व्यक्ति बहुत अनाचार, दुराचार, पापाचार से प्रभावित होकर जिस स्थान में रहे उनके भावों से प्रभावित हो गये, वहाँ ऐसे स्वार्थपरायणता से ज्यादा प्रकाश्य नहीं। एक जगह लक्ष्मण जी का भी ऐसा लिखा है पुराणों में। लक्ष्मणजी एक बार रोष में आ गये और एकदम अलग हो गये, पृथक् हो गये और मन में दुर्भावनायें उठीं; तो जब उस स्थान को अतिक्रमण किया तब वह जाकर साष्टांग दण्डवत् किया। तब राम ने कहा कि भाई यह तुम्हारा दोष नहीं है। यह कोई चाहें जिस किसी ऋषि महर्षि से चलो जाकर पूछें। तब ऋषि-महर्षियों से जाकर पूछा और कहा कि ऐसी-ऐसी घटना लक्ष्मण के ऊपर घटी, सुमित्रा ने उपदेश किया था—"राग रोष इरिषा मद मोहूँ। जनि संपनेहुँ इनके वस होहूँ॥ सकल प्रकार विकार विहाई। मन क्रम वचन करेउ सेवकाई॥"

ये सब उपदेश करने पर भी ऐसी बात हुई है तो कहा कि नहीं, ऋषियों ने बतलाया कि अमुक-अमुक दैत्य अमुक-अमुक दानव अमुक-अमुक अनाचार पापाचार से युक्त होकर वहाँ रहे, उनके प्रभाव से प्रभावित भूमि थी, उस भूमि का प्रभाव इस संस्कार का प्रभाव इस पर पड़ा था, इसका दोष नहीं है।

इस तरह से कई जगह इस तरह से भी वह होता है। फिर भी तत्तद् देश तत्तत्काल तत्तद्देवता के आविर्भाव का विशेष स्थान होता है। जैसे कि रामनवमी में विशेष करके रामतत्त्व का प्रादुर्भाव, कृष्णाष्टमी में कृष्णतत्त्व का प्रादुर्भाव, शिवरात्रि में शिवतत्त्व का विशेष प्रादुर्भाव यह फलबलकल्प्य है। 'श्रुतार्थापत्ति' प्रमाण के द्वारा। 'श्रुतार्थापत्ति' प्रमाण द्वारा फलबलकल्प्य विशेषता माननी चाहिये। जैसे

भगवती सच्चिदानन्दरूपा हैं

ऊर्ध्वाम्नायश्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वरजगद्गुरुशङ्कराचार्य
अनन्तश्रीविभूषितस्वामीश्रीशङ्करानन्दसरस्वतीजीमहाराज

भारतीय संस्कृत वाङ्मय में तन्त्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान एवं विशाल ग्रन्थभण्डार है। शैव-वैष्णव-गाणपत-बौद्ध-जैनादि सभी विचार धाराओं के तन्त्र ग्रन्थ मिलते हैं। समस्त आस्तिक दर्शन अपने अपने ढंग से मुमुक्षु को कैवल्य या निर्वाण पथ का ज्ञान कराते हैं। तन्त्रों का भी अपना विशिष्ट दर्शन है, मोक्ष प्राप्ति का अपना विशिष्ट मार्ग है। तन्त्रालोकादि ग्रन्थों के अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि वास्तव में यह मार्ग भुक्ति मुक्ति उभय का साधन है। तान्त्रिक सिद्धान्त में शक्ति ही परम तत्त्व है। उसी से अखिल विश्व की उत्पत्ति होती है। उसी में उसकी स्थिति तथा लय है। 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतौ।' अर्थात् चितिशक्ति ही विश्व की उत्पत्ति-स्थिति एवं लय कृत्य में स्वतन्त्र है। साधारणतया लोग शक्ति को जड़ मानते हैं परन्तु तन्त्रों के अनुसार शक्ति सत् चित् एवं आनन्द रूपा है। बड़वानल तन्त्र में कहा है—"एकैवाद्या जगत्सूतिः सच्चिदानन्द विग्रहा" अर्थात् जगदुत्पत्ति का कारण सत् चित् आनन्दस्वरूपा आद्या शक्ति एक ही है। ऋग्वेद के द्वारा उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि
अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रा वरुणोभा बिभर्मि
अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥—(ऋ. १०-१२५-१)

शक्ति भगवती कहती हैं कि मैं ही रुद्रादिरूप से तत्तत्कार्यों को करती हूँ। उपर्युक्त ऋग्वेदीय समस्त सूक्त शक्ति को ही परम तत्त्व एवं सर्वात्मक रूप से वर्णन करता है। मारकण्डेय पुराण में ब्रह्मा देवी की स्तुति करते हुए कहते हैं—

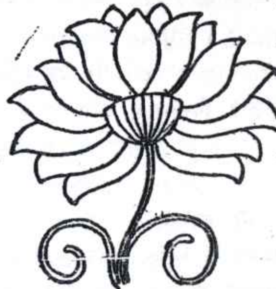
त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥

हे देवि! समस्त जगत् का सर्जन तुम्हीं करती हो, तुम्हीं धारण एवं पालन करती हो, तुम्ही प्रलय काल में समस्त जगत् का भक्षण या लय करती हो। महानिर्वाण तन्त्र में भगवान् शिव कहते हैं—हे देवि! तुम्हीं सर्वविद्याओं की आद्या हो और हम सबकी (ब्रह्मा-विष्णु-शिव की) जननी हो—

"त्वमाद्या सर्वविद्यानामस्माकमपि जन्मभूः"।

इस प्रकार भारतीय निगमागम वाङ्मय में भगवती महादेवी सच्चिदानन्दरूपा एवं सर्वात्मक हैं—यह सुस्पष्ट है। ब्रह्मादि की प्रसवित्री भुक्ति-मुक्ति पुरुषार्थ प्रदायिनी महामहिम शालिनी भगवती चिच्छक्ति ही वस्तुतः आराध्या एवं उपास्या है। शक्ति के बिना सब अशक्त है अतः उसकी आराधना समस्त देव ऋषि आचार्य आदि करते थे। वर्तमान में हम सब को उसकी आराधना उपासना आदि करनी चाहिए। तन्त्र ग्रन्थों में भगवती की उपासना तथा दशमहाविद्याओं का (कादि हादि आदि का) वर्णन उपलब्ध होता है। हम आशा करते हैं समस्त आस्तिक जगत् पुनः अपने प्राचीन भारत की गौरवमय इतिहास को स्मृतिपटल में रखकर भगवती की आराधना के लिए तत्पर होगा तथा तन्त्र-साहित्य के ज्ञान के द्वारा भ्रान्ति एवं अविवेक पूर्ण पथ का त्याग कर वशिष्ठ, दत्तात्रेय, बृहस्पति, दुर्वासा प्रभृति शक्ति उपासकों के पथ का अनुसरण करेगा।

धर्म सम्राट् यति चक्रचूडामणि स्वामी करपात्री जी महाराज निगमागम पारङ्गत हैं उनके द्वारा श्रीविद्या सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार प्रचार जो हो रहा है उससे भारतवासी आलोक प्राप्त कर पुनः धर्मपथ पर आरूढ़ हों। श्रीमहाराज जी इसी प्रकार अनन्तकाल तक हम सबको प्रकाश देते रहें, यही जगदम्बा से हमारी कामना है। ●



॥ श्रीहरिः ॥

आगमः पञ्चमो वेदः

स्वामी नन्दनन्दनानन्द सरस्वती

षोडशानन्दनाथात्मा ज्ञानाम्बाश्लेषसंप्लुतः ।
कृपया तनुतां मह्यं षोडशीं संविदं पराम् ॥

'आगमः पञ्चमो वेदः कौलस्तु पञ्चमाश्रमः' महर्षिहारीत के इस वचनानुसार 'आगम' का महत्व वेद के समकक्ष माना गया है। किन्हीं आगमविदों ने आगम को श्रुति ही कहा है। इन के अनुसार 'श्रुतिस्तु द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी चेति'। ऐसे ही कौल को पञ्चम आश्रम कहा गया है, उसकी उपासना-चर्या पद्धति तथा दर्शन भी चार आश्रमों से प्रायः विलक्षण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जैसे 'अनन्ता वै वेदाः" के सिद्धान्त से सूर्यमंडल अथवा ब्रह्मलोक में अनन्त वेद हैं, वैसे ही आगम साहित्य भी प्रायः अनन्त है। इसमें एक विशिष्ट बात यही है कि विश्व की किसी भी दूसरी जाति अथवा सम्प्रदाय के धार्मिक साहित्य में आगम कोटि का साहित्य उपलब्ध नहीं है। आगम ग्रन्थों का रचयिता भी कोई मानव नहीं है। इन सबका दिव्यलोकोत्तर समुद्भव है। आदिनाथ शङ्कर हों अथवा आदिकर्ता नारायण हों दोनों आगम शास्त्र के आदिकर्ता, उपदेष्टा तथा व्याख्याता हैं। गुरु शिष्य परम्परा से अविच्छिन्न धारा रूप में प्रवाहित यह धारा भी इसी कारण से कहीं कहीं श्रुतिरूप से कही गयी है।

आगमशास्त्र का ही दूसरा नाम तन्त्र शास्त्र प्रतीत होता है। अनादि काल से गुरुशिष्य परम्परानुसार समागत होने से इसे आगम संज्ञा दी गयी है। वैसे ही वेद को 'निगम' संज्ञा दी गई है। कहीं कहीं आगम की दुर्ज्ञेयता के कारण, उनके 'तनन' अर्थात् विस्तार के लिये 'तन्त्र' की प्रवृति मानी गयी है। 'शारदातिलक के अनुसार'—

'आगतं शिव-वक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
तदागम इतिप्रोक्तं शास्त्रं परमपावनम् ॥

इस रूप से परम करुणामय परमशिव जीवों के कल्याण सम्पादनार्थ —

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥

प्रकाशात्मा सदाशिव अपनी विमर्शशक्तिसंवित् को शिष्य बना कर इस शास्त्र का अवतरण करते हैं। कहीं पाठान्तर में द्वितीय पद में 'मतञ्च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते' वैष्णवागमों में सर्वत्र आदिकर्ता नारायण माने गये हैं। इससे आगम के मुख्यतया दो भेद 'शैवागम और वैष्णवागम' रूप से हैं। शैवागम के अन्तर्गत अथवा तत्समकक्ष 'शाक्तागम' है। बहुरूपाष्टक वामकेश्वर तन्त्र, नित्याषोडशिकार्णव आदि शाक्तागमों में शक्ति की उपासना तथा शक्ति तत्त्व का विस्तृत विवेचन तथा उपासना के विविध प्रकार वर्णित हैं। जिस प्रकार वेदानुयायी हिन्दू धर्म एवं सिद्धान्तानुसार शैव, शाक्त और वैष्णव आगम हैं वैसे ही हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत परन्तु वैदिक परम्परा से बाहर भी आगम की दो भिन्न धाराएँ प्रचलित हैं जिन्हें 'बौद्ध आगम और जैन आगम' कहा गया है। इन सब में भी तत्त्व और उपासनाओं के भेद बौद्ध और जैन सिद्धान्तों के अनुसार दिये गये हैं। इसी प्रकार सिद्ध अथवा नाथ सप्रदाय द्वारा रचित ग्रन्थ भी कुछ महानुभाव बौद्ध सिद्धान्त से प्रभावित मानते हैं। परन्तु गोरक्ष, मत्स्येन्द्र आदि महायोगीन्द्र सभी वैदिक परम्परा तथा वैदिक योगमार्ग के अनुयायी होने के कारण वे सभी 'हिन्दू आगम' परिधि के अन्तर्गत हैं।

भारत में अंग्रेजों के शासन के साथ पाश्चात्य तथा विशेषतः यूरोप महाद्वीप के विद्वानों ने संस्कृत साहित्य तथा हिन्दू वैदिक और वेदानुसारी धार्मिक ग्रन्थों का व्यापक अध्ययन किया। आगम एवं तन्त्र का क्षेत्र प्रायः अस्पृष्ट रहा। लोग तन्त्र मार्ग को अधिकतर मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि जादूगरी का क्षेत्र और अश्लीलतापूर्ण मानते थे। कलकत्ता हाईकोर्ट के जस्टिस जॉन वुडरफ ने इस ओर कौतूहल से दृष्टिपात किया और तदनन्तर गम्भीर अनुसन्धान भी किया। जस्टिस वुडरफ ने काश्मीर जाकर आगम की काश्मीर धारा, शैवागमों का विशेष परिचय लिया। कलकत्ता में रहकर बङ्ग प्रदेश के तान्त्रिकों से भी इसके गाम्भीर्य के अवगाहन का प्रयास किया। इसी प्रकार आगम की तृतीय धारा जो केरल में प्रवाहित हुई उसने काश्मीर धारा को प्रभावित भी किया तथा स्वयं भी उससे प्रभावित हुई। शैवागम की प्रमुख धारा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के रूप में प्रसिद्ध हुआ। आद्य शङ्कराचार्य भगवत्पाद विरचित 'प्रपञ्चसार' तन्त्र शास्त्र का एक प्रमुख व्याख्या ग्रन्थ है। अभिनव गुप्ताचार्य का तन्त्रालोक भी आगम मार्ग पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। परवर्ति काश्मीर साहित्य में प्रायः पूर्णाहन्ता पूर्ण प्रभामय सदाशिव ही जगत्, पशु, पशुपति रूप में से अभिव्यक्त होते है। यह जीव (पशु) अपने पूर्ण प्रकाशात्मा शिवस्वरूप का ज्ञान प्राप्तकर, अपने को देहादि अनित्य भाव से असम्पृक्त सच्चिदानन्दघन शिवरूप में पहिचान लेता है। कामकला विलास में इस अलौकिक प्रत्यभिज्ञा का चित्रण प्राप्त होता है। यह परवर्ति साहित्यप्रायः प्राचीन दैवी आगम ग्रन्थों की व्याख्या करते हैं। इनके प्रामाण्य का आधार भी मूल आगम एवं तन्त्र ग्रन्थ हैं।

शैव तथा वैष्णव आगमों में परमशिव और नारायण को परम आप्त-मानकर ही आप्तवाक्य के रूप में इनका प्रामाण्यमाना गया है। प्रकाशात्मा परमशिव सदृश दूसरा आप्त सम्भव नहीं है, उनका वचन सदा सत्य और निश्रेयस् का द्योतक है। तथा जीवमात्र पर कृपापरवशने स्वयं 'गुरुशिष्य-पदे स्थित्वा' गुरु और शिष्यरूप से स्थित होकर अपनी ही विमर्शशक्ति 'शिवा' के पूर्वपक्ष के उत्तर रूप में आगम एवं तन्त्र शास्त्र का अवतरण और विस्तार किया। आद्यभगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य महाराजने

'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनम्' इस श्लोक में असिताङ्ग, रुद्र, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, कपालि, भीषण तथा संहार इन आठ भैरवों द्वारा प्रवर्तित चौंसठ तन्त्रों का प्रादुर्भाव आचार्य भगवत्पाद ने बताया है। इनके अनन्तर ही आचार्यपादने

"स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्"

महाशक्ति ललिता महात्रिपुर सुन्दरी के समस्त पुरुषार्थों के एकमात्र साधन पञ्चषष्ठितमतन्त्र का अवतरण बतलाया। इन सबका विस्तृत विवरण अनेक पुस्तकों का विषय है। त्रैपुर तन्त्र भी वाम और दक्षिण दोनों मार्गों से प्रवर्तित हुआ है किन्तु शङ्कराचार्य भगवत्पाद ने शुभाग पंचक के अनुसार समय मार्ग का ही अवलम्बन कर सौन्दर्य लहरी तथा त्रिपुरसुन्दरी मानसपूजनादिस्तोत्रों में शुद्ध मपञ्चकरहित पूजन का विधान किया है। श्री लक्ष्मीधराचार्य ने सौन्दर्यलहरी टीका में 'बाह्यपूजा को वर्ण वाह्य लोगों द्वारा समाश्रित बताकर 'वह स्मरण करने योग्य भी नहीं' ऐसा कहा है।

शैवागम भगवान शिव के सद्योजात वामदेवादि पञ्चमुखों से प्रकट हुए जिनकी संख्या २८ है और जो ज्ञानयोग क्रिया और चर्या इन उपायों से पशुपाश विमोचन के लिये प्रवृत्त हुए हैं। श्री लक्ष्मीधराचार्य ने भगवन्नाम कौमुदी में प्रामाण्य का विवेचन करते हुए आगम तथा तन्त्र का प्रामाण्य धर्मशास्त्र कोटि में माना है। मनु के अनुसार 'वेद ही समस्त धर्म का मूल है'। इस सिद्धान्त से जैसे वेदमूलिका स्मृति प्रमाण है और वेद बाह्या असत् स्मृति अप्रमाण है। पूर्व मीमांसानुसार वेदमूलक स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी उसका अनुमान कर लेना चाहिए किन्तु 'विरोधेत्वनयेक्षं स्यात्' वैदिक वचनों से स्पष्ट विरोध की स्थिति में स्मृति के समान 'आगम' भी अप्रमाण होगा। इसी सिद्धान्त पर आचार्य भगवत्पाद ने आगमों की व्याख्या वेदानुकूल तथा वेदमूलक ही की है और श्री लक्ष्मीधराचार्य ने वेदबाह्य अर्चा आचरण को अप्रमाण तथा त्याज्य माना है। स्वयं आगमशास्त्र के अनुसार भी

"मिश्रकं कौलिकं मार्गं परित्याज्यं हि शाङ्करि" कापालिक क्षपणक आदि मार्ग केवल वेदवाह्यों के लिये, राजस तामस प्रकृति के लिए ही अनुसरणीय हैं। आगम का चरमोद्देश्य मोक्ष होने पर भी परवर्ति प्रवाह केवल रजोगुण तमोगुण से अनुप्राणित मारणोच्चाटन, मोहन वशी-करण आदि क्षुद्र उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही प्रवाहित हुआ। वज्रयान आदि बौद्धतान्त्रिक प्रवाह तिब्बत चीन में अधिकतर प्रयुक्त होने से चीनाचार नाम से कहा जाने लगा और सत्समाज में वर्जित माना गया। इसी कारण से तन्त्र आगम का परम पवित्र उद्देश्य मोक्ष को भूलकर अश्लीलता पूर्ण होने की धारणा लोगों में आने लगी किन्तु शैवागम और त्रैपुरसमयसिद्धान्त की विद्यमानता में यह धारणा केवल भ्रान्त धारणा ही सिद्ध हुई है।

शैवशक्ति आगमों के अतिरिक्त अति महत्वपूर्ण वैष्णवागम श्रीमन्नारायण प्रोक्त माने गये हैं। वैष्णवागम मुख्य दो प्रकार में हैं। वैखानस से ब्रह्मा प्रोक्तागम कहे जाते हैं। श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध में गोपिकाओं ने भगवान श्री कृष्ण की स्तुति करते हुए

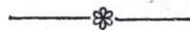
न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

यहाँ 'विखनस' का अर्थ ब्रह्मा किया गया है। विखनस ब्रह्मा द्वारा प्रकट हुआ आगम वैखानस आगम कहलाया। ब्रह्माजी ने अपने पुत्रों मरीचि, अत्रि, भृगु और कश्यप को इनका उपदेश किया। ये पाञ्चरात्रागम की अपेक्षा अधिक प्राचीन माने गये हैं।

पाञ्चरात्रागम मुख्यतया श्री वैष्णव सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। श्रीमन्नारायण ने जीवों के भोग और मोक्ष के लिये पञ्चरात्रियों में उपदिष्ट होने से पाञ्चरात्र कहलाया। 'पाञ्चरात्र' के अनेक अर्थ किये गये हैं। ज्ञानयोग क्रिया और चर्या इसके चार पाद पाद्म ब्रह्म आदि एक सौ आठ संहिताओं मे विस्तृत है। श्री महाविष्णुमहिमा गोपीचन्दन, ऊर्ध्वपुण्ड्र, यन्त्र, मन्त्र, पुरश्चरण, प्रायश्चित्त, प्रतिष्ठा, देवालय, प्रासाद ग्राम शिल्प आदि अनेक प्रकार के विषयों का इनमें वर्णन है। विस्तार-भय से सब वर्णन सम्भव नहीं हैं। मनुस्मृति की टीका में कुल्लूकभट्ट के शब्दों में —

'वैदिकी तान्त्रिकी चेति द्विविधा श्रुतिरुच्यते ॥'

आगम को श्रुति की संज्ञा दी गयी है तथा भारतीय संस्कृति, लोक जीवन तथा धार्मिक परम्पराओं पर इसकी अमिट छाप है। मानव के लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय तथा जीवन के चरम लक्ष्य (Sumum Bonum) निःश्रेयस् की प्राप्ति के उपायों का इनमें विशद विवेचन है। वाराणसेय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने तथा कुछ प्रौढ़ तन्त्र शास्त्रियों ने इसके विवेचन, अनुसंधान और उत्तरोत्तर प्रसार के लिये प्रयास आरम्भ कर दिया है। आशा है इसके ज्ञान से मानव जगत विशेष लाभान्वित और उपकृत होगा।



श्रीरामचरितमानस तथा आगम

स्वामी श्रीसीतारामशरण (लक्ष्मण किलाधीश)

कलिपावनावतार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने अपने श्रीरामचरित मानस में 'आगम' का स्थल-स्थल पर उल्लेख किया है। मानस के प्रारम्भ में ही उन्होंने 'नानापुराणनिगमागम सम्मत' रामायण का भाषानुवाद करने का संकेत दिया है। यद्यपि आगम पुराण आदि का मूल उत्स वेद ही है। इतिहास पुराणों द्वारा वेदार्थ का ही विस्तार किया गया है। महाभारत में कहा गया है कि इतिहास पुराणों के द्वारा वेदार्थ का उपबृंहण (विस्तार) करना चाहिये, अल्पश्रुत मनुष्य से वेद डरते हैं कि कहीं मेरा वह शिरोभेदन न करदे—अर्थ का अनर्थ न करदे—'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रतरिष्यति।' वाल्मीकि रामायण में भी लिखा है कि 'वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः' वेदार्थ के विस्तार के लिये महर्षि ने लवकुश को रामायण का अध्ययन कराया। पूर्वाचार्य कहते हैं कि वेद के पूर्वभाग की व्याख्या धर्मशास्त्र से की गई है तथा इतिहास पुराणों के द्वारा वेदान्तार्थ—वेद के उत्तर भाग की व्याख्या की गई है—"प्रायेण पूर्वभागार्थे। धर्मशास्त्रेण कथ्यते। इतिहास पुराणाभ्यां वेदान्तार्थः प्रकाश्यते।" इस प्रकार इतिहास पुराण वेदार्थ विस्तारक हैं किन्तु आगम का सम्बन्ध उस अलौकिक रहस्य से है जो अनाद्यवच्छिन्न परम्परा से महर्षियों को प्राप्त हुआ है। कोषकार कहते हैं—'आगम' के तीनों अक्षरों का वर्णात्मक अर्थ है—'आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजा श्रुतौ। मतञ्च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।' श्रीशिवजी के मुख से आया तथा श्रीपार्वतीजी के कर्णकुहरों में गया, साथ ही भगवान् वासुदेव का भी मत है, अतः इस शास्त्र को आगम कहते हैं।

पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज आगम का अर्थ करते हुये कहते हैं कि 'आगच्छतीति—आगमः।' जो रहस्य परम्परा से आ रहा हो वही आगम है। वेद में जिन ब्रह्मविद्या का संकेत है आगम में उनका सरहस्य विशद विवेचन है। वेद सूत्र है तो आगम उसका भाष्य है।

भागवत सम्प्रदाय की चिन्तन प्रणाली में पाञ्चरात्रागम का अत्यधिक समादर है। समग्र पाञ्चरात्र आगम के कर्ता स्वयं नारायण हैं—'पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्।' वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध आदि चतुर्व्यूह की उपासना का विशद विवेचन आगम में ही प्राप्त होता है। विभवार्चन से व्यूह की प्राप्ति तथा व्यूहार्चन से परब्रह्म वासुदेव की प्राप्ति कही जाती है—ऐसा दाक्षिणात्य भागवत सम्प्रदाय का मत है। परब्रह्म परमात्मा ही मन्त्रों पर अनुग्रह कर चतुर्व्यूहरूप में अवतीर्ण होता है। जीव के अधिष्ठाता संकर्षण, मन के प्रद्युम्न तथा अहंकार के अधिष्ठाता अनिरुद्ध कहे गये हैं। जिस प्रकार आकाश आदि को कहीं कहीं ब्रह्म का पर्यायवाची माना गया है, उसी प्रकार संकर्षण आदि को जीव शब्द से अभिधान किया गया है। 'आकाशस्तल्लिंगात् को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि ब्रह्म सूत्र एवं श्रुतियों में आकाश को ब्रह्म कहा गया है। रामतापनी उपनिषद् में प्रणव के अकाराक्षर सम्भूत विश्वभावन श्रीलक्ष्मण हैं तथा उकाराक्षर सम्भूत तैजसात्मक श्रीशत्रुघ्न हैं एवं प्राज्ञात्मक श्रीभरत मकाराक्षर सम्भूत कहे गये हैं। अर्धमात्रात्मक ब्रह्मानन्दैक विग्रह श्रीराम हैं—'अकाराक्षर सम्भूतः सौमित्रिविश्व भावनः············अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैक विग्रह।'

इसी विवेचन के आधार पर गोस्वामीजी ने मानस में श्रीराम लक्ष्मण आदि चारो भ्राताओं के नामकरण करवाये हैं—'धरे नाम गुरु हृदय विचारी, वेद तत्व नृप तव सुत चारी।' यहाँ वेदतत्त्व से प्रणव का ही संकेत माना जाता है।

इस प्रकार मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद से लेकर इतिहास पुराणादि में भी आगम का स्थल-स्थल पर संकेत है। जिस प्रकार उपनिषद् में देवर्षि श्रीनारदजी ने सनत्कुमार के समीप जाकर कहा कि भगवन् मैं ऋग्, यजुः, साम, अथर्व चारों वेदों को जानता हूँ, पञ्चम वेद इतिहास पुराण एवं चतुर्दश विद्याओं को भी जानता हूँ किन्तु मैं मन्त्रवेत्ता हूँ, आत्मवेत्ता नहीं। इसी का शोक है आप मुझे आत्मतत्व का उपदेश कर शोक रहित करें। इस प्रसंग में भूमविद्या की प्रशंसा के लिये देवर्षि ने अपने को आत्म-विद् नहीं कहा साथ ही शमदमादि सहित कार्पण्य आदि शिष्य सम्पत्ति की परम्परा की स्थापनार्थ ही देवर्षि का यह कथन साधकमात्र के लिये प्रेरणप्रद हो सकता है।

महर्षि शाण्डिल्य ने भी इसी प्रकार पाञ्चरात्रागम की जिज्ञासा की है। परम संहिता में स्पष्ट वे कहते हैं—'अधीता भगवन् वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः श्रुतानि च मयाऽङ्गानि वाक्योवाक्ययुतानि च। न चैतेषु समस्तेषु संशयेन विन क्वचित्, श्रेयोमार्गं प्रपश्यामि येन सिद्धिर्भविष्यति।' अर्थात् अंगों के सहित वेदों के अध्ययन के पश्चात् भी संशयरहित कल्याणप्रद मार्ग नहीं दीख रहा है अतः भगवन्! सिद्धिप्रद मार्ग का उपदेश करें।

'वेदान्तेषु यथासारं संगृह्य भगवान् हरिः।
भक्तानुकम्पया विद्वान् संचिक्षेप यथासुखम्॥'

भगवान् श्रीहरि ने मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों से सारतत्त्व का संग्रह कर, भक्तों पर कृपा कर इस आगम शास्त्र का संक्षेप किया अर्थात् जो रहस्य वेदों में दुर्ज्ञेय थे उन्हीं को भक्तों पर कृपाकर संक्षिप्तरूप में उपदेश किया। ब्रह्मसूत्रकार भगवान् व्यास ने वेदों के वास्तविक व्याख्यानरूप महाभारत की रचना की जिसमें एक लाख श्लोकों की बृहत्संहिता बनाई। उसी के मोक्षधर्म के ज्ञानकाण्ड में लिखा है कि 'ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी तथा संन्यासी यदि सिद्धि प्राप्त करना चाहे, तो किस देवता का अर्चन करे।'

इस प्रकार जिज्ञासा करने पर वहाँ सुव्यवस्थित ढंग से पाञ्चरात्र शास्त्र का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—दधि से निष्कासित नवनीत की भाँति, द्विजातियों में श्रेष्ठ ब्राह्मण की भाँति, वेदों में आरण्यक की भाँति, समुद्र से निःसृत अमृत की भाँति, अपनी बुद्धिरूपी मथानी की सहायता से एक लाख श्लोक वाले, आख्यायिका प्रधान महाभारतरूपी दधि के समुद्र से नवनीत की भाँति यह पाञ्चरात्र शास्त्र निकाला गया है। चारो वेदों के सार से युक्त यह महोपनिषद्, सांख्य, योग तथा वेदान्त में 'पञ्चरात्र' शब्द से वर्णित है। यही परम कल्याणरूप मोक्ष है। यही ब्रह्म प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है तथा यही ऋग्, यजुः, साम, अथर्व वेद के प्रतिपाद्य तत्त्व का प्रामाणिक विवेचन करनेवाला है—'भविष्यति प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम्।'

भीष्म पर्व में भी इसी प्रकार कहा गया है कि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के लिये संकर्षण सहित श्रीमाधव ही सात्वत विधि के अनुसार पूज्य, सेव्य तथा अर्चनीय कहे गये हैं। महाभारत में ही कहा गया है कि सांख्य-योग, वेद-आरण्यक सभी अंगांगीभाव से पाञ्चरात्र शास्त्र में वर्णन किये गये हैं—ये सभी एक ही परतत्व के प्रतिपादक होने से पञ्चरात्र-नामक एक शास्त्र कहलाते हैं—

'एवमेकं सांख्य योगं वेदारण्यकमेव च।
परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं तु कथ्यते।'

सांख्योक्त पच्चीसतत्व, योगोक्त यमनियमादि साधन आदि तथा वेदोक्त कर्मकाण्ड को ब्रह्मात्मभाव से स्वीकार किया गया है। आरण्यक भी योग को ब्रह्मोपासना का विषय तथा कर्मों को ब्रह्म का ही आराधनात्मक बतलाकर भगवत्परक बतलाते हैं। इसी विषय को परब्रह्म श्रीनारायण ने स्वयं पञ्चरात्र आगम में विशदरूप से वर्णन किया है। ब्रह्मसूत्र में सांख्योक्त तत्वों की अब्रह्मात्मकता का ही निराकरण किया गया है, उसके स्वरूप का नहीं। योग तथा पाशुपत मत की भी केवल ईश्वर निमित्त-कारणता, परतत्त्व के विपरीत कल्पना एवं वेद वहिष्कृत आचार प्रणाली का ही निराकरण किया गया है, योग या पाशुपत के स्वरूप का निराकरण नहीं किया गया है। सांख्य, योग, पंचरात्र, वेद, पाशुपत—ये सभी आत्मप्रमाणक शास्त्र हैं, तर्कद्वारा इनका खण्डन करना उचित नहीं है—

'सांख्य योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः।'

इस प्रकार पाञ्चरात्र-आगम के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों ने विशद विवेचन प्रस्तुत किये हैं तथा कतिपय आचार्यों ने 'आगम प्रामाण्य' पर स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना भी की है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने मानस में आगमोक्त रहस्यों का स्थल-स्थल पर विशद विवेचन किया है।

'ब्रह्म निरूपण धर्मविधि बरनहिं तत्व विभाग।
कहहिं भगति भगवन्त के संयुत ज्ञान विराग॥'

इस दोहा में ब्रह्मनिरूपण के साथ ही धर्म का विवेचन, सांख्योक्त तत्वों का विवेचन तथा ज्ञान वैराग्य से युक्त भक्ति का विवेचन पूर्वोक्त आगम प्रमाण के अनुसार ही है।

मानस के प्रारम्भ में ही कर्म, ज्ञान, भक्ति एवं प्रपत्ति—इन चार घाटों की कल्पना गोस्वामीजी की अपनी विशेषता है।

'सुठि सुंदर संवाद वर, विरचेउ बुद्धि विचार।
ते यह पावन सुभग सर, घाट मनोहर चार॥'

चारो घाट मनोहर हैं। साधक अपनी उपासना के अनुकूल स्वयं घाटों का चयन कर ले। सभी घाटों से उतरने पर सरोवर का स्वच्छ-मधुर श्रीसीताराम सुयशरूपी जल की प्राप्ति होगी। वन्दना प्रसङ्ग में ही वाणी-विनायक, भवानी-शङ्कर, कवीश्वर-कपीश्वर के पश्चात् श्रीसीताराम की वन्दना आगम शास्त्र के अनुरूप ही है। विस्तार से भूतभावन भगवान् श्रीशिव के चरित्र का वर्णन आगमोक्त पाशुपत शास्त्र का ज्वलन्त उदाहरण है। साथ ही उनकी यह उक्ति कि सर्वप्रथम मैंने श्रीशिवचरित का वर्णन कर तुम्हारे मर्म का अनुमान लगा लिया कि तुम विकार रहित श्रीरामजी के सेवक हो—'प्रथमहिं कहि मैं सिव चरित, बूझा मरम तुम्हार। सुचि सेवक तुम्ह राम के, रहित समस्त विकार॥ सिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं, रामहिं ते सपनेहुँ न सोहाहीं।' आदि विषय में वैदिक वाङ्मय का सम्यक् समन्वय है।

यद्यपि गोस्वामीजी का मानस श्रीरामभक्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक ग्रन्थ है। उपक्रम-उपसंहार आदि षड्विधतात्पर्य निर्णायक वाक्यों द्वारा मानस का मुख्य तात्पर्य श्रीरामभक्ति में ही है—'यहि महँ रुचिर सप्त सोपाना, रघुपति भगति केर पंथाना।' भूतभावन भगवान् श्रीशिव ने श्रीरामभक्ति की प्राप्ति के लिये ही रामायण को रचना की थी—'यत्पूर्वं प्रभुना कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्। श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।' किन्तु गोस्वामीजी की श्रीरामभक्ति साम्प्रदायिक आग्रहों के अनुरूप नहीं है अपितु वैदिक सिद्धान्तानुसार अत्यन्त व्यापक है। उनकी भक्ति सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होती हुई भी ज्ञान वैराग्य से परिपूर्ण है—'सो सुतंत्र अवलंब न आना, तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना।' भक्ति साधनों का वर्णन करते हुये गोस्वामीजी कहते हैं—'भगति कि साधन कहउँ बखानी, सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी। प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीति, निज-निज कर्म निरत श्रुति रीती। एहिकर फल पुनि विषय विरागा, तब मम धर्म उपज अनुरागा। श्रवनादिक नवभक्ति दृढ़ाहीं, ममलीला रति अति मन माहीं।' इस विवेचन से स्पष्ट है कि गोस्वामीजी ने वैदिक परम्परा के अनुसार ही भक्ति के साधनों का वर्णन किया है जिसमें वर्णाश्रम के अनुरूप स्वधर्मानुष्ठान की व्यवस्था है।

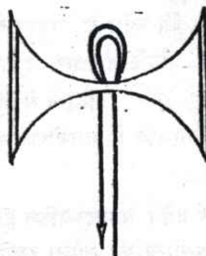
वे जहाँ भी प्रमाणों का संकेत करते हैं वहाँ आगम निगम पुराणों का अवश्य उल्लेख करते हैं—'सारद सेष महेस विधि आगम निगम पुरान, नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान।—१।१२। कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।—१।५१। आगम निगम प्रसिद्ध पुराना'। —१।१०३। धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।—२।९५। सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान।' ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'नानापुराणनिगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' के द्वारा आगम प्रमाण को स्वीकार कर गोस्वामीजी ने अपने मानस को आगम सम्मत स्वीकार किया है। इस प्रकार श्रीरामचरितमानस आगम सम्मत है।

पर-व्यूह-विभव-अन्तर्यामी-अर्चावतार—इन पाँचों भगवत्स्वरूपों का भी मानस में स्थल-स्थल पर विवेचन है पर वासुदेव भगवान् श्रीराम हैं जिनके अंश से त्रिदेव होते हैं—'उपजहिं जासु अंस ते नाना, संभु विरंचि विस्नु भगवाना।' वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—इन चार व्यूहों का समन्वय चतुर्धा विभक्त श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न भ्राताओं के साथ किया जा सकता है।

अवतार को पंचरात्र 'विभव' कहता है, अवतार कथा का मुख्य विवेचन मानस में है—'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा।'

वास्तव में अवतार जिज्ञासा ही मानस का मुख्य विषय है। सभी श्रोताओं ने अवतार के सम्बन्ध में ही प्रश्न किये हैं तथा सगुण चरित के श्रवण से सभी के सन्देह निवृत्त हुये हैं। अन्तर्यामी का भी स्थल-स्थल पर संकेत है—'सब कर परम प्रकाशक जोई, राम अनादि अवधपति सोई।' 'उर प्रेरक रघुवंस विभूषन, अन्तर्यामी रामसिय तुम्ह सर्वग्य सुजान।' आदि अनेक स्थलों में श्रीराम को अन्तर्यामी कहा गया है। अर्चावतार श्रीरंगनाथ भगवान् की पूजा के समय बाल स्वरूप श्रीराम स्वयं श्रीरंगनाथ के रूप में प्रकट होकर सिद्ध कर दिया कि श्रीरंगनाथ भी वे ही हैं—'एकबार जननी अन्हवाए, करि सिंगार पलना पौढ़ाए। निज कुल इष्टदेव भगवाना, पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना। करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा, आपु गई जहँ पाक बनावा। बहुरि मातु तहवाँ चलि आई, भोजन करत देख सुत जाई।' इस प्रकार पाँचों स्वरूपों में श्रीराम मानस में एकरस विराजमान हैं।

मञ्जूघोषयन्त्रम्



आगमों में श्रीरामतत्त्व

श्री वेदांती स्वामी जी

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम सकल श्रुतियों के महातात्पर्य के विषय हैं। सभी निगमागम पुराणों में सच्चिदानन्द घन परात्पर ब्रह्म के निर्गुण निराकार, सगुण साकार और सगुण निराकार स्वरूपों की उपासना का विधान है। वही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डात्मक प्रपञ्च का अधिष्ठानभूत सच्चिदानन्द ब्रह्म राम पद का लक्ष्यार्थ है। विश्व प्रपञ्च उन्हीं में उत्पन्न होता है, स्थित होता है, अन्त में उन्हीं में लीन हो जाता है। जैसे दर्पण में नभमण्डल, मेघ मण्डल, सूर्य-चन्द्रादि नक्षत्रमंडल भूधर-सागरादि प्रपञ्च की प्रतीति होती है, वैसे ही सच्चिदानन्द परात्पर ब्रह्म राम में ही सम्पूर्ण प्रपञ्च भासित होता है। जैसे दर्पण के अभाव में प्रतिबिम्ब भासित नहीं होता, दर्पणोपलम्भ से ही प्रतिबिम्बोपलम्भ होता है वैसे अखण्ड निर्विकार सच्चिद्घन राम में ही, उनके अस्तित्व में ही प्रमाता प्रमाण प्रमेयादि विश्वोपलम्भ होता है। भानाभाव में भास्योपलम्भ की आशा दुराशा मात्र है।

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है। सम्पूर्ण प्रमेय प्रमाणकवलित ही उपलब्ध होता है। प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय ये अन्योन्य की अपेक्षा रखते हैं। प्रमाण का विषय होने से ही कोई भी वस्तु प्रमेय हो सकती है। अतः प्रमेय को विषय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रमाण कही जा सकती है। प्रमेय विषयक प्रमाणाश्रय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता है। प्रमाणाश्रित प्रमेयाकारा वृत्ति प्रमाण है। इन सबकी उत्पत्ति स्थिति व गति का भासक नित्यबोध आत्मा है। वही साक्षी एवं वही ब्रह्म कहलाता है। यद्यपि वह स्त्री-पुमान् अथवा नपुंसक नहीं है तथापि उसे चिति, भगवतीप्रभृति स्त्री वाचक शब्दों से, आत्मा प्रभृति पुंबोधक शब्दों से एवं ब्रह्म, ज्ञान आदि नपुंसक पदों से शास्त्रों में कहा गया है। वास्तव में स्त्री-पुरुष, नपुंसकादि से पृथक् होने पर भी तत्तच्छरीर विशेष के सम्बन्ध से या वस्तु सम्बन्ध से एक ही अचिन्त्य अव्यक्त स्वप्रकाश सच्चिदानन्द स्वरूप तत्त्व हो महर्षियों द्वारा 'रुचीनां वैचित्र्यात्' आत्मा ब्रह्म पुरुष, शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, भगवती, परमात्मा-भगवान आदि शब्दों से कहा जाता है—

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'
'वदन्ति तत्तत्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥'

सीता-राम-संयोग

आनन्द सुधा समुद्र ब्रह्मरिरंसा से अपने को ही दो रूपों में प्रकट करता है। क्योंकि रमण दो के बिना नहीं हो सकता। श्रुति भगवती कहती है कि—

तदैक्षत। एकोऽहं बहुस्याम्।
'स एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्'

अतः सृष्टि की इच्छा से, एक अखण्ड बोधात्मक ब्रह्म ने अपने आधे शरीर से पुरुष तथा आधे से नारी को उत्पन्न किया—

'कं ब्रह्म', कस्य रूपमभूद्द्वेधा'। (भागवत)
'द्विधाकृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन तस्यां नारी स विराज मसृजत्प्रभुः॥

गीता में भगवान कृष्ण ने भी यही कहा है कि बिना मेरी अध्यक्षता के प्रकृति सृष्टि नहीं करती—

'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'

इस प्रकार एक ही अखण्ड ज्योति श्याम व गौर दो स्वरूपों में सीताराम-रूप में प्रकट हुयी है। इन दोनों का संयोग विन्दु ही संसार रूपी वृक्ष का मूल है। वही नाद है—उद्भव स्थिति संहारकारिणी 'सीता प्रकृति' निर्गुण निराकार निर्विकार 'राम पुरुष' से 'दुग्ध-वारि ज्यों' मिलकर एक हो गयी, इनकी परस्परासक्ति ही काम है। सत्-श्वेत विन्दु पुंस्त्व का, 'रजः'-रक्त विन्दु स्त्रीत्व का परिचायक है। मूलविन्दु, श्वेत व रक्त विन्दु मिलते हैं तब कामकला उत्पन्न होती है। मूलविन्दु, नाद, श्वेत तथा रक्त विन्दु के मिलने पर सृष्टि होती है।

नाद के साथ ही अर्धेन्दु (अर्धविन्दु) रूपा अर्धकला भी उत्पन्न हुयी। 'अर्धमात्रा स्थिता नित्या' 'नित्यैव सा जगन्मूर्तिः'। कामकला देवी का संयुक्त विन्दु वदन है। अग्नि व चन्द्रमा वक्ष है, अर्धकला योनि है। 'अ' वासुदेव राम हैं। 'अकारो वै सर्वा वाक्' 'अकारो वासुदेवः'। ई—शक्ति का प्रतीक है 'य ईं शृणोत्युक्तम्' यह श्रुति है। राम शिव है, सीता शक्ति है। यह सृष्टि उसी 'अहं' से व्याप्त है 'मत्तः प्रकृति पुरुषात्मकं जगत्' (व्याप्तमिति शेषः) सहस्रार के चन्द्रगर्भ से स्रवित आसव का पान कर ज्ञानासि से कामक्रोधादि पशुओं को मार कर वञ्चना, पैशुन्य, ईर्ष्यामित्यों को पका कर आशा, कामना, निन्दा मुद्रा को धारण कर, मेरु-देशस्थ रमणियों में रमण कर सामरस्य की प्राप्ति होती है। यही सीता राम का संयोग-सामरस्य रसात्मक है। इसीलिये कविकुल गुरु कालिदास ने रघुवंश यशोगान के प्रारम्भ में ही उसी शक्ति शिवात्मक श्रीराम के आनन्दमय साहित्य की वन्दना की है। इस प्रकार सीता-राम एक ही ब्रह्म की दो ज्योतियाँ हैं। उनमें भेद देखने से पाप लगता है—दोनों का तादात्म्य है। राम निर्गुण ब्रह्म है, सीता उनकी विद्या है। वही भुवनेश्वरी है। भगवान राम के हृत्पुण्डरीक को मधुरिमा सीता हैं। उसी प्रकार जगज्जननी विदेह नन्दिनी जानकी के माधुर्यसारसरोवर समुद्भूत हृत्पुण्ड-

रीकपर्यङ्क पर भगवान राम विराजमान हैं। दोनों परस्पर के हृदय हैं। अतः दोनों अभिन्न हैं।

ब्रह्म-विद्या की महिमा स्फुट है। जो प्राणी ब्रह्म-विद्या बिना कीट-तुल्य बना रहता है वही ब्रह्म-विद्या की कृपा से ब्रह्म हो जाता है। वह रामाभिन्न ब्रह्म की विद्या भक्ति स्वरूपिणी भगवती सीता ही है। आप ही पर ब्रह्म राम की भट्टारिका हैं—

'निर्गुणः परमात्मा तु त्वदाश्रयतया स्थितः।
तस्य भट्टारिकासि त्वं भुवनेश्वरि भोगदा॥'

जैसे अग्नि और उसकी दाहकत्व शक्ति का नित्य सम्बन्ध है वैसे ही परमात्मा राम और उनकी शक्ति श्री किशोरी जी का भी तादात्म्य है—

'तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव'

'अगस्त्य संहिता' के अनुसार भगवान शिव ने श्रीराम के प्रत्यक्ष साक्षात्कार हेतु कठोर तप किया। तत्तपस्तुष्ट श्रीराम ने शिव जी से कहा कि 'यदि मेरा तत्त्व जानना चाहते हो तो मेरी आह्लादिनी पराशक्ति की आराधना करो। उसके बिना मैं एक क्षण भी (स्थिर) नहीं रह सकता—

'आह्लादिनीं परां शक्तिं स्तुयाः सात्वत सम्मताम्।
सदा राध्यस्तदारामस्तदधीनस्तया विना।
तिष्ठामि न क्षणं शम्भो जीवनं परमं मम॥'

इस पर भगवान शङ्कर ने प्राणों के प्राण भगवान राम की परमान्तरङ्गा-शक्तिस्वरूपिणी विदेह तनया की स्तुति की—

'वन्दे विदेहतनयापदपुण्डरीकं,
कैशोरसौरभसमाहृतयोगिचित्तम्।
हन्तुं त्रितापमनिशंमुनिहंससेव्यम्,
सन्मानसालिपरिपीतपरागपुञ्जम्'॥

इस प्रकार श्रुतियों व पुराणों के अनुसार ब्रह्म या परा प्रकृति एक ही तत्त्व है। उसी के राम व सीता दो श्याम व गौर तेज हैं। प्रकृति पुरुषात्मक जगत की सृष्टि-स्थिति व संहार करने के लिये वही परम तत्त्व अपनी शक्ति से संवलित होकर विविध रूपों में भासित होता है। शक्ति हीन शिव शव है। वैसे ही श्रीहीन राम भी उपास्य नहीं हैं। राम श्याम तेज है, सीता गौर तेज है। गौर तेजः संवलित श्याम तेज अथवा, श्याम, संवलित गौर तेज ही उपास्य है। सम्मोहन तन्त्र के अनुसार—

'गौरतेजो विना यस्तु श्याम तेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे॥

श्री सीता का वेदों में महत्व वर्णित है—

'सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव,
यथा नः सुभगा ससि यथा नः सुफलाससि॥'

(तै० आ० ६।६।२)

'जनकस्य राज्ञः सद्मनि सीतोत्पन्ना,
सा सर्वपरानन्दमूर्तिर्गायन्ति मुनयोऽपिदेवाश्च'॥

महर्षि वशिष्ठ ने राम का स्वरूप वर्णन करते हुये कहा है कि—

सच्चिदानन्दरूपश्च निरीहो निर्विकारकः।
नित्याकारो निराधारो रामो रमयतां वरः॥

(भु० रा० १३।३९)

और भगवती सीता—

प्रपञ्चातीतगुणनी प्रपञ्चातीतविग्रहा।
परब्रह्मस्वरूपा च नित्या भक्तिस्वरूपिणी॥
ज्ञानभक्तिस्वरूपा च ज्ञानभक्तिविवर्धिनी।
ब्रह्मसायुज्यसाधुश्च रामसायुज्यसाधना॥

(भु० रा० १४।८५,८६)

'सृष्टिस्थितिलयाकारा तुर्यातुर्यातिगावधिः'॥

(भु० रा० १४।९४)

'रमणी रामरमणी सारात्सारा परात्परा'

(भु० रा० ९१)

इस प्रकार यद्यपि सीता ही पुरुषरूप में राम हैं, राम ही स्त्री रूप में सीता हैं, दोनों में भेद अचिन्त्य है, अतः दोनों परस्पराभिन्न ही हैं। परन्तु उपासना सदैव श्री संवलित राम की ही होती है। सीताजी अपने माधुर्य सौरस्य सौगन्ध्य-दिव्य आभा प्रभा विभा कान्ति आदि समस्त गुणों से राम को अभिमुखकर उनके हृदय में रमण करती हैं, राम भी उनके सौन्दर्यादि गुणगणों से अभिमुख होकर श्री सीताजी के हृदय में रमण करते हैं। दोनों एक दूसरे के रमण में सहायक भी हो जाते हैं। वास्तव में दोनों ही एक दूसरे की आत्मा हैं अतः उनका यह रमण आत्मक्रीडा-आत्मरति ही हैं। यदि सीता राम रमणी हैं तो राम भी रमा (सीता) रमण ही है। राम यदि ब्रह्म हैं तो सीता ब्रह्म स्वरूपिणी, राम यदि भगवान हैं तो सीता उनको प्राप्त कराने वाली भक्ति है। दोनों परस्पर एक दूसरे के उपास्य हैं। इसीलिये तो भगवान राम ने उनको प्राप्त करने के लिए वारिधि-मन्थन से लेकर वारिधि-बन्धन तक अनेक प्रकार की तपस्या की थी। राम के तत्वावबोध के लिये 'श्री राम' की उपासना करना ही विहित है। ●



आगमविमर्शः

महामहोपाध्यायः पं० रामेश्वरझा

आन्तरं चित्स्वभावस्य शब्दनं यद्विमर्शनम् ।
अन्तरङ्गं स्वरूपं तत् प्रत्यक्षस्यापि जीवनम् ॥ १ ॥
यद् यद् विमृश्यते तेन तत्तदेव भवेद् ध्रुवम् ।
आगमः स विमर्शो हि प्रोच्यते मुख्यतो बुधैः ॥ २ ॥
उपयोगितया तत्र, उपचारेण कथ्यते ।
शब्दोऽप्यागमशब्देन विमर्शजनकत्वतः ॥ ३ ॥
परोक्षेऽर्थस्य प्रामाण्यं न प्रत्यक्षेऽस्ति किञ्चन ।
फलं यथानुमानस्य दृष्टेऽर्थे नैव विद्यते ॥ ४ ॥
स्वबोधस्य परत्रापि सङ्क्रान्त्यै चोपदेशनम् ।
शब्देनैव कथितं योगभाष्यकृता यतः ॥
तत एवावगन्तव्यः आगमः शब्दनात्मकः ॥ ५ ॥
समन्ताद् गमयन्नर्थमागमः परिभण्यते ।
दृढामर्शस्वरूपं तच्छब्दनं यस्य तस्य सः ॥ ६ ॥
परस्परविरुद्धोपदेशिनो ह्यागमाः किल ।
ततः सर्वो न सर्वस्यागमो भवितुमर्हति ॥ ७ ॥
यस्य स्याद् यस्य वचसि प्रतीतिर्निरुपद्रवा ।
तस्यैव तस्य वचनमागमोऽपि तथैव हि ॥ ८ ॥
वेदः शाक्तस्तथा शैवपाञ्चरात्रादिभेदतः ।
आगमो विविधो नित्य ईश्वरेणैव दर्शितः ॥ ९ ॥
आगमो हि निरूढत्वात् प्रमाणं नोपपत्तिभिः ।
न्यायप्रसाधितो नाऽर्थो न्यायापर्य्यवसानतः ॥ १० ॥
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ ११ ॥
अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम् ।
शिष्टैर्निबध्यमानोऽप्यमागमोऽस्ति पुनः पुनः ॥ १२ ॥
ईश्वरस्यैव कर्तृत्वमुभयत्रापि विद्यते ।
अनादित्वमतः प्राहुरुभयत्रैव केचन ॥ १३ ॥
वेदवैष्णव शैवाद्या आगमा ईशयोनयः ।
कालावच्छेदरहिताः वर्तन्ते सद्भिरादृताः ॥ १४ ॥
विभिन्नदेशकालाद्यधिकारिणमपेक्ष्य वै ।
आगमो विविधोह्यस्ति विध्यादेस्तु विमर्शकः ॥ १५ ॥
अत एवान्ययूथ्येषु प्रमाणं नान्ययूथ्यगः ।
प्ररोहाभावरूपेण बाधेन ह्यविमर्शितः ॥ १६ ॥
यथैव जीवनोपायाः फलभेदविवर्जिताः ।
दृश्यन्ते विविधा लोके भक्ष्यं कर्म तथागमाः ॥ १७ ॥

उक्तं श्रीपरमेशेन देवीं प्रत्यत एव हि ।
चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने ॥ १८ ॥
व्याधिभेदाद् यथा भेदो भेषजानां महौजसाम् ।
अतोऽधिकारिणं भिन्न-भिन्नमुद्दिश्य वर्तते ॥
शास्त्रं गुरुश्च विविधं स्वसंविदुपकारकम् ॥ १९ ॥
इत्यागमेषु गुरुषु दृश्यमाना भिदापि या ।
सा गुणाय, न दोषाय यथाञ्जनकल्पनम् ॥ २० ॥
यदि किञ्चित्परं तत्त्वं तथ्यमेकं शिवात्मकम् ।
भवेत्तदा मुनिः सर्व एकमेव तथा वदेत् ॥ २१ ॥
यतो न किञ्चिदस्तीह तत्त्वमेकं व्यवस्थितम् ।
ततो वै मुनयः सर्वे भिन्नं भिन्नं व्यकल्पयन् ॥ २२ ॥
इत्थं विकल्पयन्तो ये हतया स्वमनीषया ।
श्रद्धाविप्रुड्विरहिताः सन्ति पण्डितमानिनः ॥ २३ ॥
तेषां न जायते ज्ञानं विमूढानां कदाचन ।
द्विषतां गुरुशास्त्राणां नरदेहवतां बत ॥ २४ ॥
वेदस्याप्यागमत्वन्तु वेदेनैवाभिदर्शितम् ।
तत एव यजुर्वेदे दृश्यते मन्त्र एष तु ॥ २५ ॥
अन्यदेवाहुः सम्भवाद् अन्यदेवाहुरसम्भवाद् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ २६ ॥
(४० तमाध्याये)

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदेवाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ २७ ॥
(ईशावास्योपनिषदि)

केनोपनिषदि च—
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ २८ ॥
पूर्वेषामथ धीराणां व्याख्यानं वदता स्फुटम् ।
आगमस्यैव मुख्यं प्रामाण्यं किं न दर्शितम् ॥ २९ ॥
आगच्छति प्रसिद्धिर्या कालेनाकलिता भुवि ।
निबद्धा चानिबद्धापि सैवागमपदाभिधा ॥ ३० ॥
व्याकरणाभिधेऽप्यस्ति वाक्यपदीयसंज्ञके ।
न तत्त्वातत्त्वयोर्भेदं इति वृद्धेभ्य आगमः ।
अतत्त्वमिति मन्यते तत्त्वमेवाविचारितम् ॥ ३१ ॥
(द्रव्यसमुद्देशे श्लो० ७)

क्रियासमुद्देशेऽपि—
भाव एव हि धात्वर्थ इत्यवच्छिन्न आगमः ।

ब्रह्मकाण्डेऽपि—

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते ।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ॥ ३२ ॥

चित्स्वभावस्य स्वात्मनः शब्दनरूपत्वं विमर्शनं, यदान्तरमन्तरङ्गं रूपं प्रत्यक्षादेरपि जीवनकल्पं, तेन यद् विमृष्टं भवति तत् तथैव, नात्र विवादः- यथा गरुड एवाहं क्रीडामि पन्नगैर्विषममृतीकरोमि इति । तथा चाहुः—

"आत्मानं यादृशं योऽत्र भावयेत्तादृशो ह्यसौ ।" इति ।
"आत्मानं यादृशं वेद देवा एनं तथा विदुः ॥" इति च ।

ततः स एव विमर्शो मुख्यतया आगम इत्युच्यते तदुपयोगितया तु तज्जनकशब्दराशिरपि कथ्यते उपचारेणागमः । परोक्षे चार्थेऽस्य प्रामाण्यम् । ततश्च दृढविमर्शरूपं शब्दनम् आगमः—आ समन्ताद् अर्थं गमयति । सोऽयमागमः प्रमाणं यथोक्तं भगवतानन्तेन योगसूत्रे— "प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि" इति ।

ननु परस्पराविरुद्धोपदेशिनो हि आगमाः, न च य एकस्यागमः, सोऽन्यस्यानागमः इति युक्तं प्रमाणस्यापक्षपातित्वाद् इति । किं भोः चैत्रीये प्रत्यक्षानुमाने मैत्रस्य घटवह्न्यादिकम् अवभासयतः, येन अपक्षपातिनी स्याताम् । चैत्रं प्रति यः सिद्धादशः—"प्रातस्ते निधिलाभो भविते" ति, स किं मैत्रस्यागमः । अथ तथाजातीये प्रत्यक्षानुमाने मैत्रस्य कदाचिद् भवत एवेति प्रत्यक्षानुमानयोरपक्षपातितास्त्येवेति चेत्, तर्हि सा आगमस्यापि विद्यत एव, अवश्यं हि सौगतचार्वाकादेरपि कस्मिंश्चित् प्रत्ययितपुरुषवचसि दृढप्रतीतिरस्त्येव । ततश्च दृढविमर्शरूपं शब्दनम् आगमः प्रमाणमेव । यथैव द्विचन्द्रसंवेदने उपयोगमुपगच्छदालोकेन्द्रियादिकम् अप्रमाणम्, न च इयता सम्यक् प्रत्यक्षस्य पक्षपातिता प्रसज्यते, तथा ज्योतिष्टोमादिवाक्येन अनधिकारिणां शूद्राणां दृढविमर्शाभावात् तान्प्रत्यनागमत्वेऽपि श्रद्धादरवति द्विजेऽधिकारिणि दृढविमर्शात्मकसम्यगागमरूपशब्दनोपयोगे प्रामाण्यमासादयति आगमत्वमपि । न चापक्षपातिता काचित् । सर्व एव हि आगमो नियताधिकारिदेशकालदशा सहकारिप्रभृतीन् आमृश्य विधिनिषेधादिविमर्शमयः ।

चित्राकारे विचित्रेऽस्मिन् संसारे यथैव अन्नपुष्पफलादीनि पश्वादीनि विविधान्येव वस्तूनि भगवता सृष्टानि, तथैव मनुष्यजातयः । तत्रापि मनुष्याः विभिन्ना एव सृष्टाः । तत एव कश्चित् पुरुषः कञ्चिदेव देवसिद्धाद्यन्यतमकरणीयोचितविमर्शं स्वात्मनि विमृशति, अन्यः पुनरन्यं विमर्शम् । तत्तद्विमर्शे प्रतीतिदृढतैव तत्तदधिकारिलक्षणं मुख्यमिति श्रुत्यैव दर्शितम्—"यश्चैनमेवं वेद" इति, "विद्वान् यजेत" इति । गीतायामपि "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" इत्यादि ।

अयञ्चागमः शब्दनसङ्क्रान्तिशरीरः । यथाह योगभाष्ये—"परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये शब्देनोपदिश्यते" इति । तत्र स्वबोधः प्रत्यक्षेण स्वसंवेदनात्मा । यथोक्तं वाक्यपदीये—

आविर्भूत-प्रकाशानामनपद्रुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान्, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥
यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नाभिशङ्कते ।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत् ॥
चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते ।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ॥"

ततश्चायमागमः एकप्रमातृरूपसङ्कुचितप्रकाशावेशिनीलाद्यवभासविमर्शनरूपात् लौकिकप्रत्यक्षात् बलवान् भवति परिच्छेदशून्यासङ्कुचितप्रकाशविश्रान्तभावतत्त्वावभासविमर्शनस्वभावः ।

अत एव परम्परयाऽनुष्ठानेन प्रसिद्धो योऽर्थः विमृश्यमानस्वास्ति तत्तदागमिनां सोऽनेनैवागमेनोक्तः अनेनैवोत्पादितः अमुष्मात् कालादारभ्यैव प्रवृत्त इत्यवच्छेदशून्यत्वात् अनवच्छिन्नप्रकाशधर्मो विमर्शात्मा परमेश्वर एवेति तत्र सर्वत्र अनादित्वमेव । कठादिभिः भार्गव-मतङ्गादिभिश्च अनादिप्रसिद्धानुष्ठानमेव निबध्यते स्म, यतस्तु समासव्यासोपकल्पितवाक्ययोजनाभिरेव शब्दनं भवति । न चास्या वाक्ययोजनाया अपि पारमेश्वरीत्वं यत्नसाध्यम् । "स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः" इति सर्वस्य परमेश्वराभिन्नत्वात् । "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।", "यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव च । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्" इति ।

यदि सर्वा वाङ्मयी प्रवृत्तिः पारमेश्वरी, तर्हि मनोराज्यादौ सा प्रवृत्तिः कथं विसंवादिनी इति चेत्, तर्हि यथा परमेश्वरतादात्म्यापन्नस्यापि सांसारिकस्य लोकस्य तादात्म्यानवभासपूर्वकं जीवत्वं पशुत्वमज्ञत्वादिकं चोपपन्नं भवति, तथैवाद्यायाः ऐश्वर्याः प्रवृत्तेरपि बाह्यार्थपर्यन्तीभावेन सदसद्भ्यामुपलक्षितः पाशववाङ्मानसव्यापारे रूपवैलक्षण्यभेदः प्रातिस्विको विशेषः सम्भवन्नपि दुर्लक्ष्योऽस्तीति लोकप्रवृत्तिस्तथाभूता । तत्र विसंवादोऽप्युपपद्यते । पशुप्रमातुर्योऽभिमानात्मा शब्दनविशेषः स कथं पारमेश्वरीवाणिति न शङ्कितव्यम्, परमेश्वररूपता सर्वत्रैव अनिरुद्धा । परमेश्वरतानवबोधपरिहारकाले लोष्टादिवद् अस्वातन्त्र्यात् या प्रमातृता सा प्राणादेः प्रमातृताव्यवह्रियते, न तात्त्विकी ।

ननु एवं च ईश्वरेच्छयैव यो विमर्शांशे निरूढीकृतः, स एव तस्यागम इति क इदानीं प्रामाणिकानां प्रोत्कर्षः, आः के वराकाः प्रामाणिकाः । ईश्वर एव तथा भाति विमृशति विमर्शयति च ।

इत्थं प्रतिभानलक्षणा इयं प्रतिभापि शब्दभावनाख्य आगम एव, यदुक्तं वाक्यपदीये—"तद्द्वारमपवर्गस्य" इत्यत्र (ब्र० का०, १४) वृत्तौ—"सोऽप्रतिकीर्णां वागवस्थामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति" इति ।

सोऽयमनादिप्रसिद्धिरूपः आगमः वेदे आगमेष्वपि निबद्धेषु परिलभ्यते । यथा यजुर्वेदस्य चत्वारिंशत्तमेऽध्याये—"अन्यदेवाहुः सम्भवाद् अन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुमधीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥" इति ।

ईशावास्योपनिषदि—"अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदेवाहुरविद्यया । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥" इति । केनोपनिषदि च—"अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥" इति ।

इत्थमत्र "इति शुश्रुम धीराणां", "पूर्वेषां ये नस्तद्विचचक्षिरे" इति प्रसिद्धिरूपमागमं प्रमाणयति सुस्पष्टमेव ।

एवमेव व्याकरणागमभूते वाक्यपदीये द्रव्यनिरूपणे—"न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य आगमः । अतत्त्वमिति मन्यन्ते तत्त्वमेवाविचारितम् ।" इति । तथा तत्रैव क्रियासमुद्देशे— "भाव एव हि धात्वर्थं इत्यवच्छिन्न आगम" इति ।

एवञ्चागमो भगवतो विमर्शरूप ईश्वरस्वरूपत्वादेवानादिरेव, वेदस्तु, भगवतो महेश्वरस्याज्ञा निगमपदवाच्योऽनादिरेव । यथोक्तं स्तवचिन्तामणौ—

> नुमस्त्वाम् ऋग्यजुःसाम्नां शुक्रतः परतः परम् ।
> यस्य वेदात्मिकाज्ञेयमहो गम्भीरसुन्दरी ॥ इति ।

ऋगादीनां शुक्रं-सारं=वीर्यं वाक्त्रयं परा—पश्यन्तीमध्यमाख्यम् इच्छाज्ञानक्रियात्मकम्; तस्मात् परम्-परशक्त्यात्मरूपम् आनन्दधाम, ततः परम्—समस्तशक्त्यात्मकपरमशक्तिविश्रामधाम त्वां नुमः, अहो इति गाम्भीर्यसौन्दर्यातिशयं द्योतयन् अध्यात्माधिभूताधिदेवादिविषयार्थसहस्रगर्भत्वमाचक्षाणः सर्वागमाविसंवादितां वेदस्याह । यथोक्तं मनुस्मतौ—"सर्वज्ञानमयो हि सः" इति ।

बौद्धागमादयोऽपि न प्रतिनियतबुद्धादिजनप्रणीताः, अपि तु पूर्वं पूर्वं क्षणिकभावनोपदेशिगुरुप्रवृत्ता एवेति अनियतकर्तृका, वस्तुतः पारमेश्वरविमर्शमया एव । एवं चतुर्विंशतितत्त्वभावनाभावितः कपिलो मन्तव्यः । अत एव सर्वे आगमा अनादय एव, पुराणेषु पारमेश्वरशास्त्रेषु तद्वृत्तान्ताः श्रूयन्त एव—

"बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः ।" इति । "यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके बौद्धमार्हतवैदिकम् । वैमलं पाञ्चरात्रञ्च लाकुलं साङ्ख्यमेव च । तद्वाह्ययेन्न सन्देह" इति । "इत्येवंवादिनां तेषां वादिनां तु शतत्रयम् । मया प्रोक्तमित्यादि च" इत्यभिनवपादाचार्याः इति ।

> आगमस्य विमर्शोऽयमित्थं प्रमाणलक्षणे ।
> ईश्वरप्रत्यभिज्ञाया विमर्शिन्यां प्रदर्शितः ॥ इति ॥

चित्स्वभाव स्वात्मा का जो आन्तर शब्दन है, विमर्शन है, वही अन्तरङ्ग स्वरूप है और वही प्रत्यक्ष का भी जीवन है ॥ १ ॥

उससे जो-जो विमर्श किया जाता है, वही-वही निश्चय ही होता है। वह विमर्श ही मुख्यतः विद्वानों के द्वारा आगम कहा जाता है ॥२॥

विमर्शजनक होने के कारण शब्द भी औपचारिक रूप से आगम शब्द से कहा जाता है, क्योंकि वह शब्द विमर्शन में उपयोगी है ॥ ३ ॥

इस आगम का प्रामाण्य परोक्ष अर्थ के विषय में है, प्रत्यक्ष में इसका प्रामाण्य कुछ भी नहीं है, जैसे कि प्रत्यक्षसिद्ध अर्थ में अनुमान का कोई फल नहीं है ॥ ४ ॥

चूंकि योगभाष्यकार ने कहा है कि अपने बोध का अन्य के पास संक्रमण करने के लिये उपदेश शब्द से ही होता है, अतः आगम को शब्दनात्मक समझना चाहिये ॥ ५ ॥

सभी ओर से अर्थात् पूर्णतः अर्थावबोध कराने के कारण आगम 'आगम' कहलाता है और वह उसी को होता है, जिसमें दृढ़ आमर्श-स्वरूप शब्द है ॥ ६ ॥

आगम परस्परविरुद्ध उपदेश करते हैं, अतः सभी आगम सबके लिये नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

जिसके वचन में जिसका निःशङ्क विश्वास होता है, उसका वचन उसी के लिये होता है। ऐसे ही आगम भी है ॥ ८ ॥

वेद, शाक्त, शैव तथा पाञ्चरात्र आदि भेद से आगम विविध, नित्य और ईश्वर के द्वारा ही दर्शित हुए हैं ॥ ९ ॥

आगम प्रसिद्ध-परम्परा प्राप्त होने से प्रमाण हैं, तर्कसिद्ध होने से उनका प्रामाण्य नहीं है, आगमार्थ तर्क से सिद्ध नहीं किये जाते, क्योंकि तर्क का वहाँ पर्यवसान है, वह तर्क से परे हैं ॥ १० ॥

कुशल अनुमानकर्त्ताओं द्वारा यत्नपूर्वक अनुमित भी अर्थ और भी कुशल दूसरे अनुमान करने वालों द्वारा दूसरी ही तरह से उपपादित कर दिये जाते हैं ॥ ११ ॥

श्रुतिको अनादि, अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त तथा अपौरुषेय कहा कहा गया है और यह आगम शिष्ट अर्थात् आप्तजनों द्वारा बार-बार निबद्ध किये जाते हैं—यही दोनों का अन्तर है ॥ १२ ॥

दोनों के ही कर्त्ता ईश्वर हैं, अतः कुछ लोग दोनों को ही अनादि कहते हैं ॥ १३ ॥

वेद, वैष्णव और शैव आदि आगम ईश्वर से ही उपदिष्ट, कालकृत परिच्छेद से रहित और सज्जनों से आदृत हैं ॥ १४ ॥

विभिन्न देश, काल आदि और अधिकारी की दृष्टि से विविध आगम हैं, जो विधि-निषेध आदि का विमर्श करते हैं ॥ १५ ॥

अतएव अन्य समुदाय में अन्य समुदायवर्ती शिष्ट प्रमाण नहीं होता, क्योंकि उस समुदाय में अन्य समुदाय के लिये उपदिष्ट आगम का अङ्कुर ही नहीं होता, अतः उस विमर्श का वहाँ बाध ही हो जाता है ॥ १६ ॥

जैसे संसार में जीवन के उपायभूत विविध आहार और कर्म दीखते हैं, यद्यपि उनके फल में (जीवन धारणरूप फल में) भेद नहीं होता, वैसे ही आगम भिन्न दीखते हैं, यद्यपि उनके फल में भेद नहीं होता ॥ १७ ॥

इसीलिये श्री परमेश ने कहा है, वरानने ! मनुष्यों के चित्तभेद के कारण ही पृथक्-पृथक् शास्त्रों का उपदेश किया गया है ॥ १८ ॥

जैसे अलग-अलग रोगों के लिये महाप्रभावशाली अलग-अलग औषध है, वैसे भिन्न-भिन्न अधिकारी के उद्देश्य से विविध शास्त्र और गुरु हैं, जो स्वसंविद् के ही उपकारी हैं ॥ १९ ॥

इस प्रकार आगमों और गुरुओं में जो वैविध्य दीख पड़ता है, वह गुण ही है, दोष नहीं, जैसी कि अज्ञ लोग कल्पना करते हैं ॥ २० ॥

यदि कुछ एक ही शिवरूप परतत्त्व होता, तो सारे मुनि उस एक ही तत्त्व का उपदेश करते ॥ २१ ॥

चूंकि कोई एक व्यवस्थित तत्त्व है ही नहीं, इसलिये सभी मुनियों ने भिन्न-भिन्न कल्पना की ॥ २२ ॥

इस प्रकार अपनी बुद्धि से ही मारे गये, श्रद्धा के लेश से भी रहित जो पण्डितम्मन्य इस प्रकार कल्पना करते हैं ॥ २३ ॥

उन मनुष्य देहधारी, गुरु और शास्त्र के द्रोही मूढ़ों को कभी ज्ञान नहीं होता ॥ २४ ॥

वेद भी आगमरूप हैं, यह स्वयं वेद ही प्रदर्शित करते हैं। इसीलिये तो यजुर्वेद में यह मन्त्र दीखता है ॥ २५ ॥

"अन्य ही सम्भव से कहा और अन्य असम्भव से यह हमने धीरजन से सुना है, जिन्होंने हमें यह बतलाया है" ॥ २६ ॥ (४०वें अध्याय में)

"अन्य ही विद्या से कहा और अन्य अविद्या से यह हमने धीरों से सुना है, जिन्होंने यह हमें बतलाया है ॥ २७ ॥" (ईशावास्योपनिषद् में)।

केनोपनिषद् में भी—

"अन्य ही वह विदित से और अन्य अविदित से यह हमने धीरों सुना है, जिन्होंने हमें यह बतलाया है ॥ २८ ॥"

पूर्ववर्ती धीरजन के कथन का स्पष्ट निर्देश करते हुए क्या आगम के ही मुख्य प्रामाण्य को प्रदर्शित नहीं किया गया है ? ॥ २९ ॥

काल से अनाकलित जो लिखित या अलिखित प्रसिद्धि चली आती रहती है—वही 'आगम' कहलाती है ॥ ३० ॥

'वाक्यपदीय' नामक व्याकरण के ग्रन्थ में कहा गया है—"तत्त्व और अतत्त्व में भेद नहीं है—यह वृद्धजनों से प्राप्त आगम है। तत्त्व पर विचार न करने पर उसे ही अतत्त्व कह देते हैं ॥ ३१ ॥"

(द्रव्यसमुद्देश)

क्रियासमुद्देश में कहा गया—धातु का अर्थ 'भाव' है—यही अविच्छिन्न आगम है।

'ब्रह्मकाण्ड' में भी कहा गया—चैतन्य की भाँति जो यह अविच्छिन्न आगम चला आ रहा है, उसको माननेवाला उसे तर्कवाद से बाधित नहीं करता ॥ ३२ ॥

चित्स्वभाव स्वात्मा का जो शब्दनात्मक विमर्शन है, वही अन्तरङ्ग रूप प्रत्यक्ष आदि का भी जीवन है। उससे जो विमृष्ट होता है, वह

वैसा ही होता है, इसमें विवाद नहीं है, जैसे गरुड़ ही मैं सर्पों से खेल रहा हूँ, विष को भी अमृत बना रहा हूँ। ऐसा कहा भी गया है—

"अपने को जिस रूप में भावन करे, वह वैसा ही है" तथा अपने को जैसा समझता है, देवता भी उसे वैसा ही समझते हैं।"

इसीलिये विमर्श को ही मुख्यतः आगम कहते हैं। तदुपयोगी होने के कारण विमर्शजनक शब्दराशि भी औपचारिक रूप से आगम कहलाती है।

इसका प्रामाण्य परोक्ष अर्थ के विषय में ही है। इसलिये दृढविमर्शरूप शब्दन ही आगम है—सभी ओर से अर्थात् पूर्णतः अर्थ का ज्ञान कराने वाला आगम कहलाता है। यह आगम प्रमाण है, जैसा कि भगवान् अनन्त (शेषावतार पतञ्जलि) ने योगसूत्र में कहा है—"प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण हैं।"

यहाँ यह शङ्का होती है कि विभिन्न आगमों में परस्पर विरुद्ध अर्थों का उपदेश क्यों किया गया? यह कह नहीं सकते कि जो एक के लिये आगम है, वह दूसरे के लिये आगम नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण पक्षपात नहीं करता (प्रत्यक्ष सभी के लिये प्रत्यक्ष है, ऐसा नहीं कि किसी को प्रत्यक्ष से ज्ञान हो, दूसरे को न हो। इसी प्रकार आगम प्रमाण को भी अपक्षपाती होना होगा)।

इस आशंका का उत्तर है कि क्या चैत्र नामक व्यक्ति के प्रत्यक्ष से या अनुमान से मैत्र नामक व्यक्ति को घट और आग का प्रत्यक्षतया या अनुमितिरूप में अवभासन होता है। चैत्र के लिये जो सिद्ध का कथन होता है कि तुम्हें प्रातः खजाना मिलेगा—क्या यह मैत्र के लिये सच होगा? अब यदि यह कहें कि इस प्रकार का प्रत्यक्ष या अनुमान कभी मैत्र को हो ही सकता है, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान का अपक्षपातित्व सिद्ध ही है, तो ऐसी अपक्षपातिता तो आगम में भी है ही। अवश्य ही बौद्ध और चार्वाक आदि की भी किसी श्रद्धायोग्य पुरुष के कथन में प्रतीति होती ही है। इसलिये दृढविमर्शरूपशब्दनात्मक आगम प्रमाण है ही। जिस प्रकार (आँख पर अंगुली रख कर दबा कर देखने पर) दो-दो चन्द्र के संवेदन में उपयोग में आता प्रकाश, इन्द्रिय आदि प्रमाण नहीं होता, और इतने से सम्यक्प्रत्यक्ष पक्षपाती है—यह नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार "ज्योतिष्टोम" आदि वाक्य से अनधिकारी शूद्रों में दृढविमर्श का उदय नहीं होता, अतः यह उनके लिये आगम नहीं है, फिर भी श्रद्धा और आदर रखने वाले अधिकारी द्विज के लिये दृढविमर्शात्मक सम्यगागमरूप शब्दन का उपयोग होने पर प्रामाण्य होता है, अतः उसके विषय में यही वाक्य आगम भी होता है। यहाँ पक्षपात की कोई बात नहीं है। सारा आगम नियत अधिकारी, देश, काल, दशा, और सहकारी आदि के आमर्शनपूर्वक विधि-निषेधादि विमर्श से युक्त होता है।

इस विचित्र-विचित्र संसार में भगवान् ने जैसे अन्न, पुष्प, फल आदि, पशु आदि विविध वस्तुओं का सर्जन किया है, वैसे मनुष्य जाति का भी। वहीं मनुष्यों की दृष्टि भी भिन्न-भिन्न ही है। इसीलिये कोई व्यक्ति किसी देव, सिद्ध, अनेक करणीय में से किसी एक करणीय के लिये अनुकूल विमर्श का स्वात्मा में विमर्शन करता है, तो दूसरा किसी दूसरे ही विमर्श का। तत्तत् विमर्श में प्रतीति की दृढ़ता ही तत्तत् अधिकारी का लक्षण है—यह श्रुति ही दिखलाती है—"जो इसको ऐसे जानता है", "जानने वाला यजन करे" इत्यादि। गीता में भी कहा है—"यह पुरुष श्रद्धामय है"—इत्यादि।

इस आगम का रूप शब्द का दूसरे के प्रति सम्प्रेषण करना ही है। जैसा कि योगभाष्य में कहा गया है—"दूसरे में स्वबोध के सङ्क्रमण के लिये शब्द से उपदेश किया जाता है।" वहाँ स्वबोध है प्रत्यक्ष द्वारा स्वसंवेदनरूप। जैसा कि वाक्यपदीय में कहा गया है—

"जिनमें प्रकाश का आविर्भाव हो गया है और जिनके चित्त में कोई उपद्रव नहीं है, उनका अतीत और अनागत का ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं होता।

अतीन्द्रिय और असंवेद्य भावों को भी जो आर्ष दृष्टि से देख लेते हैं, उनका वचन अनुमान से बाधित नहीं किया जाता।

जो जिसके ज्ञान को अपने द्वारा देखा गया सा मानकर उसमें शङ्का नहीं करता, प्रत्यक्ष के पक्ष में स्थित उसे कोई दूसरा कैसे हटा सकता है।

यह जो आगम चैतन्य की भाँति अविच्छिन्न रूप से आ रहा है, उसको कोई तर्कवाद से कैसे बाधित करेगा।"

अतः अपरिच्छिन्न, असङ्कुचित प्रकाश में विश्रान्ति से तत्त्व के अवभासनात्मक विमर्श के स्वभाव वाला यह आगम एक परिच्छिन्न प्रमाता के सङ्कुचित प्रकाश से आविष्ट नील आदि विषय के अवभासनात्मक विमर्श रूप लौकिक-प्रत्यक्ष से बलवान् होता है।

अत एव परम्परा से अनुष्ठान द्वारा प्रसिद्ध जो अर्थ तत्तत् आगम के अनुसर्त्ताओं द्वारा विमृश्यमान होता है, वह इसी आगम द्वारा कहा गया है, इसी के द्वारा उत्पन्न हुआ है, इसी समय से चल पड़ा है—इस प्रकार के परिच्छेद से रहित होने के कारण अपरिच्छिन्न प्रकाशधर्मा विमर्शात्मक परमेश्वररूप ही होता है, इसलिये वहाँ सर्वत्र अनादिता ही होता है। कठ आदिकों द्वारा और भार्गव एवं मतङ्ग आदि के द्वारा भी अनादिप्रसिद्ध अनुष्ठान का ही ग्रन्थाकार में निबन्धन कर दिया गया, क्योंकि संक्षेप या विस्तार रूप में प्रकल्पित वाक्ययोजनाओं से ही शब्दन हुआ करता है। यह वाक्ययोजना भी परमेश्वर की ही है—इसे सिद्ध करने में बड़े प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि "सभी प्राणियों का स्वात्मा एक महेश्वर ही है" इस वाक्य के अनुसार सभी परमेश्वर से अभिन्न हैं। "सभी के हृदय में मैं सन्निविष्ट हूँ, मुझ से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है", "संसार में जो जो पदार्थ विभूतियुक्त, श्री से युक्त और ऊर्जित अर्थात् शक्तिमान हैं, उन्हें तुम मेरे ही तेजोमय अंश से उत्पन्न जानो।"

यदि सारा वाङ्मय व्यापार परमेश्वर का ही है, तो मनःकल्पना आदि के विषय में वह व्यापार विसंवादित क्यों होता है—यह शंका होती है। इसका उत्तर है कि यदि परमेश्वर से तादात्म्य होने पर भी सांसारिक जन का, उस तादात्म्य का अवभासन न होने पर, जीवत्व या पशुत्व और अज्ञत्व युक्तिसङ्गत है, तो उसी प्रकार उस आदि पार-

मेश्वरी प्रवृत्ति का रूपवैलक्षण्य के कारण भेद और प्रातिस्विक विशेष (उसका अपना वैशिष्ट्य) सम्भव होते हुए भी बाह्यार्थपरता के कारण सत् असत् से उपलक्षित 'पशु' (जीव) के वाग्व्यापार और मानसव्यापार में दुर्लक्ष्य है। अतः लोकप्रवृत्ति ऐसी है। इस विसंवाद का होना उपपन्न ही है। पशुप्रमाता का जो अभिमानात्मक शब्दनविशेष है—उसे पारमेश्वरी वाक् कैसे कहेंगे—यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्यों परमेश्वररूपता तो सर्वत्र अव्याहत है। इस परमेश्वरता के बोध के न होने से अस्वातन्त्र्य के कारण जो मिट्टी के ढेले सरीखी जड प्रमातृता है, वह तो प्राणादि की प्रमातृता के रूप में व्यवहार का विषय है, वह तात्त्विक प्रमातृत्व नहीं है।

तब तो इस तरह ईश्वर की इच्छा से जो जिस विमर्शांश में निरूढ कर दिया गया है, उसका वही आगम है, फिर कौन अधिक प्रामाणिक है—इस उत्कर्ष का निश्चय कैसे हो सकेगा—यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कौन है वे बेचारे प्रामाणिक? ईश्वर ही वैसे भासित होते हैं, विमर्श करते और कराते हैं।

इस प्रकार प्रतिभानरूपा यह प्रतिभा भी शब्दभावनाभिधेय आगम ही है, जैसा कि वाक्यपदीय में "तद्द्वारमपवर्गस्य" (ब्र० का० १४) की वृत्ति में कहा गया है—"वह अव्यतिकीर्ण (न बिखरी हुई) वागवस्था को जानकर वाग्विकारों की प्रकृति प्रतिभा को प्राप्त करता है।"

यह अनादि प्रसिद्धिरूप आगम वेद और निबद्ध आगमों में भी उपलब्ध होता है। जैसे कि यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में "अन्य-देवाहुः सम्भवात्" इत्यादि, ईशावास्योपनिषद् में "अन्यदेवाहुर्विद्यया" इत्यादि, केनोपनिषद् में "अन्यदेव तद्विदितात्" इत्यादि मन्त्रों में।

इस प्रकार यहाँ, "ऐसा धीरों से सुनते हैं", "पहले वालों ने जैसा हमको बतलाया" इत्यादि वाक्यों से इनका प्रसिद्धिरूप आगमत्व ही प्रमाणित होता है, यह स्पष्ट ही है।

इसी प्रकार व्याकरणागमभूत वाक्यपदीय के "द्रव्यनिरूपण में—"न तत्त्वातत्त्वयोर्भेदः" इत्यादि तथा वहीं क्रियासमुद्देश में—भाव एव हि धात्वर्थः" इत्यादि वाक्यों में कहा गया है।

इस प्रकार आगम भगवान् का विमर्श रूप ही है और ईश्वर स्वरूप होने के कारण ही अनादि ही है। वेद भगवान् महेश्वर की आज्ञा है, जो "निगम" नाम से कही जाती है। जैसा कि "स्तवचिन्तामणि" में कहा गया है—

"ऋक्, यजुः, साम के साररूप, परात्पर, तुमको नमस्कार करते हैं, जिसकी वेदात्मिका आज्ञा, अहो, कितनी गम्भीर और सुन्दर है।"

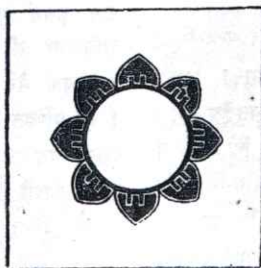
ऋग् आदि का शुक्र अर्थात् सार अर्थात् बलरूप तीनों—परा-पश्यन्ती-मध्यमा नाम की वाक् इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप हैं। उससे पर है—परशक्त्यात्मा आनन्दधाम, उससे भी परे समस्त शक्त्यात्मक परम शक्ति के भी विश्राम धाम तुम्हें नमस्कार है। "अहो"—इस पद से गाम्भीर्य और सौन्दर्य के आतिशय्य को व्यंजित करते हुए अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवादि विषयक सहस्रों अर्थ इनमें निलीन हैं—ऐसा कहकर वेद सभी आगमों से अविसंवादी-अविरुद्ध है—यह बतलाते हैं।

बौद्धागम आदि भी तत्तत् नियत बुद्ध आदि व्यक्तियों द्वारा प्रणीत नहीं हैं, अपितु पूर्व पूर्वक्षणिक भावना का उपदेश करनेवाले गुरु के द्वारा प्रवर्तित हैं, अत एव अनियतकर्तृक और वस्तुतः पारमेश्वर विमर्शमय ही हैं। इसी प्रकार २४ तत्त्वों की भावना से भावित कपिल को भी समझना चाहिए। अत एव सभी आगम अनादि ही हैं, पुराणों तथा पारमेश्वर-शास्त्रों में उनके वृत्तान्त सुने ही जाते हैं—"बौद्ध बुद्धितत्त्व में स्थित होते हैं और पांचरात्रागमिक अव्यक्त में।" "संसार में बौद्ध, जैन, वैदिक, वैमल, पाञ्चरात्र, लाकुल, साङ्ख्य आदि जो भी आगम हैं, उनमें सन्देह न करना चाहिए।" "इस प्रकार उपदेश करने वाले तीन सौ वादियों का उपदेश मैंने किया है" (स्वच्छन्दतन्त्र)—यह अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है।

यह आगम विमर्श, इस तरह उसका लक्षण और प्रमाण ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की विमर्शिनी (नामक टीका) में प्रदर्शित किया गया है।

अनुवादक—डॉक्टर कमलेशदत्त त्रिपाठी

द्विदष्टगणेशयन्त्रम्



आगम रहस्य

पं० श्री रघुनाथ शर्मा

आगम का प्रथम सोपान है नाम जप। इसके सभी अधिकारी हैं। इसमें जाति भेद और वर्ण भेद नहीं है। वेदों में भी नामोपासना लिखी है। 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत इति'। यद्यपि भगवान् के नाना नाम और नाना रूप हैं किन्तु भगवान् एक हैं। उनके नाना रूप भक्त मनः कल्पित हैं। जैसाकि भागवत में लिखा है—'तत्तद्वपुः प्रणयसे-सदनुग्रहाय।' भगवान् के जिस रूप में श्रद्धा हो उस रूप के नाम का जप करना चाहिये। इसीलिये संप्रदाय भेद से, आगम भेद से बहुत से सहस्रनामस्तोत्र बने हैं। जैसे विष्णु सहस्र नाम, शिव सहस्र नाम, ललितासहस्रनाम आदि। नाम के महिमा का बहुधा वर्णन संस्कृत तथा भाषा दोनों में पाया जाता है। नामोपासना, नाम जप, नाम साधना में दीक्षा अनिवार्य नहीं है। नाम जप का निरन्तर अभ्यास ही नाम साधना है।

नाम जप सिद्ध हो जाने पर गुरु अपनेआप प्राप्त हो जाते हैं वह जाग्रत् या स्वप्न में अग्रिम मार्ग का उपदेश करते हैं। जाग्रत में गुरुमन्त्र ग्रहण के लिये दीक्षा की आवश्यकता होती है, स्वप्न में नहीं। ललितासहस्रनाम से प्रतीत होता है कि शक्ति की साधना के लिये देवीसहस्रनाम बहुत से थे। उनमें भी मुख्यदश स्तोत्र थे। उनमें भी सर्वोत्तम ललितासहस्रनाम है। ललितासहस्रनाम की टीका भास्करराय ने लिखी है। विधि मूल में ही बतायी गई है। श्रीविद्यामन्त्र और श्री चक्र दोनों का यथासंभव जप और पूजन मूलस्तोत्र में लिखा है किन्तु मन्त्र और चक्र बिना गुरु के नहीं ज्ञात हो सकता। ललितासहस्रनाम के पाठ के माहात्म्य भी मूल में लिखा है। जो अत्यन्त सत्य है। ललितासहस्रनाम को सिद्ध तथा अनुभवी गुरु से ही ग्रहण करना चाहिये। ललितासहस्रनाम के एक-एक नाम रहस्यमय है। इसके निष्काम पाठ से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और सकाम पाठ से भोग मोक्ष दोनों प्राप्त होता है। ललिता-सहस्रनाम आगम का सार है।

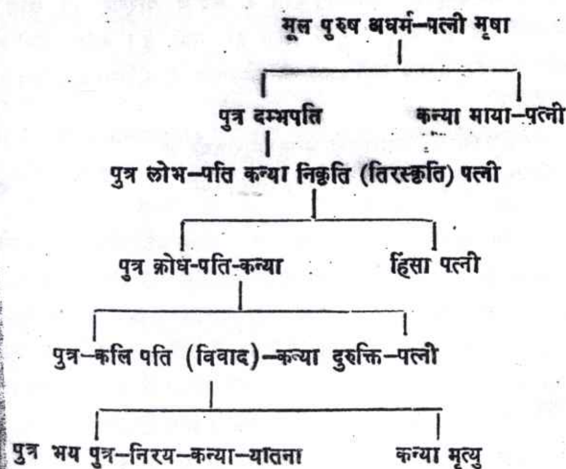
इस प्रकार नाम-सिद्धि के बाद मन्त्र-सिद्धि होती है और मन्त्र-सिद्धि के बाद योग-सिद्धि प्राप्त होती है। और योग सिद्धि से मनका विक्षेप शान्त होता है एवं ज्ञान-सिद्धि प्राप्त होती है। ज्ञानादेवतुकैवल्यम्। यह सभी शास्त्रों का सिद्धान्त है। आगम सिद्धान्त यह है कि अपने में शिवाद्वैत अथवा शक्त्यद्वैत के ज्ञान से मोक्ष होता है। योग-सिद्धि के लिये यमनियमादि साधन अपेक्षित हैं। जिनमें सत्य और ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है। वामागम में भी साधनावस्था में यमनियमादि आवश्यक हैं, सिद्धावस्था में नहीं। जो वामागमानुयायी साधनावस्था में यमनियमादि का पालन नहीं करते उनको योगैश्वर्य कदापि प्राप्त नहीं होता। योगैश्वर्य प्राप्त होने पर योगी परकाय प्रवेश कर सकता है। योग से आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह शास्त्रों में लिखा है—"अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशत्वं वशित्वञ्चाष्टसिद्धयः॥" इनमें प्राकाम्यसिद्धि इच्छासिद्धि है। इसका संकेत योगवासिष्ठ के इस पद्य में किया गया है—"विगतवासन-माशुचिपाशुतामुपगतं मनश्चात्मतयोदिम्। यदभिवाञ्छति तद्भवति क्षणात्सकलशक्तिमयो हि महेश्वरः॥" इति। कर्मवासना (पुण्य पाप) अनुभव वासना (अनुभव जनित स्मृति हेतु संस्कार) यह दोनों मनके बन्धन हैं इनसे बद्धमन कुछ नहीं कर सकता। जब इन दोनों वासनाओं का नाश हो जाता है तब मन महेश्वर हो जाता है और उसको प्राकाम्य-सिद्धि प्राप्त होती है।

वासना का नाश योगाभ्यास से भी होता है और प्रणव के दीर्घो-च्चारण से भी होता है। प्रणवं दीर्घमुच्चार्य मनोराज्यंविजीयते। (पञ्च-दशी) मन बिना बहिरिन्द्रियों के सहारा पाये बाहर नहीं जाता, अतः चक्षुरश्मियों के सहारे से मन बाहर जाता है और उनके लौटने पर पुनः शरीर में लौट आता है। जब योगी का मन चक्षुरश्मियों के सहारा से बाहर जाता है और पर पुरुष के चक्षुरश्मियाँ भी सामने बाहर आयी हैं तब योगी की इच्छा से योगी का मन पुरुष के चक्षु के रश्मियों को पकड़ कर पर पुरुष के काय में प्रवेश करता है। इसी को भूतावेश न्याय भी कहते हैं। इस प्रकार परकाय प्रवेश श्री शंकराचार्य ने किसी राजा के शरीर में और सुलभाब्रह्मवादिनी जनक शरीर में और कोई ब्रह्मचारी गुरुपत्नी के शरीर में किया।

योगजसिद्धियों में आसन से उत्थान और आकाशगमन यह सिद्धि भी होती है इसका कारण योगजसिद्धि लघिमा है। योगसाधना के लिये गुरु संनिधान अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि किसी काल में प्राण के उन्नयन तथा निरोध के बाद उसका अवनयन कठिन हो जाता है उस समय गुरु उसका उपाय करता है। गुरु शिष्य के हृदय में शक्तिपात भी करता है। हरिद्वार ज्वालापुर महाविद्यालय के अध्यापक मेरे एक मित्र पण्डित दिलीपदत्त उपाध्याय—पिताजी (श्री पण्डित काशीनाथजी) से मिलने के लिये वाराणसी आये थे। प्रसङ्ग बस उन्होंने कहा कि आप कोई समय नियत करें। उस समय काशी में आप एकान्त में बैठें उसी समय को हम संकल्प करेंगे, आपका चित्त अनायास समाहित हो जायेगा। मैंने उनको सन्ध्या समय ७ बजे के लगभग को नियत किया। वह हरिद्वार चले गये। मैं नियत समय पर एकान्त में बैठने लगा। दो तीन दिन के अन्दर मेरे चित्त में बड़ा परिवर्तन हुआ। और सारा जगत् तुच्छ और निःसार

प्रतीत होने लगा। रागद्वेष की भावना बहुत तेजी से भागने लगी। इस उग्र परिवर्तन से मेरा चित्त घबड़ा गया। मैंने घबड़ाकर नियत समय पर बैठना बन्द कर दिया। और धीरे धीरे वह भावनायें दूर हो गईं। यह एक सत्य घटना है। उस समय गुरु का संनिधान अपेक्षित था। शक्तिपात का संकेत पञ्चदशी की श्री रामकृष्णकृत टीका में किया गया है। यह संकेत मङ्गल पद्य की टीका में है। मैंने क्षुद्र कामनाओं के वशीभूत होकर अनेक स्तोत्र लिखा, सभी कामनायें पूर्ण हुईं। कन्या के विवाह के लिये—खरूमाशतकम् लिखा। कन्या विवाह समुचित रूप से हो गया। शीतलाशतकम्—शीतला ज्वर की निवृत्ति के लिये लिखा—बिना औषध के ज्वर निवृत्त हुआ। इस स्तोत्र में ४ आह्निक हैं। अपराजिताशतकम्—शत्रु पराजय के लिये लिखा। वह संपन्न हुआ। संततिस्तव—पौत्र प्राप्ति के लिये लिखा। पौत्र प्राप्ति हुई। शनिस्तव—शनि बाधा की निवृत्ति के लिये लिखा। शनि बाधा की निवृत्ति हुई। सूर्यस्तव—वातरक्त की निवृत्ति के लिये लिखा। वात रक्त निवृत्त हुआ। वायुस्तव—वातव्याधि की निवृत्ति के लिये लिखा। वात व्याधि निवृत्त हुई। इन स्तोत्रों के लिखने से मेरा साहस बढ़ा। और मैंने श्री कृष्ण स्तव लिखना प्रारम्भ किया जो आज एक हजार पद्यों के रूप में पूर्ण हुआ।

योग सिद्धि के लिये योगाङ्गसिद्धि अनिवार्य है। एकबार पिताजी से पूछा कि योगसिद्धि आजकल क्यों नहीं होती। पिताजी ने कहा कि सिद्धि के लिये योगाङ्ग सिद्धि अत्यन्त आवश्यक है। योगाङ्ग में भी सत्य और ब्रह्मचर्य अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह भागवत पढ़ने से प्रतीत होता है। सर्वानर्थ का मूल अनृत है—भागवत में मृषा (अनृत) को अधर्म की पत्नी के रूप में लिखा है। अधर्म और मृषा दंपतियों का वंश वृक्ष यह है—



इस प्रकार भ्रातृ भगिनी सम्बन्ध से प्रतिलोम सर्ग हुआ। इस प्रतिलोम सर्ग को यदि कोई तीन बार सुनता है तो वह मृषा वदन का त्याग कर निर्मल हो जाता है। भागवत—चतुर्थस्कन्ध ८ अ० श्लो० सं० २-३-४।

हम पहले बता चुके हैं कि नाम जप से गुरु प्राप्ति होती है—गुरु प्राप्ति का प्रकार यह है—नामग्रहण से नाम भी प्रसन्न होता है वह साधक का इष्टदेव है। वह ईश्वर—ब्रह्मा, विष्णु, शिव—परब्रह्म जो भी हो वह प्रसन्न तथा आकृष्ट होकर किसी भी विद्वान् के शरीर में प्रविष्ट होकर उपदेश करता है, यह बात भी श्री रामकृष्ण की टीका पञ्चदशी में वहीं पर लिखा है जहाँ पर शक्तिपात लिखा है। इसीलिये यह भी प्रसिद्ध है।

गुरुर्ब्रह्मागुरुर्विष्णुर्गुरुःसाक्षान्महेश्वरः।

गुरुःसाक्षात्परंब्रह्मतस्मैश्रीगुरवेनमः। इति।

पातञ्जलयोग सूत्र में भी ईश्वर को ही गुरु लिखा है—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। इति।

कुछ लोग विषय राग या विषय भोग से ही मुक्ति मानते हैं, वैराग्य से नहीं। यह उनकी धारणा गलत है विषय रागबन्ध का हेतु है—भगवान् में महाराग अथवा अनन्य राग मोक्ष का हेतु है। इसीलिये गीता में लिखा है—

न जातु कामःकामानामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते इति।

आगम—सभी सम्प्रदायों में आगम हैं—शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध आदि, किन्तु सभी सम्प्रदायों में आगम के दो रूप हैं। एक दर्शन, दूसरा साधना। दर्शनतत्त्व ज्ञान के लिये है और साधना साक्षात् अथवा परम्परयातत्त्व साक्षात्कार के लिये है। साधना के लिये आगम ग्रन्थों में—नाम, स्तोत्र-मन्त्र-दीक्षा-गुरु-चक्र आसन-देश-काल आदि का विस्तृत वर्णन है। प्रत्येक आगमों में साधना भिन्न-भिन्न है किन्तु साध्य तथा प्राप्य एक है। जैसा कि महिम्न स्तोत्र में लिखा है—नृणामेकोगम्यस्त्वमसिपयसामर्णवइव इति। शैव तथा शाक्त आगम और अद्वैत दर्शन में भाषा भेद होते हुए भी सिद्धान्त साम्य है। वैष्णवागम द्वैत दर्शनों का अनुयायी है। आगम के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन सर्वसाधारण के लिये अनुपयुक्त है अतः उनका विवेचन यहाँ नहीं करते हैं।

हम पहले बता चुके हैं कि सत्य और अहिंसा योग का अनिवार्य अङ्ग है। सत्य सिद्ध हो जाता है तो सिद्ध सत्य पुरुष जो दूसरों के लिये कहता है वह सिद्ध हो जाता है। पुराणों में ऋषियों के शाप और अनुग्रह दोनों का वर्णन है वह सत्य भाषण का फल है। अहिंसा यदि सिद्ध होती है तो अहिंसक के संनिधि में आये हुए पशु पक्षी भी परस्पर वैर को छोड़ देते हैं। अहिंसक पुरुष की दृष्टि जहाँ तक जाती है वहाँ तक उसका मन चक्षु रश्मियों के द्वारा जाता है और वहाँ पर आये हुए परस्पर विरोधी जीवों का मन भी चक्षुरश्मियों के द्वारा बाहर निकलता है और उनका मन अहिंसक के मन से आक्रान्त होकर अकर्मण्य हो जाता है। उनके मन की द्वेष भावना अभिभूत हो जाती है। सत्य और अहिंसा की परिभाषा बहुत जटिल है। पातञ्जल योग भाष्य में लिखा है कि वाणी परोपकार के लिये सृष्ट हुई अतः जिस वाणी से परोपकार हो वह सत्य है और जिस वाणी से दूसरे

का अपकार हो वह यथार्थ होते हुए भी असत्य है। इसके उदाहरण रूप में सत्यतपा का उपाख्यान दिया है और सत्यं भाषण से सत्यतपा को नरक हुआ यह लिखा है। चोर, डाकू, आततायी आदि की हिंसा हिंसा नहीं है, भागवत में लिखा है—मोदेतसाधुरपिवृश्चिकसर्पहत्याम्— "भागवत"। जीव हत्या ही हिंसा नहीं है किन्तु जीविकोच्छेद भी हिंसा है और जीविकोच्छेद का अनुमोदन तथा चिन्तन भी हिंसा है। महाभारत में यह उपाख्यान आया है कि काशी के किसी राजा से अभिद्रुत हैहयवंश का कोई राजा ऋषि के आश्रम में जाकर छिप गया। पूछने पर ऋषि ने बताया कि आश्रम में कोई अब्राह्मण नहीं है। योग से भूतवशित्व नाम की सिद्धि प्राप्त होती है। इस सिद्धि की प्राप्ति होने पर योगी की इच्छा के अनुसार पञ्च महाभूत उन उन भौतिक विषयों के आकार में परिणत हो जाते हैं। इसका उदाहरण भागवत कर्दमोपाख्यान में और रामायण में भारद्वाज की तपः सिद्धि वर्णन में पाया जाता है।

पञ्चमहाभूत चेतन हैं अतः योगी की इच्छा के अनुसार भोग्य वस्तु के आकार में संघटित होना संभव है। सनुविधायक सूत्र के व्याकरण महाभाष्य में सर्वचेतनम् इस सिद्धान्त को सिद्ध किया है। भागवत में पञ्चमहाभूतों का भगवत्त्व लिखा है। गङ्गा, यमुना, समुद्र, हिमालय आदि की चेतनता का वर्णन पुराणों में तथा महाभारत में पाया जाता है। वेदों में वायुसूक्त, पृथिवी सूक्त, अग्नि सूक्त मिलते हैं। वाल्मीकि रामायण में समुद्र ने स्वबन्धन विधि राम को बताये हैं। हम पहले बता चुके हैं कि वामागमवेदानधिकृत पुरुषों के लिये है। इसका मूल छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है—नकाञ्चनपरिहरेत्-तद्व्रतम्। तदेतद्वामदेव्यम्। इति। किसी उपदा (भेंट) का परिहार न करें। यह वामदेव ऋषि या शिव से उपदिष्ट व्रत है। इस व्रत (नियम) के अनुसार मद्य, मांस, स्त्री आदि का व्रती निषेध नहीं करता था। उसको स्वीकार करके अधिकारी को दे देता था। किन्तु उस व्रत के विरुद्ध आज वाममार्गी लोग स्वेच्छा से सेवन करते हैं यही वाम मार्ग के लोप का कारण है। बौद्धों में भी जब यह यथेष्ट चेष्टा शुरू हुई तो इस सम्प्रदाय का भी पतन हुआ। बुद्ध के उपदेशों के विरुद्ध यह बौद्धागम का सिद्धान्त था।

महोक्षःखट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्मफणिनः
कपालं चेतीयत्तववरदतन्त्रोपकरणम्।
सुरास्तांतामृद्धिदधति तुभवद्भ्रूप्रणिहितां,
नहिस्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति।

इस महिम्नस्तोत्र के पद्य में भगवान् शंकर का जो रूप वर्णित है उसका अनुकरण यथाशक्ति माहेश्वर आगमी भी करते हैं। किन्तु यह उचित नहीं है। क्योंकि भागवत में लिखा है—"न चैतदाचरेद्विद्वान्-मनसाऽपिह्यनीश्वरः विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजंविषम्॥ इति। इसलिये आगम का दक्षिण भाग ही श्रेयस्कर है।

योग साधना के लिये असंग होना आवश्यक है। असंगशस्त्रेणदृढेनच्छित्त्वाततःपदंतत्परिमार्गितव्यंयस्मिन्गतानिवर्तन्तिभूयः। यह लिखा है। एकश्चरेद्विद्वानकुभार्या इव कङ्कणः। यह भी लिखा है। निर्मानमोहा-जितसंगदोषः, इति। कुछ लोग कहते हैं कि जो योगी जितने अधिक लोगों को काय प्रवेश द्वारा अपना सकते हैं उतनी ही अधिक संख्या में मन उनमें मिल जाते हैं। तथा उतनी ही अधिक व्यापकरूप में वे विश्व-कल्याण करने में अपनी क्रियाशक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। काय प्रवेश न कर सकने पर ठीक-ठीक दूसरों का उपकार नहीं किया जा सकता, एवं खण्ड आत्मा अनेकों को अपनाकर विशाल नहीं बन सकता, इति। यह मेरी समझ में नहीं आता। क्योंकि असंगत और परोपकार परस्पर विरोधी हैं। बौद्ध संमत अधिमोक्षगति का वर्णन करते हुए कुछ लोग यह कहते हैं कि इस गति में योगी वस्तु के पास नहीं जाता, वस्तु ही योगी के पास आती है। यह भी समझ में नहीं आता क्योंकि वस्तु योगी के पास आती हुयी नहीं दिखाई पड़ती। और यदि वस्तु योगी के पास आयेगी तो अपने देश में अदृश्य हो जायेगी। किन्तु यह भूतवशित्व सिद्धि का प्रभाव है जिससे पञ्चमहाभूत वाञ्छित वस्तु के रूप में परिणत हो जाते हैं और योगी के इच्छानुसार पुर्नविघटित हो जाते हैं। यदि योगी का विघटन विषयक संकल्प नहीं होता तो कार्याकार में परिणत भूत विघटित नहीं होते।

जननीचरणारविन्दयोर्भ्रमरी भूतसुरासुरेन्द्रयोः।
विगलद्रसवत्पुमर्थयोर्भ्रम मे मानसदोषशोषयोः



आगम-तन्त्र

भारतीय मनीषा की एक उच्च उपलब्धि

आचार्य पं० बदरीनाथ शुक्ल

भारत की मूल संस्कृति, जिसमें प्राणी के वास्तव स्वरूप आत्मा की एकान्त-नित्यता की मान्यता को प्रतिष्ठित कर उसे पूर्ण निर्भय और अमर बता कर निर्बाध रूप से निरन्तर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा दी गयी है, उसका महान् प्रासाद जिन चार स्तम्भों पर चिर-प्रतिष्ठित है, वे हैं वेद, स्मृति, पुराण और आगम । भारत की समस्त भाषाओं का समग्र साहित्य इन्हीं चारों का विकास और विस्तार है । लक्ष्य की दृष्टि से इनमें यथार्थतः कोई पार्थक्य नहीं है, जो कुछ है वह अधिकारी और साधन की दृष्टि से । "अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्युक्तान्यशेषतः ।" अधिकारियों के भेद से उनकी क्षमता को दृष्टि में रखकर सम्पूर्ण शास्त्रों की रचना की गयी है ।

"कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः ॥

वेदोक्त आचारों का पालन वंश, विद्या, त्याग और तप की दृष्टि से वरिष्ठ पुरुषों द्वारा ही सम्भव है । ऐसे पुरुष महाकाल के आदिम खण्ड कृतयुग-सत्ययुग में बाहुल्य से विद्यमान थे । अतः उस युग में ही मुख्यतया वेदोक्त आचारों के अनुपालन की व्यवस्था थी । कृतयुग के बाद त्रेता युग के अधिकारी की अर्हता एवं आकांक्षा को दृष्टिगत करते हुये स्मृति-धर्मशास्त्र में वेदोक्त आचारों के स्वरूप और उनके पालन की प्रक्रिया में समयानुसार सुबोधता और सुकरता लायी गयी और स्मृति के प्रतिपादनानुसार उस युग के लिये स्मृति में वर्णित आचारों को उपादेय माना गया । उसके बाद के युग द्वापर में मनुष्य की अर्हता तथा रुचि में और परिवर्तन हुआ । अतः उस युग के मनुष्यों के लिये पुराणों में वेदोक्त आधार का प्रकारान्तर से वर्णन कर उस युग के लिये उसे अनुष्ठेय बनाया गया । वर्तमान युग कलि में मनुष्य की अभिरुचि तथा दैहिक एवं बौद्धिक सामर्थ्य में पहले के युगों की अपेक्षा अत्यधिक विषमता आ गयी जिसके कारण वेद, स्मृति तथा पुराण के अनुसार आचारों का पालन कठिन हो गया । अतः इस युग के लिये आगम में आचार की युगोचित नयी व्याख्या की गयी और उसे ही इस युग के लिये उपादेय बताया गया । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वैदिक काल में स्मृति, पुराण और आगम में वर्णित आचार का अस्तित्व नहीं था और उस समय उसका पालन नहीं होता था और स्मृति आदि के समय वेदोक्त आचारों का अस्तित्व और अनुपालन सम्भव नहीं है ।

वस्तुस्थिति यह है कि इन चारों वाङ्मयों में प्रतिपादित आचारों में रुचि रखनेवाले अधिकारी थोड़ी बहुत मात्रा में सदैव होते रहते हैं और उनका पालन भी उसी मात्रा में सदैव होता रहता है । युग-भेद से आचार की अनुपालनीयता की उक्त व्यवस्था 'बाहुल्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस न्याय के अनुसार की गयी है ।

वर्तमान युग का मानव वेद, स्मृति और पुराणों में मानव जीवन के नियमन और उन्नयन के जो उपाय बताये गये हैं, जाति, देश, काल, वय, वेष आदि के जो बन्धन लगाये गये हैं, उन्हें स्वीकारने की मनोवृत्ति नहीं रखता । वह स्वच्छन्दतापूर्वक त्वरित गति से आगे बढ़ने और गन्तव्य तक पहुँचने तथा प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेने के लिये उतावला है । अतः उसके लिये ऐसी आचार-संहिता आवश्यक है, जो उसकी आकांक्षाओं के अनुरूप हो और उसे उसके मनोभाव के अनुसार आगे बढ़ने के लिये पथ प्रशस्त कर सके । आगम ऐसी ही आचार-संहिता है, जो मनुष्य को भोग से पराङ्मुख होने का उपदेश नहीं देता, स्वैराचार पर तीखा अङ्कुश नहीं लगाता और संसार की असारता बताकर संसारासक्त मानव को निरुत्साह और हताश नहीं करता । वह कुलार्णव तन्त्र की भाषा में डंके पर चोट देकर कहता है—

"भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते ।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥"

आगमोक्त मार्ग से यात्रा करने पर भोग ही योग बन जाता है, पाप पुण्य में परिणत हो जाता है और संसार ही मोक्ष के रूप में बदल जाता है ।

वेदादि शास्त्रों में जिस मद्य, मांस आदि को नितान्त त्याज्य और नरक का द्वार माना गया है, उसे ही आगम में मोक्ष का साधन बताया गया है—

"मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम् ॥"

इस सन्दर्भ में यह ध्यान देना आवश्यक है कि वर्तमान युग के मानव की मनःप्रवृत्ति को देखते हुये आगम में जो यह सब बातें कही गयी हैं, वे यथाश्रुत रूप में ही सर्वथा ग्राह्य नहीं हैं, क्योंकि आगमवचनों का यथाश्रुतमात्र अर्थग्रहण करने से मनुष्य उत्थान के बदले पतन का भागी

बन सकता है। उक्त पथ में योगी शब्द से यह संकेत करते हुये स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि मद्य, मांस आदि योगी के लिये मोक्षदायक हैं, सर्वसाधारण के लिये नहीं। भगवद्गीता की दृष्टि में योगी का सर्वाधिक महत्त्व है। उसमें अत्यन्त विशद शब्दों में कहा गया है कि—

"तपस्विभ्योऽधिकों योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥"

श्रीकृष्ण वे योगी को तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी से श्रेष्ठ बताते हुये अर्जुन को योगी बनने की सम्मति दी है। गीता में योग के दो मुख्य लक्षण बताये गये हैं।

एक है समत्वयोग—सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। दूसरा है कर्मकौशल-योगः कर्मसु कौशलम्। जो लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास में सफल किंवा विफल होने पर समचित्त रहता है तथा जो कर्मों को कुशलता से सम्पादित करता है, वह योगी है।

योगसूत्र में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। निश्चित लक्ष्य और उसके निश्चित साधनों से भिन्न विषयों से चित्तवृत्तियों का नियन्त्रण योग है।

आगम में जीवात्मा और परमात्मा के मिलन को योग कहा गया है। जीवात्मा का अर्थ है आनन्देच्छु और परमात्मा का अर्थ है पूर्ण आनन्द। अतः आनन्देच्छु और आनन्द का मिलन योग है। आगम का यह योग लक्ष्य है। मनुष्य स्वभावतः यही चाहता है कि उसे पूर्ण आनन्द प्राप्त हो, दुख की छाया भी उसे छू न सके। इस योग की प्राप्ति के लिये गीतोक्त योग और पातञ्जलयोग का साधन रूप में अवलम्बन अनिवार्य है। जो लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयास की सफलता से उन्मत्त हो उठेगा और विफलता से हताश हो मृतकाय हो जायगा, जो कुशलता से कर्मों के सम्पादन की कला से अनभिज्ञ होगा, अपनी अनुपभुक्त चित्त-वृत्तियों पर जिसका नियन्त्रण न होगा वह कदापि आनन्द का अधिकारी नहीं हो सकता, वह सारे जीवन निरर्थक भटकता रहेगा।

अतः वर्तमान युग का नवयुवक जो उन्नति के शिखर पर आरोहण करने को उतावला है, जो आहार-विहार का जीवन बिताते हुए संसार में ही मोक्ष का आनन्द पाने को इच्छुक है, उसे योगी बन कर लक्ष्य की प्राप्ति में साधन बन सकने योग्य विषय-सेवन की मनोवृत्ति बनानी होगी। यदि वह ऐसा कर सका तो निश्चय ही वह आगम के मार्ग से अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकेगा।



आगम और निगम

आचार्य आनन्द झा

"आगम" और "निगम" ये दोनों शब्द भारतीय संस्कृति और सभ्यता की सुविस्तृत परिधि में समान रूप से प्रसिद्ध एवं समादृत हैं, यह एक निर्विवाद तथ्य है। सुप्रसिद्ध गीता के सुविख्यात गायक योगेश्वर श्री कृष्ण ने जो अपने अमोघ उपदेश के अन्तर्गत "योगक्षेमं वहाम्यहम्" यह कहा है, मेरी दृष्टि में अवश्य ही वह इन्हीं "आगम" और "निगम" शब्द के प्रतिपाद्यों के अभिप्राय में रखकर कहा है। समग्र मानव जीवन ही नहीं, समग्र प्राणिजीवन "योगक्षेममय" है इसे भला कौन विवेकी अस्वीकार करने का साहस कर सकता है? भारतीय संस्कृति और सभ्यता से सुपरिचितजन यह अवश्य जानते हैं कि अप्राप्त की प्राप्ति है "योग" और प्राप्त का संरक्षण है "क्षेम"। "प्राप्ति" शब्द में "प्र" और "आप्ति" ये दो शब्द परस्पर-सम्बद्ध रूघुभूत रूप में प्रतीति गोचर हैं, जिनके अन्तर्गत "प्र" का अर्थ है "प्रकर्ष युक्त" और "आप्ति" का अर्थ "नया सम्बन्ध"। नये सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं, यथा—(१) अभिमत, (२) अनभिमत और (३) उपेक्षणीय। अभिमत नया सम्बन्ध वह होता है जो सुखद प्रतीत होता है। अनभिमत नया सम्बन्ध वह होता है जो कि दुःखद प्रतीत होता है। उपेक्षणीय वह नया सम्बन्ध होता है जो कि न तो सुखद प्रतीत होता है और न दुःखद। "प्राप्ति" शब्द के अन्तर्गत उपसर्गभूत "प्र" पर विशेष रूप से ध्यान देने पर यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि सुखद अतएव आदरणीय नये सम्बन्ध को ही उचित रूप में "प्राप्ति" शब्द से कहा जा सकता है, अनादरणीय दुःखद तथा उपेक्षणीय नये सम्बन्ध को नहीं। अतः यहाँ विहित गम्भीर विवेचन के अनुसार आदरणीय सुखद नया सम्बन्ध ही है "प्राप्ति", वही है "योग" और वही है "आगम"। वाच्य और वाचक दोनों का एक शब्द से उल्लेख प्रसिद्ध है। "योग" शब्द से "समाधि" और उसका व्यापक शास्त्र अर्थात् दर्शन दोनों ही कहे तथा समझे जाते ही हैं। तदनुसार आगमात्मक अर्थ को समझाने वाला शास्त्र भी "आगम" शब्द से कहा जाय और समझा जाय यह उचित ही है। यहाँ इस ओर भी ध्यान देना अधिक उपयोगी होगा कि प्रकृत वाच्यभूत आगम को "उपक्रम" और निगम को उपसंहार समझा जाय। उपक्रम और उपसंहार दोनों का उद्देश्य एक ही होता है, फिर भी दोनों के स्वरूपों में कुछ न कुछ अन्तर मानना उचित ही है। वह अन्तर मेरी दृष्टि में यह होता है कि उपक्रम शब्द जहाँ अपने वाच्यभूत उपक्रमण में नियमतः क्रियाशीलता की ओर इङ्गित करता है, उपसंहार शब्द अपने वाच्यभूत अर्थ उपसंहरण में उक्त क्रियाशीलता की ओर इङ्गित नहीं करता। कारण यह है कि "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" नाम से ख्यात आगम दर्शन "प्रकाशाद्वैतवादी" होते हुए भी उस अपने अद्वैत प्रकाश तत्त्व को विमर्शात्मक "स्पन्द" से रहित नहीं मानता है जहाँ कि चूड़ान्त निगमदर्शन अर्थात् अद्वैत वेदान्त दर्शन अद्वैत प्रकाशतत्त्व को स्पन्दवान् नहीं मानता। परन्तु जहाँ तक प्रकाशमात्र की ही परमतत्त्वता का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में आगम दर्शन और निगम दर्शन दोनों ही एकमत दीख पड़ते हैं। अत आगम को उपक्रम और निगम को उपसंहार भली-भाँति कहा जा सकता है।

ऐसा इसलिए भी कहना सङ्गत है कि (१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम और (४) मोक्ष स्वरूप पुरुषार्थ चतुष्टय को मानव-जीवन का लक्ष्य जिस प्रकार निगम दर्शन मानता है, उसी प्रकार निगमदर्शन भी। यहाँ विशेष रूप से दृष्टिपात योग्य यह है कि ज्ञान और कर्म के बीच कर्म को प्रधानता देने वाले लोग उपसंहार से उपक्रम का ही पराक्रम अधिक मानते हैं। इसलिए वे लोग "निगम" की व्याख्या "आगम" के अनुरूप ही करना चाहते हैं और जो लोग क्रिया से प्रकाशात्मक ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं, साथ ही सर्वत्र उपक्रम को उपसंहारानुकूल ही देखना चाहते हैं, वे उपक्रमभूत "आगम" की व्याख्या उपसंहारभूत "निगम" के ही अनुकूल देखना चाहते हैं। कहने का सारांश यह है कि निगमानुयायी जन जहाँ भोग और मोक्ष इन दोनों के बीच मोक्ष को ही महत्त्व देते हैं, वहाँ आगमानुयायीजन भोग और मोक्ष दोनों को अपने-अपने स्थान पर समान महत्त्व देते दीख पड़ते हैं। इसे थोड़ा और स्पष्ट इस प्रकार समझा जा सकता है कि निगम दर्शन जहाँ आत्मा के अतिरिक्त समग्र जगत् को कल्पित मानता है या उसे सत्य और असत्य दोनों रूपों में विभाज्य मानता है, आगमिक चूड़ान्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन वहाँ समग्र जगत् को परम सत्य मानता है। जहाँ तक कि वह आकाश कुसुम, बन्ध्यापुत्र, कूर्मरोम, शशविषाण आदि को भी अलीक न मानकर परम सत्य मानता है। इन मान्यताओं को देखते हुए यह मानना आवश्यक सा प्रतीत होता है कि सामाजिकता का पुट जितना आगम दर्शन में है उतना निगम दर्शन में नहीं।

"आगम" है उपक्रम और "निगम" है उपसंहार—इसका आभास अक्षपादीय न्याय दर्शन के अन्तर्गत विहित "न्याय विचार" से मिलता है। उसका कहना यह है कि समग्र विचार जगत् पञ्चावयवात्मक न्याय से ओत-प्रोत है। वह कहता है कि न्याय के पाँच अवयवों के अन्तर्गत प्रथम प्रतिज्ञा है "आगम"। अन्तिम है "निगमन"। निगम कहा जाय या "निगमन" बात एक है। इसे न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने अपने भाष्य में यों कहा है—"आगमः प्रतिज्ञा" और "सर्वेषामेकार्थ समवाये सामर्थ्य-प्रदर्शनं निगमनम्"।

ऐसा मालूम पड़ता है कि इसी लिए महानैयायिक भट्टजयन्त ने अपनी कृति "न्यायमञ्जरी" में वेदगत प्रामाण्य की स्थापना के अवसर पर

आगम के प्रामाण्य की भी स्थापना जोरदार तर्कों द्वारा की है। वहाँ उन्होंने मुख्य रूप से आगम में प्रामाण्य का स्थापक यह तर्क उपस्थित किया है कि वाक्य कोई भी क्यों न हो वह प्रमाण तभी माना जाता है कि वह आप्त व्यक्ति का वाक्य होता है। निगम अर्थात् वेद भी इसी लिए प्रमाण है कि वह आप्त परमेश्वर का वाक्य है। ऐसी परिस्थिति में "आगम" प्रमाण है या नहीं यह विचार उपस्थित होने पर यह देखना स्वाभाविक है कि आगम भी आप्तोक्त है या नहीं। भट्टजयन्त का इस पर कहना यह है कि निगम के समान आगम भी परमेश्वर का ही वाक्य है। मौलिक रूप में आगम और निगम दोनों का प्राथमिक उपदेश सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापतियों को, भावी सामाजिक अधिकारियों को ध्यान में रखकर, करुणावरुणालय परमेश्वर ही देते हैं। तदनुसार आगम और निगम दोनों ही समान रूप से प्रमाण मान्य हैं। जो लोग नित्य निर्दोष रूप निगम को प्रमाण मानते हैं वे भी यह कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि नित्य निर्दोष नहीं है ?

यहाँ यह भी सूचित कर देना असङ्गत नहीं होगा कि भट्टज उदारता दिखलाते हुए जैन बौद्ध आदि उपदेश वाक्यों को भी विशाल आगम साहित्य के अन्तर्गत ही माना है। इस पर भाव से दृष्टिपात करने पर इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अपने समय में सभी भारतीय विवेचकों को उस शाम्भवतान्त्रिक धारा में डुबकी लगाकर आप्यायित होते तथा उक्त शाम्भवता उपासना में पूर्णरूप से लिप्त होते देखा।

आगम पदार्थ

पं० श्री केदारनाथ त्रिपाठी

आगम और निगम शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त पाये जाते हैं। संस्कृत वाङ्मय के पारङ्गत सन्त कवि गोस्वामी तुलसीदास ने "नाना पुराण निगमागमसंमतं यत्" इस पद्यांश में निगम आगम और पुराण की परस्पर भिन्नता स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की है। "निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" इस भागवत माहात्म्य श्लोक में निगम शब्द को वेद के अर्थ में प्रयुक्त किया है और श्रीमद्भागवत पुराण को वेदरूपी कल्पवृक्ष का अमृत फल बताया है। क्योंकि वेदों के समुपबृंहण के लिये ही इतिहास और पुराण रचित हुए। कोषग्रन्थों में भी श्रुति आम्नायत्रयी और निगम को वेद का पर्याय कहा गया है। इस प्रकार विगम और आगम स्पष्टतः भिन्न वस्तु हैं।

यद्यपि संस्कृत वाङ्मय में आगम शब्द का प्रयोग अनेक जगहों में प्रमाणभूत शब्दमात्र के लिये हुआ है। जैसे, "प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि" इस योग सूत्र में तथा "आप्तग्रहणेनत्युक्ता आगमाभासाः परिहृता भवन्ति, आप्र-प्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम एव"—इन सां० त० कौमुदी वचनों में आगम शब्द प्रमाणभूत शब्द के लिये प्रयुक्त हुआ है। "उपमानं तावद् यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यम्, तज्जनिता धीरागम एव" (सां० त० कौ०)। यहाँ पर आगम शब्द वाक्यजनितवाक्यार्थ बुद्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। व्याकरण शास्त्र में किसी वर्णसमुदाय के अन्तर्गत किसी वर्णान्तर का अध्याहृत प्रयोग आगम माना गया है। लौकिक व्यवहार में आगम शब्द आगमन अर्थ में प्रयुज्यमान होता है। फिर भी प्रकृत में विमर्श का विषय आगम शब्दशास्त्र विशेष का वाचक है। अर्थात् वह शास्त्र विशेष क्या हैं ? जिसमें आगम शब्द योगरूढ हो चुका है।

वेद के तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इस दृष्टि से भी समुदित वेद का त्रयी नाम अन्वर्थ है। अत एव वेद के प्रतिपाद्य विषय तीनों ही हैं, कर्म, उपासना और ज्ञान। इसीलिये वेद का निगम नाम भी चरितार्थ होता हैं, क्योंकि "निःशेषेण गमो बोधो यस्मात् स निगमः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अशेष विषय का बोधक होने से वेद निगम है। "आ ईषत् अंशतो (उपासनामात्रस्य) गमो बोधो यस्मात् स आगमः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार आगम वह है, जो त्रयी के विषय को अंशतः बोधित करावे। इसी अभिप्राय से वैदिक सम्प्रदाय में निगम और आगम शब्द का प्रयोग होता है। इनमें आगम उपासना प्रधान होता है और निगम में त्रितय की प्रधानता विवेच्यरूप से है। उपासना को मुख्य मानकर निगम के ही आधार पर साक्षात् शिवादि अधिदेव या ऋषि मुनि द्वारा आगमशास्त्र प्रतिपादित एवं समुपबृंहित है। निगम सांख्य और मीमांसा वेदान्त की दृष्टि से अपौरुषेय है तथा अन्य आस्तिक दार्शनिकों की दृष्टि से पौरुषेय है, जब कि आगम शास्त्र ऐकान्तिक रूप से पौरुषेय है। आगम शास्त्र का प्रादुर्भाव या विकास गुरु-शिष्य-संवाद से हुआ है। देवी या भैरव आदि का प्रश्न होना और परम शिवादि द्वारा उपदेश का होना ही आगम शास्त्र की स्वरूपोपलब्धि है।

भारतवर्ष में जैसे द्विविध दर्शन हैं—वेदानुगत एवं वेदविरोधी, उसी प्रकार आगम भी दो प्रकार के उपलब्ध होते हैं - वेदानुगत एवं वेद विरोधी। जैन बौद्ध आदि आगम वेद विरोधी हैं। वेदानुगत आगमों के अन्तर्गत शैव-शाक्त-वैष्णव-वैखानस-पाञ्चरात्र आदि आगम प्रसिद्ध हैं। इनमें वैखानस और पाञ्चरात्र आगम वैष्णव आगम के अन्तर्गत ही हैं। इस प्रकार मुख्यतः तीन ही आगम हैं, शैव, शाक्त एवं वैष्णव। इन आगमों के प्रतिपादक या प्रतिपाद्य शिव, शक्ति और विष्णु हैं। वैखानस आगम संभवतः विखनस् (ब्रह्मा) द्वारा प्रतिपादित होने के कारण कहा गया है। विभिन्न संहिता ग्रन्थों के अनुसार पाञ्चरात्र संज्ञा भी कई कारणों से है। जैसे, सांख्ययोगादि इतर पाँच शास्त्र जिसके समक्ष रात्रितुल्य हैं, वह पाञ्चरात्र शास्त्र है। अथवा रात्रिशब्द अज्ञान का वाचक है, अतः जिसके सान्निध्य से अज्ञान पञ्चत्व (विनाश) को प्राप्त हो जाय, वह पाञ्चरात्र है।

शिव-शक्ति एवं विष्णु द्वारा प्रवर्तित इन आगमों का विस्तार विभिन्न ऋषि-मुनियों द्वारा हुआ। जैसे, वशिष्ठ-सनक-सनन्दन-शुक और सनत्कुमार-अगस्त्य प्रभृति मुनियों ने अपनी-अपनी संहिताओं को प्रतिपादित किया।

इन आगमों ने वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता एवं ज्ञान की शुष्कता को देखते हुए भक्तजनकल्याणार्थ भगवद्विग्रहोपासना का प्रतिपादन किया। 'यज्ञो वै विष्णु" के अनुसार यज्ञ विष्णुरूप है और विष्णु भी स्वयं यज्ञरूप हैं। अतः विष्णु पूजन स्वयं एक यज्ञ माना गया है। चूँकि ये आगम वेदानुगत हैं, इसलिये इनके द्वारा विहित विष्णुविग्रहादि का अर्चन दक्षिणोपचारात्मक होता है। इसके विपरीत अवैदिक आगम पञ्चमकारयुक्त वामोपचार को अङ्गीकार करने के कारण तान्त्रिक कहे जाते हैं। आगम त्रैवर्णिकों के लिये दक्षिणमार्गीय पूजनादि का विधायक है और वैदिक मार्ग है। जब कि तन्त्र में तीनों द्विजातिवर्णों और शूद्रों का अधिकार माना गया है तथा यह वाममार्गीय पूजनादि का विधायक है और अवैदिक है। जैन बौद्धादि आगम तो अवैदिक ही नहीं प्रत्युत वेद विरोधी भी हैं।

आगमों के सम्बन्ध में एक यह भी धारणा है कि आगमशास्त्र प्रायः सिद्धि प्रधान होते हैं और इसीलिये इनके प्रति सामान्यतः आकर्षण है। किन्तु वस्तुतः यह उपासना या भक्ति प्रधान है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है। इसीलिये कहा है—"अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते" इति। यही बात वैष्णव शाक्तादि के लिये भी है। अतः आगमशास्त्र में सिद्धि स्वयं प्रधान न होकर वह भक्ति की दासी है, ऐसा समझना चाहिये।

उपर्युक्त विमर्श से आगम स्वरूप के सामान्य दिग्दर्शन के साथ शैवाद्यागमों की वेदानुगामिता समर्थित होती है और यह भी मान्य होता है कि हमारे आगमशास्त्र उपासना एवं भक्ति प्रधान शास्त्र हैं। □

मोक्ष में निगमागम की एकरूपता

स्वामी भूमानन्द तीर्थ

भारतीय संस्कृति के मूलाधार निगम—वेद हैं। वेद न तो मानव कृत हैं, न देश-काल से परिच्छिन्न। सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के चिदंश का विवर्त होने से, वेद परब्रह्म परमात्मस्वरूप ही हैं। इसी लिये वेद अपौरुषेय, अकृत्रिम, निर्दोष तथा नित्य हैं। वेद के शिरोभाग उपनिषद् में कहा है :— 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० उ० ६।१८)। इसका अर्थ है जो सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न करता और उनके लिये वेदों को प्रवृत्त करता है। तात्पर्य ईश्वर बिना प्रयत्न और अबुद्धि पूर्वक वेदों की रचना कर, ब्रह्मादि को आदि सृष्टि में प्रदान करते हैं। वेद द्वारा ही ईश्वर की सत्ता का ज्ञान होता है, अन्य कोई उपाय नहीं। "तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" (बृह० ३।९।२६)। औपनिषद् पुरुष अपने ही स्वरूप में स्थित है और उपनिषद् में ही विज्ञेय है। जैसे कार्य द्वारा कारण का विज्ञान होता है और कारण द्वारा कार्य की सत्ता है, वैसे ही वेद द्वारा ईश्वर का ज्ञान और ईश्वर द्वारा वेद की सत्ता का भान है। वस्तुतः कार्य से कारण अभिन्न होता है, वैसे ही ईश्वर और वेद की अभिन्नता है। अव्यक्त ईश्वर है और व्यक्त वेद। प्रातःकाल सूर्योदय तथा सायंकाल सूर्यास्त मात्र होता है, सूर्य का प्रातः निर्माण नहीं होता, न सायं विनाश होता है। इसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में वेद का प्राकट्य होता है और प्रलय में अप्राकट्य। न वेद का निर्माण होता है, न विनाश। अतः वेद नित्य हैं, अपौरुषेय हैं, निर्दोष हैं और परम प्रमाण हैं।

एक ही वेद के विषयानुसार चार विभाग किये हैं। इसी कारण ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सामवेद संज्ञा मानी गई है। वेद के दो भाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। मन्त्र भाग को 'संहिता' भी कहा जाता है। मन्त्र भाग में ऋषियों द्वारा अतीव सारगर्भित रूप में सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा की स्तुति की गई है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, अश्विनी-कुमार, विष्णु, रुद्र आदि नामों से एक ही चेतन सत्ता का यशोगान हुआ है। अग्निहोत्र, चातुर्मास, सोमयाग, अश्वमेध आदि यज्ञों का भी निरूपण है। ब्राह्मण भाग के पुनः तीन विभाग हुये हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। ब्राह्मण में यज्ञ-प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन है और यज्ञों की आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक व्याख्या भी की गई है। गार्हस्थ्य-जीवन के क्रिया-कलापों का यथावत् निरूपण इसमें मिलता है। गृहस्थाश्रम के उपरान्त द्विज अरण्य में तप, साधना एवं उपासना के लिये प्रस्थान करते थे। इस वानप्रस्थ आश्रम के नियमों का उल्लेख 'आरण्यक' में मिलता है। तप से देहाध्यास की निवृत्ति, बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि के लिये स्नान, नियमित आहार-विहार तथा प्राणायामादि कर्म का विधान है। निष्काम कर्म द्वारा ईश्वरोपासना तथा प्रतीकोपासना आदि का वर्णन आरण्यक में मिलता है। वानप्रस्थ के उपरान्त संन्यासाश्रम का विधान 'उपनिषद्' भाग में मिलता है। जैसे कृषक खेत में खाद देकर, निराकर और जोतकर जब भूमि तैयार कर लेता है, तब बीज बोता है, इससे उपज समुचित होती है। वैसे ही पुरुष की मनोभूमि भी तैयार की जाती है। कामना को निराकर, निष्काम कर्म से मन को जोतकर, फिर ईश्वरोपासना की खाद देकर योग्य बनाया जाता है। तब ब्रह्म ज्ञान रूप बीज का वपन करने से, अभेद ब्रह्मात्मज्ञान का अपरोक्षानुभव फल उत्पन्न होता है। ब्राह्मण और आरण्यक मनोभूमि को योग्य बनाने का कार्य करते हैं। फिर उपनिषद् से ब्रह्मज्ञान का बीज वपन किया जाता है। इस प्रकार उपनिषद् से मानव जीवन का लक्ष्य निरतिशय मोक्ष, परमानन्दस्वरूप का ज्ञान और अमरता प्राप्त होती है।

वेद में जिन कर्म, उपासना तथा ज्ञान का कथन अतीव सूक्ष्म और संक्षिप्त रूप से किया गया है, वही आगमशास्त्र में विस्तृत, सदृष्टान्त और हृदयग्राही रूप से किया गया है। आगम की व्याख्या 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त पदार्थ लक्षण संग्रह' में इस प्रकार है :—"आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ। मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥" भगवान् शङ्कर के मुख से आकर, भगवती पार्वती के कर्ण-कुहरों में गया और विष्णु भगवान् का मत—निश्चय होने से 'आगम' कहा जाता है। तात्पर्य अर्द्धाङ्गी गिरिजा को भगवान् शङ्कर ने जो तन्त्रशास्त्र का उपदेश दिया, वह आगम है। इसके अतिरिक्त "निर्दोषः शब्दः, विधि-निषेधशास्त्रम्, शाब्दप्रभाकरणम्, संदिग्धार्थसिद्धिहेतुः" आदि लक्षण भी आगम के कहे गये हैं। इस प्रकार निगम, धर्मशास्त्र—स्मृति, शब्द-ज्ञान का कारण, संशयित अर्थ की सिद्धि में कारण रूप पूर्वोत्तर मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योगादि दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष आदि छह वेदाङ्ग, शिव, विष्णु, पद्म आदि अष्टादश पुराण, भविष्य, कालिका आदि अष्टादश उपपुराण, महाभारत, रामायणादि इतिहास, मनु, पराशरादि स्मृति और वाधूलादि उपस्मृतियाँ तथा अवैदिक मोक्षाभिमुख ग्रन्थ भी 'आगम' कोटि में आते हैं। जिन ग्रन्थों में अध्यात्म, जगत्, जगत्कारण और मोक्ष का विवेचन हो, वह आस्तिक-नास्तिक कोई भी हो 'आगम' कहा जाता है। किन्तु नास्तिक आगम से न तो वास्तविक मोक्ष सिद्ध होता है, न जीवन में सदाचार की प्रवृत्ति। इस कारण आस्तिक की दृष्टि में वह आगम हेय हैं।

जैसे रूप-दर्शन में नेत्र प्रमाण हैं यानी नेत्र द्वारा ही रूप-दर्शन हो सकता है, शब्द में श्रोत्र प्रमाण है, गन्ध में नासिका, स्पर्श में त्वचा और रसास्वादन में रसना प्रमाण है, वैसे ही परमात्मा, आत्मा, धर्माधर्म

तथा मोक्षादि में एकमात्र वेद प्रमाण हैं। इससे अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है। वेदानुकूल होने से आगमशास्त्र भी प्रमाण हैं। वेद स्वतः प्रमाण हैं, आगम परतः प्रमाण। 'सूत संहिता' में कहा है :—

अतीन्द्रियोर्थे धर्मादौ शिवेपरमकारणे।
श्रुतिरेव सदामानं स्मृतिस्तदनुसारिणी।—(सूत० ४ सूतगोता ८।५९)।

'इन्द्रिय से पर विषय, धर्माधर्म और परम कारण शिव—ब्रह्म में एक मात्र वेद ही सर्वदा प्रमाण हैं, वेदानुसार होने से स्मृति—आगम भी प्रमाण हैं।" केवल अनुमान—तर्क से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि तर्क बुद्धि द्वारा सम्पन्न होता है और बुद्धि की विचित्रता, मन्दता, तीव्रता आदि भेद से तर्क में भी अन्तर होता है। अतः एकमात्र वेद ही प्रमाण है। 'महाभारत' में भी कहा है :—

अचिन्त्याः खलु ये भावानतांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्त्व तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥ (महा० भीष्म ५।१२)।

"निश्चय जो ईश्वर-स्वरूप अचिन्त्य है, उसे कभी तर्क की कसौटी में नहीं कसना चाहिये और जो प्रकृति से पर है, वही अचिन्त्य का लक्षण है।" इसलिये वेदबाह्य आगम-द्वारा मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। अतः वेदानुकूल आगमशास्त्र ही कल्याणकारक हैं।

'आगम' में मानव-जीवन की समस्त ज्ञान तथा क्रियाओं को चार शब्दों में कहा है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। लौकिक या पारलौकिक पदार्थों का समावेश इतने में ही हो जाता है। धर्म बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है, उसमें अर्थ पल्लव, काम पुष्प और मोक्षफल लगता है। धर्म बीज न होने से मोक्षफल उत्पन्न नहीं हो सकता। धर्म की प्रेरणा देते हुए महर्षि वेदव्यास ने कहा है :—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
—(महा० स्व० ५।६२)।

"मैं दोनों भुजायें ऊपर उठा कर पुकार-पुकार कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से मोक्ष तो सिद्ध होता ही है, अर्थ और काम भी प्राप्त होते हैं, तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते ?" शास्त्रोक्त अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल आचरण करना ही 'धर्म' है। वैदिक धर्म यज्ञ, दान, तप तथा वेदाध्ययन है। आगम में सामान्य-विशेष धर्म भी बतलाये गये हैं। ब्राह्मण-धर्म कहे हैं :—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥—(मनु० १।८८)।
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥—(गी० १८।४२)।

"वेदादि शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना तथा कराना एवं दान-देना और लेना—ये छह कर्म ब्राह्मण के लिये निश्चित किये गये हैं। शम—मनोनिग्रह, दम—इन्द्रिय-दमन, तप—ईश्वर के निमित्त कष्ट उठाना, शान्ति—विक्षेपरहित, आर्जव—सरलता, ज्ञान—सामान्य वेदादि का ज्ञान, विज्ञान—प्रत्यक्षानुभव और आस्तिकता—शास्त्र तथा गुरु में श्रद्धा—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।" यज्ञादि शारीरिक, शम-दमादि मानसिक और ज्ञान-विज्ञान बौद्धिक कर्म हैं।

लौकिक काम-कर्म से राग-द्वेष की भावना बनती हैं। राग-द्वेष के संस्कार अन्तःकरण में अङ्कित होते हैं, इससे अन्तःकरण मलिन हो जाता है। मलिन अन्तःकरण में ईश्वरीय ज्ञान असम्भव है। मल-प्रक्षालन के लिए ही निष्काम अध्ययन आदि बतलाये गये हैं। मन की चञ्चलता मिटाने के लिए भक्ति और अज्ञान-विनाश के लिए ज्ञान की अपेक्षा है। कर्म से जब अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है, तब सांसारिक विषयों से मन में विरक्ति उत्पन्न होती है। फिर मन भगवान् की भक्ति में रमण करता है। भक्ति के सम्बन्ध में यतिवर श्री मधुसूदन सरस्वती का कहना है :—

"भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति। भावव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन फलमभिधीयते तथा भज्यते—सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति करणव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन श्रवणकीर्तनादि साधनमभिधीयते।"

"भजन अर्थात् अन्तःकरण का भगवदाकार होना ही 'भक्ति' है। भाव में प्रत्यय कर भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति करने पर 'फल' अर्थ होता है। भज्यते—सेव्यते अर्थात् जिसके द्वारा अन्तःकरण भगवदाकार किया जाता है, वह भक्ति है। करण में व्युत्पत्ति करने पर भक्ति से श्रवण, कीर्तनादिरूप 'साधन' अर्थ होता है।" भगवत्कथा-श्रवण में प्रेम होना 'श्रवण' भक्ति है। भगवच्चरित्रों का तथा नाम का वाणी द्वारा कथन 'कीर्तन' है। भगवान् का सदैव स्मरण करना 'स्मरण' भक्ति है। भगवच्चरणारविन्द का सेवन 'पाद-सेवन'। भगवान् की साकार मूर्ति का पूजन करना 'अर्चन' है। फिर 'वन्दन' करना और उससे सेव्य-सेवक की भावना उदय होने पर 'दास्य' भक्ति होती है। सदैव भगवान् का संग प्रतीत होना 'सख्य' भावना है और समस्त कर्मादि का परित्याग कर भगवान् के आश्रित रहना 'आत्मनिवेदन' है। भक्ति के इन साधनों से साध्य भक्ति प्राप्त होती है। प्रेमानन्द से चित्त द्रवित होता है, उसमें भगवत्स्वरूप पड़ने से चित्त भगवदाकार हो जाता है। भक्त को फिर सर्वदा भगवदनुभव होता है, यही साध्य—श्रेष्ठ भक्ति है।

सकाम कर्म का फल स्वर्गपर्यन्त है। कामनावान् का स्वर्ग ही मोक्ष है। निष्काम कर्म का फल अन्तःकरण शुद्ध होकर वैराग्य उत्पन्न होना है। भक्ति से सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्ति होती है। शिव-भक्त को कैलाशलोक, विष्णु-भक्त को वैकुण्ठ लोक, कृष्ण-भक्त को गोलोक, राम-भक्त को साकेतलोक, देवी भक्त को मणिद्वीप आदि लोकों की प्राप्ति होती है। स्वर्ग से भगवान् का धाम श्रेष्ठ है, उससे भगवान् की समीपता, उससे सरूपता और उससे भी सायुज्य मुक्ति श्रेष्ठ है। ये सभी मुक्तियाँ सातिशय हैं। सातिशय होने से तत्त्वतः इन्हें मुक्ति नहीं कहा जा सकता। वास्तव में निरतिशय ही मुक्ति का स्वरूप है और वह परब्रह्म, परमात्मस्वरूप ही है।

भक्ति होने पर ज्ञान-क्षेत्र निष्पन्न हो जाता है। 'श्रीमद्भागवत' में कहा है :—

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम्॥—(भाग० ११।१३।६)।

"जब तक आत्म-साक्षात्कार न हो, तब तक सत्वगुण की अभिवृद्धि करने के लिये सात्विक आगम आदि का ही सेवन करे। उससे धर्म—

भक्ति की वृद्धि होती है और भक्ति से ज्ञान, ज्ञान से आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है।" अज्ञान से ज्ञान आवृत है, इसलिये सब प्राणी मोहित हो रहे हैं :—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'—(गी० ५।१५)। इसी से जीव को अभिन्न, अखण्ड, अनन्त ब्रह्मरूप का दर्शन नहीं होता। जब तक अज्ञान निवृत्त नहीं होता, तब तक ज्ञानस्वरूप परमात्म-साक्षात्कार सम्भव नहीं। अज्ञान-निवारण एकमात्र ज्ञान से ही होता है। आत्मा और परमात्मा का अभिन्न ज्ञान ही 'ज्ञान' है। परमात्मा और आत्मा एक ही हैं, दो नहीं। इसी से स्वयं भगवान् ने कहा है :—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'—(गी० १३।२)। भारत! तुम सम्पूर्ण क्षेत्रों देहों में क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो।

साधक जब विचार पूर्वक स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है, तब स्थूल शरीर से सूक्ष्म इन्द्रिय क्षेत्र में पहुँचता है, इन्द्रियों से मानसिक क्षेत्र में और मन से बौद्धिक क्षेत्र में प्रवेश करता है। बुद्धि के समीप आत्मा है, अतः बुद्धि का प्रवेश आत्म-क्षेत्र में होता है। 'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना' (गी० ३।४३)। बुद्धि आदि सम्पूर्ण दृश्यों से सूक्ष्म तथा विलक्षण अखण्डरस आत्मा को जान कर और बुद्धि को आत्मा के साथ समाधिस्थ करे। इस प्रकार आत्माकाराकारित बुद्धि को ही 'ज्ञान' कहा जाता है। ज्ञान के समकाल में ही अज्ञानावरण का विनाश और अखण्ड परमात्म-स्वरूप से स्थिति हो जाती है। यही निरतिशय मुक्ति है और यही मानव-जीवन का परम लक्ष्य।

क्षत्रियादि के कर्मों का वर्णन इस प्रकार है :—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेव च॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्मसमादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥—(मनु० १।८९-९१)।

"प्रजा-रक्षण, दान, यज्ञ, अध्ययन और विषयासक्तिरहित होना—ये संक्षेप में क्षत्रिय-कर्म हैं। पशु-रक्षा, दान, यज्ञ तथा वेदाध्ययन, व्यापार का मार्ग, सूद और कृषि कर्म—ये वैश्य के कर्म हैं। ईश्वर ने शूद्र के लिये एक ही कर्म निश्चित किया है—तीनों वर्णों की द्वेष-रहित होकर शुश्रूषा करना।" चारों वर्णों के कर्म भिन्न-भिन्न होने पर भी फल में एकता है, यही कहा है :—

ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं तपः क्षत्रिस्य रक्षणम्।
वैश्यस्यतु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥—(मनु० ११।२३६)।

"ब्राह्मण का तप आत्मज्ञान है, क्षत्रिय का प्रजा-रक्षण तप है, व्यापार वैश्य का तप है और शूद्र का तप सेवा है।" जैसे शरीर के विभिन्न अंग विविध प्रकार से शरीर की सेवा में तत्पर रहते हैं। इससे शरीर परितृप्त होता है और शरीर की तपस्या होती है, तपस्या से शरीर परिशुद्ध हो जाता है। वैसे ही चारों वर्णों के कर्म से ईश्वर प्रसन्न होते हैं और कर्मरूप तप से अन्तःकरण के मल धुल जाते हैं। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गी० १८।४६)। मनुष्य अपने अपने कर्म द्वारा ईश्वर की पूजा कर, सिद्धि—अन्तःकरण की निर्मलता प्राप्त करता है। इस प्रकार स्वकर्म से प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य, भक्ति, ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति सरलता से प्राप्त करता है। प्रत्येक वर्ण के कर्म भिन्न-भिन्न होने पर भी फल में एकता है। वैराग्य, भक्ति, ज्ञान या मुक्ति में कोई भेद नहीं, वह सबको समान प्राप्त होती है।

सम्पूर्णशास्त्रों का पर्यवसान परमात्मा की एकता में ही है। 'सूत संहिता' में कहा है :—

श्रुतिस्मृतिपुराणानि प्राहुरेकत्वमात्मनः।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वांछन्ति मानवाः॥—(सूत० ४।९।३९)।
शैवागमेषु चाद्वैतं बभाषे परमेश्वरः।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वांछन्ति मानवाः॥
नारायणोऽपि चाद्वैतं बभाषे स्वागमेषु च।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैवं वांछन्ति मानवाः॥
अहं चावोचमद्वैतं मदुक्तेष्वागमेषु च।
तथाऽपिपरमाद्वैतं नैव वांछन्ति मानवाः॥
अन्ये च योगिनः सर्वे प्राहुरद्वैतमात्मनः।
तथाऽपि परमाद्वैतं नैव वांछन्ति मानवाः॥—(सूत० ४।९।४१–४४)।

"वेद, स्मृति तथा पुराण आत्मा के एकत्व का वर्णन करते हैं। फिर भी मनुष्य अविद्याजनित कामकर्म की वासना से परम अद्वैत की इच्छा नहीं करते। भगवान् शंकर ने शैव आगमों में अद्वैत का ही वर्णन किया है, किन्तु अज्ञानमय द्वैत की वासना से मानव परमाद्वैत की कामना नहीं करते। भगवान् विष्णु ने भी अपने आगमों में अद्वैत का कथन किया है, तथापि मनुष्य अज्ञानवश संसार की सत्यता-वासना से परमाद्वैत की इच्छा नहीं करता। ब्रह्मा जी कहते हैं—मेरे कहे हुये आगमों में मैंने भी अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है, फिर भी अज्ञानी जन श्रेष्ठ अद्वैत की कामना नहीं करते और अन्य समस्त योगिजन भी अद्वैत आत्मा का ही कथन करते हैं, किन्तु अज्ञान जनित राग-द्वेषात्मक वासना से दूषित अन्तःकरण वाले मनुष्य परम मोक्षस्वरूप अद्वैतात्मा की वांछा नहीं करते।"

इस प्रकार आगमशास्त्र का लक्ष्य मोक्ष है और वह आत्मा-परमात्मा के एकत्व दर्शन से प्राप्त होता है। एकत्व दर्शन में संसार की सत्यता, राग-द्वेषात्मक वासना, अविद्या, बुद्धि की मन्दता और दुराग्रह प्रतिबन्धक हैं। प्रतिबन्धक की निवृत्ति स्वधर्मानुसार आचरण, ईश्वरोपासना, निगमागम का अध्ययन, विचार और स्वप्नादि दृष्टान्तों से संसार में मिथ्यात्व भावना करने से होती है। जब अन्तःकरण से मल विक्षेपादि दूर हो जाते हैं, तब मोक्षस्वरूप परमात्मदर्शन प्रत्यक्ष होने लगता है। जैसे अज्ञानदशा में संशयरहित शरीर में अहंभावना होती है, वैसे ही ज्ञानकाल में अखण्ड, अनन्त, परिपूर्ण, सच्चिदानन्दस्वरूप, परब्रह्म, परमात्मा में जब अहं बुद्धि होती है, तब अविद्या और अविद्याजनित शोक, मोह, भय, जन्म-मरणादि से मुक्ति मिल जाती है। परमानन्दस्वरूप में स्थित होकर सर्वत्र आनन्द का ही अनुभव करते हैं। यही मानव का परमलक्ष्य है। इसे आगमशास्त्रों में विशेष सरलता और विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार निगमागमशास्त्र की एकरूपता है।

पुराण और आगम

स्व० म. म. पंडित श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

अनुवादक—पं. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

आगमों में तथा उनका अनुगमन करनेवाले प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शक्ति तत्त्व का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। सृष्टि की पूर्व अवस्था में भगवान् परमशिव में स्वातन्त्र्यस्वरूपवाली पूर्णाहन्ता नाम की परमशक्ति को नित्य कहा गया है। प्रकाश स्वरूप वाले द्रष्टा परमशिव हैं और उनसे अभिन्न दृश्यरूपा पराशक्ति है। दोनों ही 'चित्' रूप हैं। अन्य दर्शनों के समान आगम शक्ति तत्त्व को जड़ नहीं मानता। शक्ति का व्यवहार आगम ग्रन्थों में "चितिः" या "चेतनाशक्तिः" या "चिच्छक्तिः" शब्दों से ही हुआ है। शिव और शक्ति में भेद यही है कि परशिव सदा एक रूप ही रहते हैं परन्तु 'चित्शक्ति' में निमेषोन्मेष नाम के संकोच और विकास सर्वदा क्रम से होते रहते हैं। उस 'चित्शक्ति' की विकृति या उसमें परिणाम आगमशास्त्र स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह अपने स्वरूप से कभी विच्युत नहीं होती।

आगम शास्त्रों में भी प्रक्रियाओं के भेद से अद्वैतवाद और द्वैतवाद का प्रतिपादन होता है। आगम में द्वैतवाद की प्रक्रिया के अनुसार परमशिव, चित्शक्ति और बिन्दु नाम के तीन स्वतंत्र तत्त्व हैं। इनमें परशिव चेतन है, बिन्दु जड़ है और 'चित्शक्ति' दोनों में विद्यमान् होती हुई दोनों का संयोजन करती है। वह शिव में निवास करती है, चेतना स्वरूपा है और परिणाम से रहित है। जो बिन्दुगता 'चित्शक्ति' है, वह जड़ के समान तथा परिणामों से युक्त सी प्रतीत होती है। महामाया, माया और प्रकृति ये तीनों बिन्दुतत्त्व के ही विकास हैं, इन्हें आगम में बिन्दु का 'विसर' या 'अवसर' भी कहा गया है। बिन्दुरूपिणी महामाया ही जगत् का सृजन करती है, वह शुद्ध स्वरूपा है अतः उसके द्वारा निर्मित प्रपंच भी शुद्ध ही है। उससे समुत्पन्न माया शुद्ध रूप की प्रतिबिम्बभूता है, जैसे प्रतिबम्ब विपरीत दिशा आदि को प्रकट करता है वैसे ही माया भी विपरीत रूप में ही अवभास करती है अत एव वह अशुद्धा कही जाती है। उससे निर्मित प्रपंच भी गुणत्रय से आविल होता है, अशुद्ध है वह। इस प्रकार सूक्ष्म प्रपंच शुद्धरूप है और स्थूल अशुद्ध है। सूक्ष्म शुद्ध प्रपंच का आनन्द योगियों और सिद्धों को ही प्राप्त होता है। जो माया से आबद्ध समस्त जीव हैं, वे तो स्थूल अशुद्ध प्रपंच के ही व्यवहार समुद्र में लिप्त रहते हैं। माया के ही पाँच कञ्चुक हैं, उनसे आबद्ध पुरुष परिच्छिन्न होता हुआ 'जीव' संज्ञा को प्राप्त करता है। उसकी सहचारिणी प्रकृति पुरुष के द्वारा भोग्य प्रपंच की संरचना करती है, तत्त्वों की विविध शक्तियाँ उसीसे समुत्पन्न होती हैं। वायुपुराण में सृष्टि के विवरण का आरम्भ करके कहा गया है—

"समासबन्धैर्नियतैर्यथायथं विशब्दनेनापि मनः प्रहर्षिणीम्।
यस्यां च बद्धा प्रथमा प्रवृत्तिः प्राधानिकी चेश्वरकारिता च॥
यत्तत् स्मृतं कारणमप्रमेयं ब्रह्म प्रधानं प्रकृतिः प्रसूतिः।
आत्मा गुहा योनिरथापि चक्षुः क्षेत्रं तथैवाचरमव्ययं च॥
शुक्रं तमस्सत्त्वमतिप्रकाशं तद् व्यापि नित्यं पुरुषं द्वितीयम्।
तदप्रमेयं पुरुषेण युक्तं स्वयम्भुवा लोकपितामहेन"॥
—(वायुपुराण ३।७, ८, ९)।

इस प्रकार दो प्रकार की सृष्टि बतलाकर क्षेत्रज्ञ और प्रकृति दोनों को सृष्टि का कारण कहते हुए, आगे उसका विवरण किया है कि—

"अव्यक्तं कारणं यत्तु नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं चैव यदाहुस्तत्त्वचिंतकाः॥"
—(वायुपुराण-४।७)।

यहाँ "अव्यक्त" शब्द से चित्शक्ति ही प्रतीत होती है। आगे उसी की संज्ञाओं का विवरण है—

"मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संवित् विपुरं चोच्यते बुधैः॥"
—(वायुपुराण ४।२५)।

इनमें शक्ति की चेतनता स्पष्ट है। शक्ति को चेतन मानने में आगम की ही प्रक्रिया का वैशिष्ट्य देखने में आता है।

अद्वैतवादी आगम के अनुसार मूल में शिव और शक्ति अविभक्त अवस्था में हैं। आगे स्वातन्त्र्य के कारण अपनी क्रीडा के लिए जगत् की संरचना की इच्छा उद्भूत होनेपर भगवान् शिव ही अपनी शक्ति को पृथक् अवभासित करते हैं। वे उसी में अपना प्रतिबिंब देखते हैं, वहीं से शिव और शक्ति ये दो तत्त्व स्फुट होते हैं, तब सदाशिव और ईश्वर का प्रादुर्भाव होता है। मूलशक्ति का इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन रूपों में विकास होता है। प्रतिबिम्बित रूप में शिव का अंश 'अम्बिका' है, शक्ति का अंश 'शान्ता' है, सर्जन शक्ति 'वामा' है, पालन शक्ति 'ज्येष्ठा' है, संहारशक्ति 'रौद्री' है। निवृत्ति प्रतिष्ठा, विद्या शन्ति, शान्त्यतीता, ये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव की कलारूपा शक्तियाँ हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में दुर्गा, राधा आदि सभी शक्तियों का परमतत्त्व श्रीकृष्ण से प्रादुर्भाव बतलाया गया है। नारायण, शिव आदि ईश्वरों का भी श्रीकृष्ण से ही प्रादुर्भाव वहाँ वर्णित है। आगम में जो परतत्त्व है वही यहाँ श्रीकृष्ण हैं, यह नाम भेद मात्र है।

श्रीमद्भागवत में भी कहीं-कहीं आगमशास्त्र की अद्वैत प्रक्रिया का आभास मिलता है। आगमों में परमशिव से ग्राह्य और ग्राहक के रूप में शिव और शक्ति का पृथक्-पृथक् प्रादुर्भाव होने पर ग्राह्य के अभाव

में शिवतत्त्व शून्यातिशून्य शब्द से सम्बोधित होता है, वैसे ही श्रीमद्-भागवत में—

> स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद् दृश्यमेकराट् ।
> मेने सन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरलुप्तदृक् ।।
> —(श्रीमद्भागवत ३।५।२४) ।

आदि स्थलों पर द्रष्टा स्वयं का 'असत्' रूप में मनन करता है। आगे कहा गया है—

> "कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
> पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ।।

यहाँ वीर्य शब्द से प्रतिबिंब रूप से शक्ति में प्रवेश करना आगम प्रक्रिया का संकेत है।

उपर्युक्त प्रक्रिया शैवागम नाम से प्रसिद्ध आगम भेद के अनुसार है।

शाक्त आगम के अनुसार शक्ति ही परमतत्त्व है। परमतत्त्व गुण लिंग आदि से वर्जित है फिर भी वर्णन में निर्वाह के लिए, उसे पुल्लिङ्ग शब्द, स्त्रीलिङ्ग शब्द और नपुंसकलिङ्ग शब्दों में से किसी भी शब्द से कहा जा सकता है। उनमें कोई भेद या विरोध नहीं आता। इस प्रकार सबकी मूलभूता शाक्तागमों में प्रतिपादिताशक्ति परब्रह्मरूपा ही है। वही क्रीड़ा के लिए पुरुष का प्रकल्पन करती है। श्रुतियों में प्रतिपादित इच्छा और स्वातन्त्र्य आदि उस परतत्त्वरूपा महाशक्ति की शक्तियाँ हैं। श्रीदेवी-भागवत में इस प्रक्रिया के अनुसार कहा गया है कि—

> सृष्ट्वाऽखिलं जगदिदं सदसत्स्वरूपं,
> शक्त्या स्वया त्रिगुणया परिपाति विश्वम् ।
> संहृत्य कल्पसमये रमते तथैव,
> तां सर्वविश्वजननीं मनसा स्मरामि ।।
> —(देवीभागवत १।२।५) ।

श्रीदेवीभागवत में आगम प्रक्रिया के अनुसार महाशक्ति के विस्तार देखने को मिलता है और उससे सिद्ध होता है कि अनेक आगम ग्रन्थों में देवीभागवत को प्रमाण कोटि में स्थान दिया गया है। मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सप्तशती स्तोत्र के प्रकरणों में महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती का सत्त्वादि गुणों की अधिष्ठात्री के रूप में विवरण है। विष्णुनिद्रा के रूप में संस्थिता महाकाली संहारकर्त्री है। ब्रह्मा ने जब उसकी स्तुति की तो वही विष्णु की जगानेवाली हुई। सृष्टि के प्रतिबन्धक मधु कैटभ नामक असुरों को व्यामुग्ध करके उनका विनाश करने के कारण वह सृष्टि में भी प्रमुख हैं।

इसी प्रकार देवों के उत्पन्न होने पर उन सब में अनुप्रविष्ट और उनके तेजःसंधान से प्रकट होकर भगवती महालक्ष्मी ने तमोगुण के परिणाम भूत क्रोधादिरूप महिषासुरादि का विनाश करके जगत् का पालन किया। भगवती महासरस्वती ने अहंकार और ममता रूपवाले शुंभ निशुंभ का नाश किया, वे ही आत्यन्तिक लय रूप मुक्ति प्रदान करने वाली बतलाई गई हैं। उन्होंने समाधि वैश्य को मुक्ति के लिए ज्ञान प्रदान किया।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में पञ्चशक्ति वाद उपलब्ध होता है—

> गणेश जननी दुर्गा राधा लक्ष्मीः सरस्वती ।
> सावित्री च सृष्टि विधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता ।।
> — (ब्रह्मवैवर्त, प्रकृतिखण्ड १।१) ।

ब्रह्मवैवर्त में शक्ति के विवरण में कहा गया है—

> नारायणी सा परमा सनातनी शक्तिश्च पुंसः परमात्मनश्च ।
> आत्मेश्वरश्चापि यथा च शक्तिस्तया विना स्रष्टुमशक्त एव ।।
> —(ब्र. वै. पु. १।१२) ।

इससे शक्ति और ब्रह्म के तादात्म्य की सिद्धि होती है और सृष्टि में शक्ति की प्रधानता को भी यहाँ स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया गया है।

भगवती राधा आल्हाद-शक्ति-रूपा है वह ब्रह्म को भी अपने आनन्द का अनुभव कराती है। अन्यत्र भी वह आनन्द का संचार करती है, स्वयं भी ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करती है, यह विषय चैतन्य सम्प्रदाय में विस्तार से उपलब्ध है। ब्रह्म यद्यपि स्वयं आनन्दरूप ही है परन्तु उसका अनुभव राधारूपी शक्ति की सहायता से होता है। इसी प्रकार शिव की शक्ति दुर्गा के विषय में विविध कथानक उपलब्ध होते हैं।

आगमशास्त्र में परमशिव के पाँच धर्मों की व्याख्या प्राप्त होती है। वे हैं—परम आनन्द, पूर्णज्ञान, त्रिकालाबाध्य सत्ता, सर्वभवन सामर्थ्य और सर्वकर्तृता। ये ही पाँचों धर्म पंचकंचुक के रूप में जीव का बन्धन करते हैं। इस प्रकार निगम और आगम में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। आगम शास्त्र उपासना की दृष्टि से उपासकों के रुचि वैचित्र्य के कारण दुर्गा, लक्ष्मी, कृष्ण, विष्णु, राम, शिव, पशुपति, हिरण्यगर्भ, स्वयंभू, सूर्य, गणेश आदि नामों और उनके विभिन्न स्वरूपों और आराधना पद्धतियों का विवरण देते हुए मूलतत्त्व की ओर उपासक की दृष्टि आकृष्ट करता है। यह सारा प्रतिपादन की प्रक्रिया का भेद ही है। निगम या आगम में वस्तुतः किसी भेद का प्रतिपादन कहीं भी अभीष्ट नहीं है।

आगमशास्त्रों का उद्देश्य क्रिया शक्ति को उद्बुद्ध करके अनिष्ट निवारण द्वारा परमपद को जीव को प्राप्त करा देना ही है।



मानवजीवन में आगम* की उपयोगिता

डा० श्रीनारायण मिश्र

इस विश्व के असंख्य जीवों में मानव की मूर्धन्यता में कोई विवाद नहीं है। इसी लिए मानवसृष्टि को सृष्टिकर्त्ता की शक्ति की पराकाष्ठा माना गया है। इस प्रसङ्ग में श्रीमद्भागवत की निम्नलिखित पद्य स्मरणीय है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

इससे स्पष्ट है कि मानव की मानवता इसकी विवेकशक्ति में निहित है।

अब प्रश्न यह है कि यह विवेकशक्ति मानव को कैसे मिलती है। इसे स्वाभाविक तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि तब तो मानवमात्र में विवेकशक्ति माननी होगी, जो स्पष्ट ही एक असङ्गत पक्ष है। अतः इसे अर्जित ही कहना होगा। इसका अर्जन एकमात्र प्रमाणभूत शब्द (=शास्त्र) के अध्ययन से सम्भव है, जैसा स्वयं श्रुति ही कहती है—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति," "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि," "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्," "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इत्यादि। केवल परमतत्त्व ज्ञानस्वरूप विवेक ही नहीं, इस विश्व के स्थूल पदार्थों का ज्ञान भी मुख्य रूप में शब्द प्रमाण की ही अपेक्षा रखता, क्योंकि समस्त स्थूल पदार्थों को भी हम विविध प्रतिबन्धकों के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जान सकते। अनुमान का क्षेत्र भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा व्यापक होकर भी शब्द की अपेक्षा तो व्याप्य ही है, क्योंकि उसके लिए लिङ्गज्ञानादि की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति यदि सर्वदा असम्भव नहीं तो कम से कम दुस्साध्य है ही। शब्द प्रमाण द्वारा ज्ञानार्जन में यह प्रपञ्च नहीं है। यद्यपि न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर ने शब्द के साथ-साथ अनुमान प्रमाण को भी 'महाविषय' कहा है, तथापि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर शब्द से ज्ञान की प्राप्ति जितने व्यापक और सरल रूप में होता, उतने अनुमान से नहीं। इसी लिए सांख्यकारिकाकार ने अनुमान से भी अगम्य अलौकिक अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञान के लिए भी शब्द प्रमाण को ही स्वीकार किया है—

तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्।

इस प्रकार आब्रह्मस्तम्बपर्यंतविषयक विज्ञान के अधिगम के लिए शब्द प्रमाण स्वरूप आगम का महत्त्व स्पष्ट है। अब हमें विवेक के उदय के लिए जिस मानसिक स्थिति की आवश्यकता होती है उसके लिए आगम की उपयोगिता पर भी विचार कर लेना चाहिए। अन्तःकरण में तत्त्व-विवेक की इच्छा तथा तदनन्तर यथा समय विवेकोदय तभी हो पाता है जब निष्काम कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण नितान्त निर्मल हो जाता है। इस विषय में श्रुति स्वयं कहती है—"विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन," "विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इत्यादि। अन्तःकरण की स्वच्छता के लिए कर्मानुष्ठान की आवश्यकता—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते" इत्यादि गीतावचन से और "तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता" इत्यादि श्रीमद्भागवत के वक्तव्य से भी प्रमाणित है।

अतः सिद्ध है कि विवेकोदय के लिए अपेक्षित अन्तःकरण की स्वच्छता कर्मानुष्ठान पर निर्भर है। इस प्रसङ्ग में पद्मपुराण का निम्नलिखित पद्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—

"भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥"

इसमें निर्दिष्ट सत्सङ्गति ही आठ सिद्धियों के अन्तर्गत 'सुहृत्प्राप्ति' है। उपर्युक्त कर्मानुष्ठान के लिए कर्मस्वरूप का परिज्ञान अनिवार्य है। कर्म की गति गहन है, अतः बिना आगम के इसका अधिगम अशक्य है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ॥

इस प्रकार विवेकोदय के लिए, अपेक्षित अन्तःकरण की स्वच्छता के लिए, कर्त्तव्य-कर्मों के स्वरूप के अधिगम के लिए भी आगम का महत्त्व सर्वाधिक है, क्योंकि शिष्टाचार भी स्मृति का और स्मृति श्रुति का ही अनुमान करा कर अथवा शिष्टाचार साक्षात् ही श्रुति का अनुमान करा कर उस अनुमित आगम से ही कर्म के स्वरूप का बोधक होता है, स्वतः नहीं।

अब हमें विवेकशक्ति के सङ्क्रमण की दृष्टि से भी आगम की उपयोगिता पर विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि विवेकशक्ति वस्तुतः तभी सार्थक है, यदि इससे अन्य व्यक्ति भी लाभान्वित हों। अन्यथा स्व तक सीमित विवेकशक्ति स्वार्थमात्र के साधन में पर्यवसन्न होकर अपनी गरिमा से च्युत हो जाती है। इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत की प्रह्लादकृत नृसिंहस्तुति का यह वक्तव्य बहुत ही रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है—

"प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।

---

*आगम शब्द के अनेकार्थक होने पर भी प्रकृत निबन्ध में इसे शब्द-प्रमाणार्थक समझना चाहिए।

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥"

यही कारण है कि हमारे देश के महापुरुष अपने विवेक से सामान्य जनता को लाभान्वित करने के उद्देश्य से देश-विदेश में परिभ्रमण कर लोगों को उपदेश देते रहे हैं। विद्योपयोग की चार क्रमिक अवस्थाओं में 'प्रवचनकाल' की मान्यता का भी यही अभिप्राय है।

अब विचारणीय यह है कि अपनी विवेकशक्ति को दूसरों तक पहुँचाने का साधन क्या है? यह सत्य है कि इङ्गित-चेष्टित आदि अभिनयों से भी हम अपनी विवेकशक्ति को दूसरों तक पहुँचा देते (अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था विज्ञायन्ते—अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च—महाभाष्य) और भाषाशास्त्र का यह सिद्धान्त है भी कि प्रारम्भ में अभिनय द्वारा ही भावना का सङ्क्रमण किया जाता था, तथापि इसका अपलाप नहीं किया जा सकता कि अभिनय इसका अपूर्ण साधन है, क्योंकि इसके द्वारा स्पष्ट एवं सरल रीति से सङ्क्रमण-सम्प्रेषण कठिन ही नहीं, कभी-कभी असम्भव भी हो जाता है। सम्प्रेषण का यदि कोई भी साधन पूर्ण है तो वह है 'शब्द'। यद्यपि शब्द भी कभी-कभी विफल हो जाता है, जैसा स्वयं श्रुति ब्रह्म के विषय में कहती है—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" और आचार्य दण्डी ने भी—

"इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥"

कह कर शब्द की विफलता का समर्थन किया है तथापि इसमें सन्देह नहीं कि सङ्क्रमण में सर्वाधिक पूर्णता शब्द में ही है। इसी लिए आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श के आरम्भ में ही कहा है—

"इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्त्तते ॥
इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥"

वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने भी स्पष्ट कहा है—

"अर्थं प्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम् ॥"

अभिनय की सम्प्रेषण में अपूर्णता का अनुभव होने पर मानव द्वारा भाषा आविष्कार की भाषावैज्ञानिक मान्यता भी शब्द के उपर्युक्त महत्त्व का समर्थन करती है। इसी लिए महाकवि भारवि ने उन्हीं को उत्कृष्ट विद्वान् कहा है जो अपने मनोभाव को शब्द में व्यक्त कर सकें—

"भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां
मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये ॥"

महाकवि कालिदास ने भी विशद ज्ञान के साथ-साथ उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति करने वाले शिक्षक को ही मूर्धन्य स्थान दिया है—

"श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥"

यह मान्यता बहुत ही उचित है, क्योंकि शब्द ज्ञान की ही तो बाह्य अभिव्यक्ति है। भर्तृहरि ने भी कहा है—

"अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥"

"आख्यातोपयोगे" इस योग का खण्डन करते समय महाभाष्यकार ने भी यही दृष्टि अपनाई है। "आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्" इत्यादि पाणिनिशिक्षोक्त वर्णोच्चारणप्रक्रिया से भी उपर्युक्त मत का ही परिपोषण होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भावाभिव्यक्ति के साधनों में शब्द का स्थान सर्वोपरि है। यही कारण है कि "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" यह अर्थवादात्मक शब्द, इसके ज्ञान तथा प्रयोग की इतनी महत्ता बतलाती है। उपर्युक्त समस्त तथ्यों को ध्यान में रखकर ही भाषाशास्त्र मर्मज्ञ महर्षि यास्क ने कहा है—

"अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।" निरुक्त के भाष्यकार दुर्गाचार्य ने शब्दातिरिक्त सङ्क्रमणसाधन (अभिनय) की विफलता और शब्द की सफलता का बड़े ही रोचक ढंग से निरूपण किया है।

अब कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि विवेकशक्ति के सङ्क्रमणार्थ शब्द का कितना अधिक महत्त्व है। विवेकशक्ति के साथ-साथ अन्यान्य सामान्य मनोभावों के सङ्क्रमण का भी शब्द ही सर्वोत्तम साधन है—इसमें किसी का कोई विवाद नहीं। यह शब्द भी प्रमाणभूत शब्द ही होना चाहिए, क्योंकि जिसके ऊपर विश्वास नहीं होता उसका शब्द प्रवर्त्तक या निवर्त्तक नहीं होता।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध है कि मानवजीवन का निर्वाह आगमस्वरूप शब्द प्रमाण के बिना असम्भव है। यही कारण है कि हमारे दार्शनिक सम्प्रदायों में आगम प्रमाण को बहुत ही ऊँचा स्थान दिया गया है। वैशेषिक एवं बौद्धदार्शनिकों की दृष्टि में भी आगम का महत्त्व साधारण नहीं है, भले ही विशुद्ध तर्क के आधार पर वे इसे स्वतन्त्र प्रमासाधन के रूप में नहीं गिने। हाँ, चार्वाक इसे महत्त्व नहीं देता, किन्तु जीवन निर्वाहार्थ उसे भी इसका उपयोग करना ही पड़ता है। तभी तो बार्हस्पत्य सूत्र आदि चार्वाक-साहित्य का भी सार्थक्य है। अतः संक्षेप में यदि कहा जाय कि मानव की मानवता आगम द्वारा ही सुरक्षित हो सकती है तो अत्युक्ति न होगी। अन्त में, भारवि के निम्नलिखित पद्य द्वारा इस निबन्ध का उपसंहार किया जा रहा है—

"मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम् ॥"

आगम स्वरूप विमर्श

डॉ० श्रीपतिराम त्रिपाठी

इस समस्त संस्कृत वाङ्मय रूप समुद्र का अवगाहन कर निमज्जो-न्मज्जन पूर्वक, ज्ञान समुद्र की अन्तःस्तल स्पर्शन कर, प्राप्त किये गये समस्त रत्न सामग्रियों में से आगमप्रोक्त शिवशक्ति सामरस्यावस्था, लक्ष्मीनारायण स्वरूप सामरस्यावस्था का परिज्ञान रूप दिव्य सर्वोत्कृष्ट रत्न के स्वरूप की अभिव्यक्ति करने वाला शास्त्र आगम शास्त्र कहलाता है। अतएव आगम शब्द की अक्षरशः व्युत्पत्ति प्रसङ्ग में यह श्लोक स्मृति पथ पर आता है—

"आगतं शिव वक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मतञ्च वासुदेवेन आगमः सम्प्रचक्षते॥"

इस प्रकार कहीं कहीं भगवती पार्वती भैरवी रूप में श्रोत्री बनती हैं तथा भगवान शंकर वक्ता। कहीं शक्ति की प्रधानता लिये हुये भगवती पार्वती प्रवक्त्रि बनती हैं और भगवान शंकर श्रोता।

इस प्रकार वक्ता और श्रोता के भेद से शैवागम, शाक्त-आगम का सम्बन्ध परिलक्षित होता है।

"मतञ्च वासुदेवेन" कथनानुसार वैखानसपाञ्चरात्रादि-वैष्णवागम प्रतिपादक ग्रन्थों के माध्यम से वैष्णवागम एक विशिष्ट स्थान रखता है।

इस प्रकार श्लोकोक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर प्रमुखतः आगम के तीन भेद—शैवागम, शाक्तागम और वैष्णवागम परिलक्षित होते हैं किन्तु तदुत्तरवर्ती विद्वानों ने, तपस्वियों ने, मनीषियों ने शास्त्रगत वहीं वेद मन्त्रों के आधार पर "सदेवेदं ब्रह्म असदेवेदं ब्रह्म" आदि श्रुतियों के आधार पर आगमोक्त तत्वों की अभिव्यञ्जना करते समय सिद्धों—नागार्जुन आदि दार्शनिकों ने सद्-असद-सदसद विशिष्ट आदि सप्तभङ्गी न्यायादि के द्वारा बौद्धागम-जैनागम का भी आगम रूप से ग्रहण किया है।

इस प्रकार आगम रूप से शैवागम, शाक्तागम, वैष्णवागम, जैनागम एवं बौद्धागम भेद से पाँच भेद होते हैं। इनके भेद-उपभेदों की गणना अभिनवगुप्ताचार्य शैव दर्शन के प्रमुख दार्शनिक माहेश्वर स्वरूप ने अपने तन्त्रालोक नामक ग्रन्थ में प्रथम आह्निक में ही विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। तदनुभगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य ने समस्त दर्शनों की तात्विक विवेचना करते हुये खण्डन मुद्रा से विचार रखते हुये, 'एकमेवोऽद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों की मार्मिक व्याख्या से अद्वैतवाद की। बाद में पराशक्ति की मुख्यता के बिना शिव शव हो जाता है; निश्चेष्ट, निष्क्रिय, निर्विकार एकमात्र रूप रह जाता है। उसमें शक्ति की कमी ही मूलकारण है, ऐसी भावना से ओतप्रोत, सौन्दर्य-लहरी नामक ग्रन्थ में शक्ति की प्रबलता शिवाऽपेक्षया परिलक्षित होता है। उदाहरण के तौर पर—

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वां आराध्यं हरिहरविरञ्चादिभिरपि,
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृत पुण्यप्रभृतिभिः॥"

इस श्लोक से शिव एवं शक्ति में शक्ति की प्रधानता अपेक्षाकृत विशेष मानते हुये—

चतुष्षष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनम्
स्थितस्तत्तत् सिद्धिः प्रसवपरतन्त्रैः पशुपति।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्॥

इस प्रकार एक शक्ति और शक्तिमान की यामलावस्था, युगनद्धावस्था, सामरस्यावस्था किसी भी शब्द से ततद तान्त्रिक आगम ग्रन्थों में मिलता है।



आगम शब्द के अर्थ

पं० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

संस्कृत भाषा की विराट् शब्दावली में शतशः ऐसे शब्द हैं, जो अनेक अर्थों को प्रकट करते हैं। विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न अर्थों को प्रकट करने वाली अमर भाषा संस्कृत की यह शब्द राशि इस भाषा के निस्सीम वैभव का एक उज्ज्वलतर विन्दु है। विश्वास है कि उक्त चर्चा से सहृदय पाठकों के विचार स्रोत में गुण, अलंकार, रस, ध्वनि आदि सैकड़ों शब्द आ गए होंगे, जिनकी अर्थ धाराएँ आज भी विभिन्न सन्दर्भों में अपनी विविध भंगिमाओं के कारण आनन्द का संचार कर रही हैं।

ऐसे शब्दों के अर्थों में कई बार बहुत ही सूक्ष्म अन्तर रहा करता है। विभिन्न शास्त्रों ने आवश्यकतानुसार अपनी-अपनी परिभाषाओं के विभिन्न अर्थ इन शब्दों को अर्पित किये हैं। सांख्य ने सत्त्व, रज, तम और प्रकृति को गुण कहा, न्याय ने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि २४ संख्या में अपने पारिभाषिक गुण को प्रकट किया। साहित्य ने ओज, प्रसाद, माधुर्य को गुण कहा। मानव में धीरता, उदारता, गंभीरता आदि अनेक तत्त्वों को गुण कहा गया, रस्सी को भी गुण कहा गया। यह स्थिति सर्वत्र समझी जा सकती है।

किसी शब्द को पारिभाषिक नया अर्थ 'इदं प्रथमतया' समर्पित करने वाले आचार्य ने उसके पहिले उस शब्द के प्रचलित और सुप्रयुक्त अर्थ के साथ इस अपने द्वारा समर्पित किये जा रहे अर्थ का व्युत्पत्ति आदि के आधार पर कुछ न कुछ साम्य अवश्य बैठाया, यदि प्रथम आचार्य से वह बात छूट गई तो आगे के प्रसिद्ध व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्या में इसे अवश्य स्पष्ट किया। अनेकानेक ग्रन्थों के विशिष्ट सन्दर्भों का अवलोकन करने से वैदिक साहित्य से ही विशेष कर ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रन्थों से ही इस प्रकार की प्रक्रिया परम्परा के दर्शन प्रारंभ हो जाते हैं।

अस्तु, प्रस्तुत आगम शब्द के सन्दर्भ में भी उक्त बात अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

'आगम' शब्द के प्रयोग भी अनेक व्युत्पत्तिलभ्य और पारिभाषिक अर्थों के गौरव से अलंकृत हैं।

स्पष्ट ही है कि 'आगम' शब्द 'आ', तथा 'गम' इन दो शब्दों का संयुक्त रूप है। 'गम' का अर्थ जाना है, तथा 'आ' उपसर्ग के चारों ओर से, तथा सामीप्य आदि अनेक अर्थ हैं। उपसर्ग और धातु के संयोग होने पर सूक्ष्म भेद रखने वाले अनेक अर्थ उस शब्द से प्रकट होने लगते हैं। 'आगम' का अर्थ उत्पत्ति भी है, व्युत्पत्ति भी है आना, दूसरे शरीर से दूसरे शरीर में आना। कालिदास कहते हैं—

"लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्यागमः कुतः"।

जो लता पहिले ही काट दी गई है, उसमें पुष्प का 'आगम' कहाँ से होगा। उस लता में फूल कहाँ से पैदा होगा या खिलेगा। भगवान् श्री कृष्ण गीता में कहते हैं :—

"अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते"।

जब दिवस का आगम (आगमन) होता है तो सारे पदार्थ अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आ जाते हैं और रात्रि के आगम (आगमन) पर वे सारे पदार्थ प्रलीन हो जाते हैं। 'आगम' का यहाँ अर्थ रात और दिन का आगमन ही हुआ। अन्यत्र भगवान ने कहा—"आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत"।

सम्प्राप्ति अर्थ को मुद्राराक्षस नाटक में—

"एषोऽस्या मुद्राया आगमः" के द्वारा प्रकट किया गया है। शास्त्राभ्यास और शास्त्र सामान्य के अर्थों को प्रकट करने के लिए भी आगम शब्द का बाहुल्येन प्रयोग किया गया है। महाकवि भारवि कहते हैं—

"मतिभेदतमस्तिरोहिते
गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः
कुरुते दीप इवार्थ दर्शनम्"॥ (किरातार्जुनीयम्)

जब विवेकी पुरुषों के सामने कर्तव्य अकर्तव्य मतिभेदों के अन्धकार ढँक जाते हैं, उस संकट काल में अभ्यास पूर्वक ग्रहण किया हुआ विशुद्ध "आगम" दीपक के समान मार्ग दिखाने को उद्यत रहता है। कालिदास ने दिलीप के व्यक्तित्व चित्रण में कहा है—

"प्रज्ञया सदृशागमः
आगमैः सदृशारम्भः"
आरम्भसदृशोदयः"।

दिलीप की जितनी निर्मल प्रज्ञा थी उसी के सदृश दृढ़ और निर्मल शास्त्रज्ञान था और शास्त्रज्ञान की सदृशता रखनेवाला ही आरम्भ, उसके प्रजापालनादि कार्यों के प्रारम्भ थे।

भारवि ने—"उपपत्तिरुदाहृताबलादनुमानेन न चागमः क्षतः"—कहकर प्रकट किया है कि शास्त्रों की बातों को तर्ककुशल लोग अनुमान शैली से क्षत कर देते थे परन्तु युधिष्ठिर के कथनानुसार भीमसेन ने अपनी उक्तियों में यह दुर्गुण नहीं आने दिया, अनुमान से 'आगम' को क्षत नहीं किया। विभिन्न शास्त्र विभिन्न आगमों के रूप में व्यवहृत हुए हैं—

"बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः"

"सिद्धि तक पहुँचाने वाले रास्ते आगमों के रूप में विभिन्न प्रकार के हैं।"

महाभाष्यकार ने वेद को आगम शब्द से गृहीत किया है। व्याकरण के प्रयोजनों की गणना में आगम को तीसरा स्थान मिला है—

"रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्"

"आगमः खल्वपि" कहते हुए वे कहते हैं कि वेद भी व्याकरण के प्रयोजन को मूर्धन्य रूप से स्वीकार करता है—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" यहाँ वेद के छह अङ्गों में महाभाष्यकार ने व्याकरण को प्रमुखता देते हुए आगम या वेद की दृष्टि में व्याकरण के प्रयोजन की पुष्टि की है।

कुछ काल से 'आगम शास्त्र" और 'आगम दर्शन' आदि शब्द ग्रन्थों की एक विशेष प्रकार की परंपरा के लिए प्रयोग में आने लगे। "आगम' शब्द के साथ अनेक महत्त्वपूर्ण विशेष शब्द लगने लगा, जैसे "वैष्णवागम", "शैवागम", "शाक्तागम", "जैनागम", "बौद्धागम" आदि। किसी विद्वान् ने उक्त विषयों पर निर्मित सहस्रों ग्रन्थों का ऐतिहासिक अनुशीलन करते हुए प्रकट किया कि तन्त्र और आगम एक ही काल प्रवाह की समुद्भूतियाँ हैं। तन्त्र और आगम दोनों ही पुराण और रहस्यात्मक प्रतीकों को अपना आधार बनाते हैं. वे वेदों में से अपने प्रमाण की सामग्री के संचय में प्रयत्नशील नहीं होते। उन ग्रन्थों में सृष्टि आदि रहस्यों के आदि प्रवक्ता तत्तद् देवता शिव, विष्णु, भगवती, भैरव आदि बतलाए गए हैं। यह शैली पौराणिक शैली से ही साम्य रखती है।

अन्य विचारक आगम और तन्त्र के अन्य वाङ्मय विधाओं से इस प्रकार के भेद बिन्दु को अस्वीकार करते हुए विशेष प्रकार की गुरु परंपराओं को ही आगम विशेषों का कारण बतलाते हैं। वैष्णवागमों के ग्रन्थों में जहाँ महाभारत, श्रीमद्भागवत, गीता आदि ग्रन्थों से प्रमाण उपस्थित किये गए हैं, शैव तथा शाक्त आगम के ग्रन्थों के नामकरणों में 'यामल' आदि विशिष्ट शब्दों के भी प्रयोग मिलते हैं, इससे भी इनकी विशिष्ट परंपराएँ प्रकट होती हैं।

आगम ग्रन्थों के प्रतीकात्मक पक्षों पर कई शताब्दियों से अनेक पूजा पद्धतियों का और सामयिक धार्मिक उत्सवों का विकास हुआ जिनसे जनता की जीवन धारा बहुत अधिक प्रभावित हुई। प्रतीकार्थों की गूढ़ताओं की जानकारी के अभाव में इन दार्शनिक आधारों के व्यावहारिक पक्ष को बल देने के लिए निर्मित मठों के मठाधीशों ने भौतिक अर्थों को ग्रहण कर उनके अर्थों की व्यावहारिक विकृतियाँ भी उपस्थित कीं जिनसे मध्यकाल का भारतीय इतिहास बहुत अधिक प्रभावित है।

प्रातः स्मरणीय श्री चरण स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने अपने अनेक लेखों में इन विकृतियों की भर्त्सना करते हुए उनके प्रतीक रूप वास्तविक अर्थों का विवेचन और उपबृंहण किया जो 'सिद्धान्त' पत्रिका के प्राचीन अंकों में सुलभ हैं। ●

सिद्ध परम्परा के साधना मार्ग

डा० बलजिन्नाथ पण्डित

जीवन दर्शन की विद्या में भारत में अनादिकाल से तीन विचार-धाराओं की परम्पराएँ चलती आई हैं। उनमें से एक है ब्राह्मण परम्परा जिसका प्रारम्भ वैदिक आर्यों के भारत में बस जाने के साथ ही साथ हुआ और जिसका विकास सूत्रों और उपनिषदों के युग में पराकाष्ठा पर पहुँचा तथा जिसका स्पष्ट स्वरूप हमारे स्मृति-शास्त्रों में मिलता है। यह परम्परा कर्मप्रधान है और वर्ण-आश्रम के अनुशासन की इसमें विशेष महत्ता है। इस परम्परा के अनुसार जीवन के चार प्रयोजन हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये प्रयोजन श्रौत स्मार्त धर्म के आचरण से और वैदिक दर्शनविद्या की उपासना से पितृयान और देवयान नाम की गतियों के मार्ग से प्राप्त हुआ करते हैं।

जीवन दर्शन की हमारी दूसरी परम्परा है श्रमण परम्परा। इसका प्रारम्भ ई० पू० सातवीं-आठवीं शताब्दियों में आजीवकों तथा प्राचीन तीर्थ-ङ्करों से हुआ। अगली शताब्दियों में जैनों और बौद्धों ने इसे पर्याप्त विकास में लाया। आगे अशोक और कनिष्क जैसे प्रभावशाली सम्राटों के संरक्षण और प्रोत्साहन में यह परम्परा एक तो अपने विकास की चर्मसीमा पर पहुँच गई और दूसरे विदेशों में भी इसका पर्याप्त प्रसार हुआ। इस परम्परा में जीवन के प्रयोजनों में से अर्थ और काम को हेय माना गया, धर्म के भी अर्थोन्मुख और कामप्रयोजनक अङ्गों की अवहेलना हुई और केवल यति-धर्म को ही सराहना मिली। इस परम्परा में सीधे मोक्षप्राप्ति ही की ओर अग्रसर हो जाने पर विशेष बल दिया गया।

भारत में जीवन दर्शन की एक और परम्परा अनादिकाल से चलती ही आ रही है, चाहे जन साधारण में उसका प्रचार और विशेष प्रसार कभी भी हुआ नहीं। यह परम्परा है सिद्धों की परम्परा। इस परम्परा के अनुयायी इने गिने सन्त, मुनि, ऋषि, योगी और अनेकों राजर्षि भी रहे। इस परम्परा की यह विशेषता है कि प्राचीन युगों में जन साधारण में उसका प्रचार नहीं किया गया। परमेश्वर के इने गिने अनुग्रह-पात्रों को ही इस परम्परा के अधिकारी माना गया। इस परम्परा के सिद्धान्तों को प्राचीन युगों में पुस्तकों में प्रायः नहीं लिखा गया। गुरुओं और शिष्यों की परम्परा के क्रम से ही यह सिद्ध परम्परा चलती रही। जनक जैसे राजर्षि, अगस्त्य, दत्तात्रेय, परशुराम, दुर्वासा जैसे सिद्धर्षि इस परम्परा के अभ्यासी और प्रचारक रहे। इस परम्परा में जीवन के दो प्रयोजन माने गए—भोग और मोक्ष। धर्म, अर्थ और काम तीनों भोग में गिने गए। वैदिक धर्म का फल है स्वर्गप्राप्ति और स्वर्ग एक उत्कृष्ट भोग भूमि है। अतः उस धर्म की उपासना को भी भोग में ही गिना गया।

ब्राह्मण परम्परा में भोग और क्रमिक-मोक्ष दोनों को उचित स्थान मिला। इस दृष्टि से ब्राह्मण परम्परा सिद्ध परम्परा से मिलती जुलती है। परन्तु ब्राह्मण परम्परा में वर्ण आश्रम के अनुशासन की और विधि निषेधों के जालों की बहुत प्रधानता रही। फिर इस परम्परा का मार्ग कष्टप्रद मार्ग था, सुखमय मार्ग नहीं था। इसके विपरीत सिद्ध परम्परा में वर्ण-आश्रम के अनुशासन का तथा विधिनिषेधों का कोई विशेष बन्धन नहीं है। श्रमण बड़े तपस्वी होते थे। उनके मार्ग में भी वर्ण आश्रम के अनुशासन के लिए कोई स्थान नहीं था। परन्तु विधि निषेधों की भरमार उसमें भी थी। उस भरमार से ऊब कर ही अभिनव श्रमणों ने वृद्ध श्रमणों (स्थविरों) के विरुद्ध एक जरा ढीले नियमों वाले महायान सम्प्र-दाय को चलाया था। जैन परम्परा में विधि निषेधों की प्रधानता अभी तक चल रही है। श्रमणों के तपोबल का काफी प्रभाव ब्राह्मणों पर भी पड़ा। तभी तो ब्राह्मण परम्परा के पुनः प्रवर्तन के युग में जिन वैदिक दर्शनों का विकास हुआ उनमें यम, नियम, वैराग्य, भिक्षावृत्ति, तपस्या आदि श्रमणधर्मों को पर्याप्त प्रधानता मिली। इस तरह से इन दोनों परम्पराओं में परस्पर आदान प्रदान भी काफी हुआ।

सिद्ध परम्परा ने अन्य परम्पराओं से विशेष आदान नहीं किया, परन्तु उन्हें प्रदान काफी किया। भारत की योग विद्या मूलतः सिद्ध-विद्या है। इस विद्या की कोई भी साक्षी ऋग्वेद में नहीं मिलती है। 'योग अभ्यास' के अर्थ में 'योग' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में कहीं भी नहीं हुआ है। यही हाल यजुर्वेद संहिता का भी है। वैदिक साहित्य में योगाभ्यास का उल्लेख उपनिषदों में ही मिलता है और उपनिषदों का युग पर्याप्त मात्रा में अर्वाचीन है। योग विद्या के प्रचार की साक्षी हमें मोहेंजोदड़ों के शिश्नदेवों (लिङ्ग पूजकों) के नगरों के अवशेषों में पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि योग विद्या मूलतः ब्राह्मण-परम्परा की विद्या न होकर योगियों, सिद्धों और लिङ्ग पूजकों तथा योनि-पूजकों की विद्या है। सिद्ध-परम्परा में सबसे अधिक महत्त्व योग विद्या को ही मिलता रहा है। इसी परम्परा से इस विद्या को ब्राह्मणों और श्रमणों ने सीखा। सिद्ध परम्परा का योग भी ब्राह्मण परम्परा के और श्रमण परम्परा के योग की अपेक्षा बहुत ऊँचे दर्जे का योग है। इस योग को भी प्रायः पुस्तकों में नहीं लिखा जाता था। इसका प्रचार गुरुओं और शिष्यों की परम्पराओं में ही होता रहा। भगवान् कृष्ण को सिद्ध पर-म्परा के योग की प्राप्ति महामुनि दुर्वासा से हुई थी। तभी भगवद्गीता में उस योग के कई एक ऐसे रहस्य विद्यमान हैं जिनका स्पष्टीकरण ब्राह्मण और श्रमण अभी तक नहीं कर पाये। श्रमणों ने उस योग की कुछ एक

प्रक्रियाओं को अपनाकर योगाचार सम्प्रदाय को चलाया। ब्राह्मण परम्परा के दर्शन गुरुओं ने भी ऐसा किया और उसके फलस्वरूप पतञ्जलि के योगसूत्र का निर्माण हुआ।

भारत में आगे जीवनदर्शन की एक और परम्परा भी चली जिसे भक्त परम्परा कहते हैं। इस परम्परा के आदि गुरुओं ने सिद्ध परम्परा से भेदात्मक भक्ति साधना को और क्रिया योग की कुछ साधनाओं को लेकर वैष्णव सम्प्रदाय को चलाया। इसी सम्प्रदाय के अनेकों गुरुओं ने सिद्ध परम्परा से सीखी हुई प्रेम-भक्ति प्रधान योग प्रक्रियाओं का तथा उस भक्ति की अन्य अन्य साधनाओं का स्पुट वर्णन पांचरात्र संहिताओं में किया। इस तरह से सिद्ध परम्परा के अनेकों सिद्धान्त वैष्णवी रंग में प्रकट होकर पांचरात्र आगमों में समा गए।

ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में शरहा नामक भिक्षु ने सिद्ध परम्परा के कौलाचार की उपासना पद्धतियों को सीख कर श्रमणों में उनका प्रचार करते हुए बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा को चलाया। शरहा की परम्परा में पद्मसम्भव नामक सिद्ध ने व्यावहारिक सिद्धियों को प्राप्त करके उनके बल से तिब्बत के धर्मगुरुओं को परास्त किया और वहाँ सिद्ध सम्प्रदाय की तांत्रिक-साधना-पद्धतियों को लेकर के एक श्रमण रङ्ग में रंगी हुई सिद्ध परम्परा को चलाया जिसे लामा धर्म कहते हैं। जब वैष्णवों और वज्रयानियों ने सिद्ध परम्परा के सिद्धान्तों को पर्याप्त विकृत रूप में अपने आगम ग्रन्थों में लिख करके उनका प्रचार काफी किया तो शुद्ध सिद्ध परम्परा के अनुयायियों को भी यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि सिद्ध विद्या को अपने शुद्ध और अविकृत रूप में संसार के सामने प्रकट कर ही दिया जाए। उसके फलस्वरूप दक्षिण के अट्ठाइस शैव आगमों का आविर्भाव और प्रचार हुआ। परन्तु उन अट्ठाइस आगमों में सिद्ध विद्या की उन्हीं साधनाओं का वर्णन किया गया जिनका प्रचार साधारण जनता में किया जा सकता था। सिद्ध परम्परा की जिन रहस्यमयी साधना पद्धतियों को सर्वसाधारणतया प्रकट करने से जनता पथभ्रष्ट हो सकती है, और अतः जिन पद्धतियों को रहस्य ही के रूप में रखा जाना उचित है, उनका निरूपण या वर्णन उपर्युक्त शैव आगमों में नहीं किया गया। अतः उन आगमों के विषय मुख्यतया चार ही रहे—चर्या, क्रिया, योग और ज्ञान।

परन्तु कलियुग की वृद्धि के साथ ही साथ बौद्ध सिद्धों की परम्पराओं में जब चीनाचार जैसे सम्प्रदायों के ग्रन्थों में सिद्ध विद्या की उन अति-रहस्यमयी साधनाओं का स्पष्ट वर्णन किया गया तो भारत के शाक्त गुरुओं ने भी बौद्ध सिद्धों का सामना करने के लिए वैसा ही किया। इस तरह से सिद्ध विद्या की साधना के कई एक सम्प्रदाय प्रकट हुए। इन सम्प्रदायों को आचार कहते हैं।

ब्राह्मण सम्प्रदाय से काफी मिलता-जुलता आचार दक्षिणाचार कहलाता है। यह विधि-निषेध प्रधान आचार है। कोई-कोई विद्वान् इस आचार को तथा शङ्कराचार्य के समयाचार को एक मानते हुए दोनों को वेदाचार के साथ जोड़ते हैं। परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के अन्तिम भाग में कहा है—

"दक्षिणं रौद्रकर्माढ्यम्" अर्थात् दक्षिणाचार में रौद्र कर्मों की भरमार है। टीकाकार जयरथ रौद्र कर्म का अर्थ मारण, मोहन, उच्चाटनादि घोर कर्म बताते हैं। परन्तु हमारे विचार में श्मसान सेवन, चिताभस्म लेपन, कपालधारण आदि पाशुपत साधकों के आचार को ही "रौद्रकर्माढ्यं" वहाँ कहा गया है।

सिद्धों के दूसरे आचार को वामाचार कहते हैं। साधारणतया इसे "उल्टा आचार" समझा जाता है। परन्तु हमारे विचार में "वाम" शब्द का अर्थ यहाँ "सुन्दर, मनोहर" है। अतः वामाचार हृद्य आचार है। हृदय को अच्छे लगने वाले मांस, मत्स्य, मदिरा, मुद्रा (विशेष प्रकार का खाद्य) और मैथुन इन पाँच मकारों का उपयोग इस आचार में होता है। अतः इसे वाम या हृद्य आचार कहा जाता है।

आगे कुलाचार और कौलाचार का स्थान है। ये मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा चलाए हुए आचार हैं। वामाचार की आलोचना करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि—"वामं सिद्धिसमाकुलम्", अर्थात् वामाचार की साधना से साधक को व्यावहारिक सिद्धियाँ बहुत अधिक प्राप्त होती हैं और साधक उन्हीं में बह सकता है तथा आध्यात्मिक प्रगति में अग्रसर नहीं होता। परन्तु कुल प्रक्रिया की उन्होंने कोई आलोचना नहीं की है। कुलाचार में भी पाँच मकारों का सेवन तो किया जाता है, परन्तु गुप्त रूप से कुलचक्र के भीतर ही किया जाता है और चक्रयाग के अवसर पर ही किया जाता है। आ० अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है कि विषयानन्द के उपभोग के लिए मकारों का सेवन करने वाले, तथा बिना मकारों के ही कुलचक्र याग करने वाले, दोनों ही पातकी होते हैं—

आनन्दकृत्त्रिमाहारास्तद्वर्जं चक्रयाजकाः।
द्वयेऽपि नरकं यान्ति.......................॥

कुलमार्ग और कौलमार्ग वस्तुतः दोनों एक ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि जब कुलाचार की साधना में विश्वात्मिका अभेद दृष्टि का उदय हो जाता है तो साधक कौल बन जाता है। उसके लिए नहीं कुछ हेय रह जाता है और न उपादेय। उसे सर्वत्र समत्व की दृष्टि खुल जाती है। तभी तो भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है कि—

"समत्वं योग उच्यते।"

ऐसे समत्वदृष्टिरूप योग पर आरूढ होकर ही जब कर्म किए जाते हैं तो वे बन्धन के कारण नहीं बनते। समत्वदृष्टि को अपना करके ही कर्म करने को कर्मकौशल कहा गया है—

"योगः कर्मसु कौशलम्।" क्योंकि इस कौशल से किए गए कर्म बन्धन में डाल ही नहीं सकते।

कौलाचार से उत्कृष्ट स्थान मताचार का है। उत्तर के चौंसठ शैव आगमों में आठ आगमों का नाम मताष्टक है। उन आगमों के नाम जयरथ ने श्री कण्ठी संहिता के आधार पर गिनाए हैं। उन आठ आगमों में प्रतिपादित जीवन मार्ग ही मताचार है। वे आगम आज कल नहीं मिलते हैं। अतः मताचार के विषय में स्पष्टतया कुछ कहा नहीं जा सकता है। अभिनवगुप्त ने केवल इतना कहा है कि समय दीक्षा के अनुशासन को मताचार में प्रमाण माना नहीं गया है। वहाँ बस इसी बात

पर जोर दिया गया है कि उस परिपूर्ण तत्त्व को जान लीजिए जिसे अनुशासन की सीमाओं में बांधा ही नहीं जा सकता—

समयादिनिषेधस्तु यत शास्त्रेषु कथ्यते।
निर्मर्यादं स्व-सम्बोधं सम्पूर्णं बुध्यतामिति ॥

सिद्ध परम्परा के सर्वोच्च आचार को त्रिक आचार कहा गया है। यह आचार काश्मीर शैव दर्शन में अपनाया गया आचार है। इस आचार में प्रधानता अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा (पुनः पहचान) को दी गई है। उसके विषय में कहा गया है कि वह प्रत्यभिज्ञा जिस साधक को जिस साधना से हो सके उसे उसी का अभ्यास करना चाहिए।

"तच्च यस्य यथैवस्यात् स तथैव समाचरेत्।" फिर यह भी कहा गया है कि सभी साधकों की मानसिक परिस्थितियां एक जैसी नहीं होती हैं, अतः सभी के लिए एक ही साधनामार्ग उपयुक्त नहीं हो सकता है।

"चित्तभेदान्मनुष्याणां तत्त्वभेदो वरानने।"

त्रिक आचार में जीवन के दो फल माने गए हैं—भुक्ति और मुक्ति। फिर यह भी स्पष्ट बताया गया है कि जब तक मन में भुक्ति की वासनाएँ विद्यमान हों, तब तक मन को बलात्कार पूर्वक उनसे हटाकर रखने से उसमें उल्टी प्रतिक्रियाएँ होने का भय है जिससे साधक पतित हो सकता है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते हैं कि जिस तरह से यदि घोड़े को अपने अभ्यस्त मार्ग से हटा कर अनभ्यस्त मार्ग पर चलाया जाए तो वह सैंकड़ों उल्टे मार्गों से जाने की चेष्टा करता है, उसी तरह से मन को भी बलात्कार से किसी मार्ग पर चलाना हानिकारक होता है—

स्वं पन्थानं हयस्येव मनसो ये निरुन्धते।
तेषां तत् खण्डनायोगाद् धावत्युत्पथकोटिभिः ॥

उन्होंने ऐसा कहा है कि समाज में प्रतिष्ठित मर्यादा के भीतर मन और इन्द्रियों को विषयों का उपभोग करने दिया जाना चाहिए। उन्हें बलात्कार से वैराग्य में लगाना नहीं चाहिए। परन्तु साथ ही साथ मन्त्र जप, पूजा, योग आदि का अभ्यास करते रहना चाहिए। ज्यों ही उस अभ्यास से साधक को आत्मप्रत्यभिज्ञा के आनन्द का चमत्कार अनुभूति में आ जाएगा, त्यों ही विषयों के द्वारा प्राप्त होने वाला आनन्द उस चमत्कार के सामने जब फीका पड़ जाएगा तो इन्द्रियों में उनके अपने-अपने विषयों के प्रति एक स्वाभाविक अरुचि पैदा हो जाएगी। उसे उन्होंने 'अनादर विरक्ति' कहा है। उस स्वाभाविक विरक्ति से ही इन्द्रियाँ विषयों से स्वयमेव विरत हो जाती हैं—

अनादर-विरक्त्यैव गलन्तीन्द्रियवृत्तयः।
यावत्तु विनियम्यन्ते तावत्तावद्विकुर्वते ॥

बलात्कार से उनका नियमन किया जाए तो उनमें भी उल्टे विकार पैदा होते हैं।

त्रिकाचार में मकारों के सेवन को महत्त्व नहीं दिया गया है। यहाँ तो उत्कृष्टतर सहज योग के अभ्यास से अपने वास्तविक स्वभाव को पहचान लेने को ही महत्त्व दिया गया है। फिर विधि-निषेध दोनों को अति तुच्छ माना गया है। अतः मकार सेवन की विधि पर भी बल नहीं दिया गया है और न ही उसके निषेध पर ही। यदि मकारों का सेवन साधक की स्वरूप लाभ में सहायक बन सके तो वह उनका प्रयोग करे, परन्तु यदि सहायक न बने या यदि उसकी रुचि उसमें न हो तो वह उसके बिना भी स्वरूप प्रत्यभिज्ञा के प्रति अग्रसर हो सकता है। पञ्चम मकार की रहस्यचर्या शाम्भव योग में और शाक्त योग में सद्यः सिद्धि प्रदान करने में सहायक बनती है। यह एक अकाट्य तथ्य है। अतः इस तथ्य का निषेध न करते हुए तन्त्रालोक में कई एक स्थानों पर इस रहस्य का उद्घाटन रहस्यमय तथा संकेतात्मक शब्दों के प्रयोग से किया गया है। ऐसा करने का अभिप्राय यह है कि दीक्षित साधक को भी पथ प्रदर्शन मिल जाए और साधारण पाठक भी पथभ्रष्ट न हो जाए।

पञ्चम मकार की मोक्ष साधनता के विषय में मालिनीविजय वार्तिक में कहा गया है कि परिपूर्ण ब्रह्मानन्द और क्षणिक विषयानन्द वस्तुतः दोनों एकाकार हैं। दोनों के अपने वास्तविक स्वभाव में कोई अन्तर नहीं। अन्तर केवल परिमाण में है। विषयानन्द क्षणस्थायी होता है और ब्रह्मानन्द अनन्त होता है। फिर यह भी कहा गया है कि आत्म आनन्द के छह भूमिकाएँ होती हैं जिन्हें निजानन्द, निरानन्द आदि नाम दिए गए हैं। इन छह भूमिकाओं में से परे वह अपरिमित आनन्द है जिसका न कोई ओर है और न छोर। उसे जगदानन्द कहते हैं। जगदानन्द परमेश्वर का वह स्वभाव है जिस स्वभाव के कारण वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की सदैव सृष्टि-स्थिति-संहार लीला को करता ही रहता है। पञ्चम मकार के अभ्यास से जब क्षणिक विषयानन्द की पराकाष्ठा अभिव्यक्त हो जाती है तो दोनों साधक अपनी अवधान दृष्टि को उसी पर स्थिरतया जमाए रखते हुए उसी में चिरकाल तक समाविष्ट होकर रहते हैं। इस प्रकार के समावेश के अभ्यास से परिपूर्ण जगदानन्द ही उनका स्वभाव बन जाता है और वे जीवन्मुक्त बन जाते हैं। ऐसी बातें आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कही हैं—पारमेश्वरी विसर्गशक्ति (सृष्टिशक्ति) और जीव की विसर्गशक्ति वस्तुतः दोनों एक हैं। एक पर पक्का अवधान जमाए रखने से दूसरे की अनुभूति हो जाती है—

स एव भगवानन्तर्नित्यं प्रस्फुटात्मकः ॥
अन्तःस्थ सर्वभावौघपूर्णमध्यमशक्तिकः।
स्वेच्छा क्षोभस्वभावोद्यज्जगदानन्दसुन्दरः ॥
नित्यं स्फुरति सम्पूर्णविसर्गरससुन्दरः।
शिवशक्त्योः स संघट्टः स्नेह इत्यभिधीयते ॥
अत्रैव पूर्णवैसर्गपरे लब्धुं प्रवेशनम्।
लेहनामन्थनेत्यादि सम्प्रदायमुपासते ॥
तथाहि मध्यमां नाडीमधिष्ठायाखिलं वपुः।
प्राणयत् परमं तेजः प्रक्षुब्धमतिमन्थतः ॥
विसृष्टिरूपतां गच्छद्यात्यानन्दचमत्क्रियाम् ॥
अपूर्णा केवलं सा तु पूर्णा तु भगवन्मयी।
तेन वैसर्गिकी शक्तिरेकैवेयं प्रजृम्भते ॥

(मा. वि. वा., पृ० ८२)।

वज्रयानियों ने इन रहस्यमयी साधनाओं के विकृत रूप को प्रकट कर रखा था। अतः सिद्ध परम्परा के सर्वोत्कृष्ट त्रिकाचार के गुरुओं को भी ये बातें विशेष रहस्यमय ढंग से ग्रन्थों में लिखनी पड़ीं। उससे सच्चे

साधकों को समुचित पथ प्रदर्शन मिलता रहा । परन्तु ऐसे रहस्यमय ढंग से कही गई कि साधारण जनता भी पथभ्रष्ट नहीं होती रही। इस विषय में आ० अभिनवगुप्त अपने उत्कृष्टतम गुरु, जालन्धरपीठाधिपति आचार्य श्री शम्भुनाथ के आदेश के अनुसार कहते हैं —

"नातिरहस्यमेकत्र ख्याप्यं न चाप्यत्यन्ततो गोप्यम्" । अर्थात् अत्यन्त रहस्यमयी साधनाओं को एक ही स्थल पर प्रकट भी नहीं करना चाहिए और न ही उन्हें सर्वथा गुप्त ही रखना चाहिए ।

इस तरह का यह त्रिक आचार सिद्ध परम्परा का सर्वोत्कृष्ट आचार है। इसका साधना पक्ष भी पूरे विकास को प्राप्त हुआ है और सिद्धान्त पक्ष भी । फिर दोनों पक्षों का सामञ्जस्य भी अपूर्व ढंग का इसमें है। जीवन के व्यवहार पक्ष और परमार्थ पक्ष का भी पर्याप्त सामञ्जस्य इस त्रिक आचार में विद्यमान है। इसके उत्कृष्टतर ग्रन्थ भी छपे हुए विद्यमान हैं और इसके दोनों पक्षों को जानने वाले भी अभी तक संसार में हैं। परन्तु फिर भी आश्चर्य है कि विद्वत् समाजों में भी इसका विशेष परिचय बहुत ही थोड़े महानुभावों को है। इस ऐसी बात के मूल कारण को आ० अभिनवगुप्त ने पहले से ही स्पष्ट करते हुए कह रखा है—इस पराद्वैत प्रधान साधना का अधिकारी केवल वही कोई विरला महानुभाव होता है, जिस पर शिव ने अनुग्रह शक्तिपात किया हो; जैसे केवड़े के पुष्प का सुगन्धित मधु केवल काले भौंरे ही के भाग्य में होता है, साधारण मधुमक्खी के भाग्य में नहीं—

केतकी-कुसुम-सौरभे भृशं
भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका ।
भैरवीय-परमाद्वयार्चने
कोऽपि रज्यति महेशचोदितः ॥ ●



शिवागम और श्रीविद्यागम

पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

निगम और आगम भारतीय महर्षियों की अनादिसिद्ध परम्परा प्राप्त दो ज्ञान धाराएँ हैं। दोनों की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हैं। परमेश्वर का स्वरूप और उनका ज्ञान उनसे अभिन्न है। जैसे मीमांसकों ने वेद का लक्षण करते हुए 'मन्त्रब्राह्मणयो वेद नामधेयम्' कहकर अपनी बात स्पष्ट कर दी है; उसी प्रकार आगमानुयायी आचार्यों ने 'आविगीता प्रसिद्धिरागम,' कहकर अपनी बात स्पष्ट की है। जयरथाचार्य ने तन्त्रालोक के विवेक व्याख्यान में प्रसङ्गतः आगम के विषय में यह वचन उद्धृत किया है—

प्रसिद्धिरागमो लोके युक्तिमानथवेतरः।
विद्यायामथाविद्यायां प्रमाणमविगानतः॥
प्रसिद्धिरविगीताहि सत्यावागीश्वरी मता।
तथा तत्र यथासिद्धं तद्ग्राह्यमविशङ्कितैः॥

अविगीता प्रसिद्धि अर्थात् विश्वसनीयता से युक्त परम्परागत प्रसिद्धि ही आगम शब्द से कही जाती है। महात्माओं एवं लोकोद्धार के लिये प्रवृत्त महापुरुषों के लिए प्रमाणान्तर को क्या आवश्यकता है। अल्पज्ञ आधुनिक पुरुष को यदि उसका ज्ञान नहीं है तो इतने से ही उन महागुरुओं के वचनों की अप्रामाणिकता सिद्ध न होगी। प्रमाण के अभाव से प्रमेय का भी अभाव सिद्ध नहीं होता। स्वयं निरीह सर्वज्ञ महर्षि दूसरे कि वञ्चना क्यों करेंगे। जिनके उपदेश से शास्त्रों का प्रामाण्य सिद्ध होता है, वे अन्यथा उपदेश कभी नहीं करेंगे। मन्वादिस्मृतियों में उत्सन्न शाखा मूलक अष्टकादियागों की मूलभूत श्रुति की कल्पना कर जिस प्रकार प्रामाणिकता स्वीकार को गई है उसी प्रकार आगमों में मूलभूत शिववाक्य की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी। 'ईशानः सर्वं विद्यानाम्' इत्यादि श्रुति भी कहती है। आगम के सम्बन्ध में वचन है—

'यतः शिवोद्भवाः सर्वे शिवधामफलप्रदाः।

आगम शब्द अत्यन्त व्यापक है। प्रायः सभी शास्त्रों में प्रामाणिक प्रसिद्धि के लिये आगम शब्द का व्यवहार किया गया है। त्रिपुरा रहस्य में एक वचन है 'वेदो ह्यागमभागः स्यात् शब्द राशिस्मथागमः।' समस्त शब्द राशि ही आगम है। तन्त्रों के अनुसार समस्त सृष्टि का उद्भव मातृका से हुआ है, मातृका ही शब्द राशिरूप है। विश्वप्रसव समर्थ होने के कारण ही 'मातृका' शब्द प्रवृत्त हुआ है। इस दृष्टि से 'आगम' की व्यापकता विचारणीय है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने एक जगह कहा है—'आगमस्तु अवनच्छिन्नमाहेश्वरप्रकाशपरमार्थः'। प्रत्यक्ष और अनुमान का प्रामाण्य अवच्छिन्न अर्थात् सङ्कुचित है, आगम का प्रामाण्य अवच्छिन्न नहीं है क्योंकि पर प्रमाता की विमर्शशक्ति ही तो आगम है। अतः परमेश्वर की परिपूर्णता के कारण उस ज्ञान में कोई त्रुटि अनवस्थादि दोष सम्भव ही नहीं हैं। अतः आगम भी निगम की तरह स्वतंत्र हैं। निगमागम दोनों के कर्ता एक ही परमेश्वर हैं। 'शास्त्र योनित्वात्' इस व्याससूत्र में भी इसी आशय को स्पष्ट किया गया है। पुर्यष्टक प्रमाता से भिन्न परमपुरुष से प्रणीत होने के कारण दोनों की अपौरुषेयता सिद्ध है। 'तेनेदं सर्वं पुरुषेण पूर्णम्' 'पूर्णत्वात् पुरुष' इत्यादि वचनों से परिच्छिन्न पुरुषों से भिन्न परमपुरुष से प्रणीत शास्त्र भी अपौरुषेय कहा गया है। 'सत्यकामः' 'सत्यसङ्कल्पः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उस परमपुरुष में शास्त्र भी स्वभावतः अभिन्नरूप से रहता है एवं स्फुरित होता है। वस्तुतः अन्य कोई कर्त्ता न होने से उसी में कर्तृत्व की कल्पना की जाती है। अतः शास्त्र की नित्यता एवं स्वप्रकाशता सिद्ध ही है। वेदों के विषय में जैसे 'ऋषय मन्त्र द्रष्टारः' ऋषियों ने मन्त्रों का साक्षत्कार किया कहा गया है। इसी प्रकार आगम के विषय में भी कथन है—

'शिवादि ऋषिपर्यन्ताः स्मर्त्तारोऽस्य न कारकाः'।

अतः आगम शास्त्र के विषयों में आधुनिक विद्वानों के द्वारा उठाई गई शङ्काएँ सर्वथा निर्मूल हैं।

निगम और आगम एक ही वृक्ष के दो फल हैं। इसी लिये अनेक स्थानों पर आगमों में श्रुतियों का अनुवाद एवं श्रुतियों में आगमों का अनुवाद पाया जाता है। ये दोनों परस्पर के पूरक हैं, बाधक नहीं। श्रीमद्भागवत में भी—

'वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥

इस वचन से मिश्रमार्ग की उपासना निर्दिष्ट है। इस श्लोक पर सन्तशिरोमणि एकनाथ महाराज की व्याख्या दर्शनीय है, जिसमें आगमोक्त भगवदुपासना का सविस्तार वर्णन है।

आगमों में भी शिवागम एवं श्रीविद्यागम प्रधान है। शिवागम—शैव, रौद्र, भैरव, इन तीन प्रकारों से विभक्त हैं। शैवागम 'कामिक' आदि दस द्वैतोपासनापरक हैं। रौद्रागम 'सुप्रभेद' आदि अठारह द्वैताद्वैत मिश्र उपासनापरक हैं। भैरवागम चौंसठ अद्वैत भाव की उपासना का प्रतिपादन करते हैं। इनके सम्बन्ध में मूलभूत वचन तन्त्रों में उपलभ्य हैं। शिव के पञ्चमुखों से आगमों के अनेक भेद हुए हैं। अधिकार भेद से परम कारुणिक शिव ने अनन्त प्रकार के आगमों की उद्भावना की है। उपासक की रुचि उसके संस्कार के अनुसार जगद्गुरु ने उद्धार करने के लिये तदनुरूप आगमों का उपदेश किया। अपने-अपने सम्प्रदायानुसार गुरु परम्परा से ही आगमों में प्रवेश उचित है। पुस्तकों को पढ़कर कोई क्रिया नहीं करनी चाहिये।

शैवागमों में भी भैरवागम श्रेष्ठ है। भैरवागम का वचन है—

दक्षिणादुत्तमं वामं वामात्सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं न हि॥

दक्षिण, वाम, आदि शब्द भेद, भेदाभेद, अभेद आदि भावना मूलक विधि को ही सूचित करते हैं।

काश्मीर शैवागम में मुख्यरूप से भैरवकुल, कालीकुल तथा त्रिक सम्प्रदाय की उपासना है। कालीकुल को ही महार्थ सम्प्रदाय कहा जाता है, जिसमें पञ्चवाह क्रम की चर्चा है। त्रिककुल में परा-अपरा-परा इत्यादि देवताओं का उपासना क्रम निर्दिष्ट है। ये तीनों आगम सम्प्रदाय समकक्ष हैं।

श्रीविद्यागम सभी सम्प्रदायों और आगमधाराओं का समष्टि स्वरूप है। भैरव, महार्थ, त्रिक इत्यादि सभी संप्रदायों का सारभूत सम्प्रदाय ही त्रैपुर सम्प्रदाय है। इसी विद्या के विषय में तन्त्रों का वचन है—

वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः।
तथा मन्त्राः समस्ताश्च विद्यायामत्र संस्थिताः॥

इसके अनुसार सभी निगमागम शास्त्र जाल रूपी महान् विस्तार को बाँधने वाली मूलग्रन्थि यही विद्या है। इतना ही नहीं किन्तु इसके कारण ही अन्य विद्याओं की वीर्यवत्ता तथा महत्ता प्रतिष्ठित है। वामकेश्वर तंत्र का वचन है—

त्रिपुरा परमेशानि! आज्ञा ज्ञानादितः प्रिये।

इसका तात्पर्य यह है भेदप्रथामय इस जगत् में अनेक प्रकार की त्रिपुटियाँ भासमान हैं, जिनमें ज्ञान-ज्ञातृ-ज्ञेय रूप त्रिपुटी प्रधान है। इस त्रिपुटी के भी पूर्व सर्वदा विद्यमान होने के कारण ही 'त्रिभ्यःपुरा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार त्रिपुरा शब्द प्रवृत्त हुआ है। प्रपञ्चसार के अनुसार भी 'त्रिपुरा' शब्द की व्युत्पत्ति इसी प्रकार है—

त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात्
त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरकत्वात्
प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम॥

सेतुबन्ध व्याख्यान में श्रीभास्करराय दीक्षितजी ने इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

शैवागमों की तरह ही श्रीविद्यागमों में भी उपासकों के भूमिका भेद के अनुसार आदि गुरु शिव ने द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत भावनापरक आगमों का उपदेश दिया है। तदनुसार ही तन्त्रों में पद्धतियों का निर्देश किया गया है। अद्वैत भावना प्रधान आगमों में मूलविद्या की ही आराधना अभेद भावना से प्रयुक्त होती है, अङ्गों का अधिक विस्तार नहीं होता, काम्यकर्म की चर्चा कम होती है। द्वैताद्वैत भावना प्रधान में अङ्गभूत कर्मों का विस्तार अधिक होता है। शापोद्धार, उत्कीलनादि विषयों की चर्चा, पुरश्चरणादि के प्रकार, काम्यकर्म के नाना प्रकारों का वर्णन अधिक होता है। इससे भी अधिक विस्तार द्वैतभावनापरक तंत्रों में प्राप्य है। भेद दृष्टि होने के कारण सभी बातों का प्रपञ्च उचित ही है।

अतः 'तन्त्राणां बहुरूपत्वात् कर्तव्यं गुरुसम्मतम्' इस उक्ति के अनुसार परम्परा से प्राप्त ही ज्ञान ग्राह्य है, केवल शब्दार्थ ज्ञानमात्र से इन शास्त्रों में पांडित्यप्रदर्शन अनर्थकारक हो सकता है। श्रीविद्यागम में भी मूलभूत ग्रन्थों में वामकेश्वरतन्त्र, ज्ञानार्णव, कुलार्णव, ब्रह्मयामल, रुद्रयामल, दक्षिणामूर्ति-संहिता, त्रिपुरारहस्य, गन्धर्वतन्त्र, परशुरामकल्पसूत्र आदि हैं और वेदभाग में भी त्रिपुरोपनिषत्, त्रिपुरा तापिन्युपनिषत् प्रभृति हैं। मूलग्रन्थों के अनुसार नाना प्रकार के निबन्धग्रन्थ तथा तदनुसारी पद्धतियों का प्रणयन प्राचीन विद्वानों ने किया है। श्रीविद्यार्णव ग्रन्थ के रचयिता श्रीविद्यारण्य स्वामीजी ने सभी परम्पराओं के आचार्यों का परिचय देने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। कलियुग में धर्म संस्थापार्थ अवतीर्ण आचार्य शङ्कर ने आगमोक्त सम्प्रदायों का भी पुनरुज्जीवन किया था। तदनुसार आचार्य शङ्कर का पारम्पर्य आज भी भूमण्डल में वर्तमान है। उसी के अनुसार आगमशास्त्र में प्रवृत्त होना श्रेयस्कर होगा।

इसी प्रसङ्ग में आगमशास्त्र की कुछ विशेषताओं पर ध्यान आकृष्ट करना—'यत्किञ्चिद् मनुरवदत् तत् भेषजम्' इस उक्ति के अनुसार मनु ने जो कुछ कहा वह संसार में कल्याणकारी औषधि है, अर्थात् संसार यात्रा का समुचित उपाय है। परन्तु शिव ने इससे अधिक कहा तथा अधिक औषधि प्रदान की। श्रुति का कथन है 'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वान् जम्भयन् सर्वाश्च यातुधान्यः'। इस उक्ति से स्पष्ट है मनु तो मानवीय भिषक् मात्र है, शिव दैव्यो भिषक् है। 'अधिकं वक्तुं योग्यः अधिवक्ता' 'अध्यवोचत्' 'अधिकमवोचत्' इत्यादि शब्दों की उत्पत्ति के अनुसार सामान्य स्थिति के लिये मनु का वचन आदरणीय हैं परन्तु विशेष स्थिति एवं विशेष अधिकारियों के लिये शिवोक्त आगम ही उपादेय है, यह बात सिद्ध हुई। गायत्री ने भी शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा के लिये 'भर्ग' शब्द से लचित शिवतत्व की ओर संकेत किया है। स्व-स्वकर्मोचित फलदान से अधिक अनुग्रह करने की भगवच्छक्ति आगमों ने स्वीकार की है। उपासनाशास्त्र में 'शक्तिपात' का महत्त्व माना गया है। अतः विशेष स्थिति में कर्मबन्धन या नियति का भी उल्लङ्घन सम्भव है। परमकारुणिक भगवान् ने भक्तजनों के उद्धार के लिये इस आगमशास्त्ररूपी नौका से भवसिन्धु को पार करने का सुगम उपाय प्रकट किया है यही शास्त्रों का अभिप्राय है।

आगमशास्त्र में भी भक्ति ही प्रधान है—'शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते' इत्यादिवचनों से स्पष्ट है। प्राचीन शैवाचार्यों का कथन है—

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
तयैव ननु हीनानां किमन्यदुपयाचितम्॥

भक्ति लक्ष्मी से समृद्ध साधकों को किस बात की कमी रह सकती है? परन्तु यह भक्ति अद्वैत भक्ति है, जिसमें उपास्य-उपासक का पूर्णतया एकीकरण हो जाता है। महाकवि कालिदास ने भी अपने मङ्गलाचरण में 'स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायाऽस्तुवः' कहकर स्थिरभक्ति पद से अद्वैतभावात्मिका आगमोक्त भक्ति का ही परिचय दिया है। इस मानव शरीर में भी दीक्षादि के द्वारा शिवत्व प्राप्त कर उपासना करना ही आगम का लक्ष्य है—शिवो भूत्वा शिवं यजेत्—इसका लक्ष्य है।

परम कारुणिक जगद्गुरु शिव ने नानाविध उपायों द्वारा जीवमात्र का उद्धार करने का मुक्त द्वार आगम के स्वरूप में प्रकट किया है। प्रसिद्ध शिवभक्त कवि जगद्धरभट्ट की यह उक्ति स्मरणीय है—

यः कुण्ड-मण्डल-कमण्डलु-मन्त्र-मुद्रा—
ध्यानार्चन-स्तुति-जपाद्युपदेशयुक्त्या।
भोगापवर्गदमनुग्रह मानतानां
व्यानञ्ज रञ्जयतु स त्रिजगद्गुरुर्वः॥

नाना प्रकार के आणव-शाक्त-शाम्भवादि उपायों से जगद्गुरु ने भक्तों को भोग और उपवर्ग मार्ग सुलभ कर दिया है यह उनकी सर्वानुग्राहिका करुणा का विलास है। ●

शैवागम और उनका आविर्भाव

डॉ० कु० शकुन्तला होरा

सबसे पहले यहाँ आगम शब्द पर विचार करते हैं। 'आगम' शब्द गत्यर्थक 'गम्लृ' धातु से निष्पन्न है अर्थात् यह परम्परा से आया है, इसलिए आगम कहा जाता है। एक अन्य मतानुसार निश्चय से तत्त्व की ओर ले जाने वाला 'निगम' और आप्त वचन से आविर्भूत अर्थ विशेष का संवेदन 'आगम' विवक्षित है। पिंगलामत[1] में 'आङ्भावस्तु समन्ताच्च गम्यतेत्यागमो मतः' अर्थात् यह आगम इसलिए है कि आध्यात्मिक ज्ञान इससे प्रत्येक दिशा में जाता है। शैवसिद्धान्त मतानुसार आ=पाश, ग=पशु और म=पति है। मतान्तर से आ=शिवज्ञान, ग=मोक्ष और म=पति का निदर्शक है।[2] इसको शास्त्र भी कहते हैं क्योंकि प्रत्येक वस्तु इसके द्वारा शासित और सुरक्षित है। यह ज्ञान है, क्योंकि सब कुछ इसकी सहायता से जाना जाता है। यह तन्त्र है क्योंकि इसके द्वारा प्रत्येक वस्तु आरक्षित और स्थिरीकृत है।[3] इसका तन्त्र अभिधान इस कारण से भी है कि यह तत्त्व और मन्त्र सम्बन्धी विपुल अर्थों का विस्तार करता है। यह मनुष्यों का त्राण और रक्षा करने के हेतु भी तन्त्र अभिहित है।[4] तन्त्र प्रथमतः शिव के द्वारा प्रकाशित किए गए तत्पश्चात् परम्परा से प्राप्त हुए। छन्दोलक्षण से संसिद्ध आगम श्रोतृ वक्तृ न्याय से पण्डितों द्वारा जाने गए, इसमें कुछ संदेह नहीं है। व्यवहार में गुरुमुख से शिष्य द्वारा श्रवणमूलक उपलब्धि होने से जैसे वेदों को श्रुति कहा जाता है, उसी प्रकार आगम भी श्रुति है। हारीत[5] धर्मशास्त्र में स्पष्टतः उल्लेख है कि श्रुति दो प्रकार की है—वैदिकी और तांत्रिकी। यहाँ तन्त्रों के लिए श्रुति शब्द प्रयुक्त है। कुल्लूकभट्ट[6] ने भी इसका अनुमोदन किया है।

शिव, विष्णु, शक्ति, बुद्ध और जिन आदि के उत्कर्ष को प्रतिपादित करने वाले आगम शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध और जैन आदि भेद से विभिन्न प्रकार के हैं। प्रत्येक मत में पुनः अवान्तर भेद से विविध आगम हैं, जैसे शैवागम शैव, पाशुपत, सोम और लाकुल भेद से चतुर्विध हैं। वाम, दक्षिण और सिद्धान्त भेद से ये तीन प्रकार के प्रोक्त हैं।[7] कापाल, कालामुख और अघोर वामभेद के अन्तर्गत हैं। काश्मीर शैवागम, जिनका अपर नाम मंत्रिक भी है, दक्षिणभेद में परिगणित है। कामिक आदि २८ शैवागम और इनके उपभेद सिद्धान्तभेद में अन्तर्भूत हैं। अत्यन्त आप्तभूत परमशिव से स्वयं उपदिष्ट होने के कारण ये 'सिद्धान्त' संज्ञा से व्यवहृत हैं।[1] २८ सैद्धान्त शैवागमों में १० शिवभेद और १८ रौद्रभेद हैं। इसकी संपुष्टि मृगेन्द्रागम[2] से होती है, जैसे परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में भुक्ति-मुक्त्यात्मक पुरुषार्थ सम्पत्ति के लिए सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशानाख्य मन्त्रमय अपने मुखपंचक से विमल ज्ञान स्वरूप दिव्यागमों को अभिव्यक्त किया। नित्य सिद्ध विमल ज्ञान को नाद-रूप से प्रकाशित करके पुनः सदाशिव रूप में अवस्थित होकर प्रणव आदि १० शिव रूपों के लिए और १८ रुद्र रूपों के लिए 'कामिक' से लेकर 'वातुल' पर्यन्त २८ आगमों को प्रकट किया।[3]

शिवतत्त्व में अपनी शक्ति का ईषत् चलन ही नाद है अथवा चित्-शक्ति के स्फुरण से शुद्धमाया का कार्योन्मुख होना ही नाद अभिप्रेत है। यह नाद ही स्थूल शब्द तत्त्व समूह का मूल है।[4] शिवतत्त्व सबका कारण है और अन्य तत्त्व शक्ति से भूमि पर्यन्त उसका कार्य है। उसका कार्यभूत सदाशिव तत्त्व शिवसादाख्य, अमूर्तसादाख्य, मूर्तसादाख्य, कर्तृसादाख्य और कर्मसादाख्य भेद से पाँच प्रकार का है। ये पाँच सादाख्य ही सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान संज्ञक पंच ब्रह्म-मूर्तियाँ हैं।[5] इनको ही पंचमुख एवं पंच आम्नाय कहा जाता है। सदाशिव के इन्हीं पंचवक्त्रों से विमल ज्ञान शैवागमों के रूप में प्रसृत हुआ। कामिक से अजित तक सद्योजात मुख से उद्भूत हुए। दीप्त से सुप्रभेद पर्यन्त वामदेव मुख से, विजय से वीर तक अघोर मुख से; रौरव से बिम्ब तक तत्पुरुष मुख से, प्रोद्गीत से वातुल पर्यन्त ईशान मुख से उत्पन्न माने जाते हैं।[6] अजितागम[7] में विजय, पारमेश्वर, निश्वास, प्रोद्गीत, मुखबिम्ब सद्योजात से; सिद्ध, सन्तान, शर्वोक्त, चन्द्रज्ञान, विमल वामदेव से; स्वायंभुव, वीर, रौरव, मकुट, किरण अघोर से, ललित, अनल और वातुल तत्पुरुष से, कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमत् और सुप्रभेद ईशान मुख से प्रकट हुए, ऐसा उल्लेख है। निःश्वास तत्त्व संहिता के उत्तर सूत्र में १८ प्राचीन शैवागमों का विवरण उपलब्ध होता है। वे हैं विजय, विश्वास, स्वायंभुव, वातुल, वीरभद्र, रौरव, माकुट, विरस, चन्द्रहास, ज्ञान, मुखबिम्ब, प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोद्गीत,

---

१. पिंगला० रा० अ० ग्रं० सं० ८३९, पृ० १ बी। २. परंजोतिः शैव सिद्धान्त, पृ० १६-१७। ३. पिंगला० रा० अ० ग्रं० सं० ८३९, पृ० १ बी। ४. अजितागम भा० १, १।११५। ५. याज्ञवल्क्य स्मृति १।४ व्याख्या। ६. मनुस्मृति २।१ व्याख्या। ७. पूर्व कारणागम २६।५८-६१।

१. रत्नत्रय का० १०। २. मृगेन्द्रागम वि० पा० १।२३। ३. अजित-भा० १, पृ० ४-५। ४. नादकारिका २१, पृ० १३। ५. रौरवागम, भा०, २ पृ० २१७, श्लो० १५। ६. रौरव० भा० १, भूमिका, पृ० ११; अचिन्त्यागम, पृ० २, १।४-७। ७. अजित०, भा० १, क्रि० पा० १।१०८-१११, १०६-१०७।

किरण और परमेश्वर। इस संहिता[1] का यह भी कथन है कि जिस-जिस के द्वारा तन्त्र सुना गया, जिस-जिस के द्वारा धारण किया गया, उस-उस नाम से ही वह तन्त्र प्रसिद्ध हुआ। सदाशिव ने पहले अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डि नामक अष्टविद्येश्वरों को कामिक आदि १० शिवभेदों का उपदेश करके पश्चात् प्रणव आदि १० शिव को उपदेश किया। अनादि रुद्र आदि १८ रुद्रों को १८ रुद्रभेदों का उपदेश किया। इन आगमों का नाम शिव-संहिता और रुद्र संहिता भी विख्यात है।

उपरिनिर्दिष्ट २८ कामिकादि सिद्धान्त शैवागमों की शाखाएँ उपागम कहलाती हैं। इनको लेकर जिनकी संख्या लगभग २०७ है। स्थानाभाव के कारण इनका विवरण देना यहाँ संभव नहीं है। प्रत्येक आगम के विद्या, क्रिया, योग और चर्या नामक चार पाद हैं। पति, पशु और पाश इन पदार्थत्रय का विवेचन विद्यापाद में है। भूमिकर्षण से लेकर लिङ्गप्रतिष्ठा पर्यन्त सर्वविध देवायतन सम्बन्धी क्रिया-कलाप, दीक्षा, देव-पूजा, स्नपनोत्सवादि नित्य नैमित्तिक कर्मों की चर्चा क्रिया पाद में है। अर्चना, दीक्षा आदि कर्मोपयुक्त योग साधन का विशेष वर्णन योगपाद में है। चर्यापाद में आचार प्रायश्चित आदि विषयक सामग्री वर्णित है।

आचार्य अभिनवगुप्त कृत तन्त्रालोक[2] में शैवदर्शन—द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत भेद से तीन प्रकार का प्रतिपादित है। ये तीनों दार्शनिक धाराएँ क्रमशः १०, १८ और ६४ शैवागमों पर आधारित हैं। ६४ आगमों को भैरवागम भी कहते हैं। ये समस्त आगम शिव के भिन्न-भिन्न मुखों से व्यक्त हुए। द्वैत शैवागम ईशान, तत्पुरुष और सद्योजात इन तीन मुखों से निर्गत हुए। द्वैताद्वैत वामदेव और अघोर से जबकि अद्वैत दर्शन के आगम शिव और शक्ति के संयोग से उद्भूत हुए।[3] प्रत्येक शैवागम एक भिन्न प्रस्थान का प्रतिनिधि है। अतः इस प्रकार शैव-दर्शन के (१०+१८+६४)=९२ प्रस्थान थे। प्रत्येक प्रस्थान का लक्ष्य अपने अनुयायी साधक को मोक्ष के संपूर्ण रास्ते की किसी एक अवस्था तक ले जाना है। द्वैत शैवदर्शन की पूर्वकल्पित अनेकता क्रिया, ज्ञान और इच्छा शक्ति से सम्बद्ध है। द्वैताद्वैत चित् और आनन्द से जबकि अद्वैत शैवदर्शन इन सबसे परे है। यहाँ परम सत्य स्वयं प्रकाशित होता है। शिवपुराण के अनुसार शैवागम शिवावतार श्रीकण्ठ द्वारा शिवा अर्थात् शक्ति के लिए कहे गए। ये कारुण्य के कारण शिवाश्रितों के श्रेय का एक मात्र साधन हैं।[4]

शैव परम्परा की दृष्टि से शैवागमों का अविर्भाव पर्यालोचित करने के अनन्तर अब ऐतिहासिक दृष्टि से यथासंभव विचार किया जाता है। विशाल भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि इसमें वैदिक और आगमिक संस्कृति का सम्मिश्रण है। उस-उस मार्ग के अवलम्बी उस-उस प्रस्थान के मूलभूत ग्रन्थ-समूह में आदर बद्ध थे। एक प्रस्थान के अनुयायी ग्रन्थ लेखकों का दूसरे प्रस्थान के विषयों के प्रति आदर नहीं था। कालान्तर में प्रस्थानद्वय के अव-लम्बियों में परस्पर उत्कर्षापकर्ष भाव क्रमशः उत्पन्न हो गया। वैदिक तान्त्रिकों को वेदबाह्य कहते थे। आगमिक वैदिकों को यज्ञ याग आदि के प्रवर्तक देखकर केवल भोगाभिलाषी मानते थे। कामिकागम[1] के श्लोकों से यह आशय और भी स्पष्ट हो जाता है, जैसे प्रारंभ में अधिकारी भेद से ज्ञान दो प्रकार का था। ज्ञान "पर" और "अपर" भेद से पति और पशु के प्रयोजन को निर्देशित करता है। शिव प्रकाशक ज्ञान "पर" ज्ञान है। वेद आदि पति पशु के प्रयोजन का निदर्शक होने से "अपर" ज्ञान है। इसी आगम[2] में आगमों का सदाशिव के ऊर्ध्व ईशानमुख से आविर्भाव उत्तमोत्तम कथित है और वेद आदि की अवर मुख से उत्पत्ति होने से अधमत्व निर्दिष्ट है। किन्तु कालक्रम से मार्गद्वय के अनुयायियों में भी इस प्रस्थानद्वय में अभ्युदय निःश्रेयस अथवा भुक्ति-मुक्ति का प्रतिपादन देखकर परस्पर समन्वय बुद्धि पैदा हो गयी। इस काल में वैदिक मार्ग में देवपूजा को क्रमशः स्थान मिल गया। वैदिक मन्त्र और आचार व्यवहार ने आगमों में अपनी महत्ता अधिगम कर ली। कामिक से लेकर सुप्रभेद तक १० शैवागम और साङ्गवेदों का उद्गम भी सदाशिव के ऊर्ध्व वक्त्र से निरूपित होने लगा।[3] यह विवरण वेदों और आगमों के सामरस्य काल को सूचित कर रहा है। इस काल के स्मृतिकारों ने भी आगमों के प्रमाण वेदों की भाँति स्वीकार किए। आगमोक्त बहुत से संदर्भ धर्मशास्त्रों, निबन्धों और पुराणों में यत्किंचिद् भेद से नियोजित किए गए। 'आगम प्रस्थान वेदमार्ग का सार है' यह उद्घोष इस संधि-काल में किया गया। इस सम्बन्ध में मुकुटागम[4] अवतारणीय है—यह तन्त्र वेदों का सार है। इसका ज्ञान वेदान्तार्थमय है और सिद्धान्त परम शुभ है। ऊर्ध्वस्रोत से उद्भव होने के कारण २८ तन्त्र श्रेष्ठ हैं। वस्तुतः वेदसार को स्वीकार करनेवाले आगम कालान्तर में वेदमार्ग के अनुयायी न रहे अपितु प्रत्येक स्वतन्त्र मार्ग का अनुगामी बन गया क्योंकि वैदिक ग्रन्थों में ब्रह्मसृष्टि और शैवागमों में शिवसृष्टि उपपादित है।

वेदों और वैदिक कर्मों की पूर्ति का अधिकार केवल तीन वर्णों को है, शूद्रों को नहीं। लेकिन शिव-पूजा आदि कार्यों में सब वर्णों का अधिकार है। समय दीक्षा, विशेष दीक्षा, साधक दीक्षा और आचार्य दीक्षा, इन सब दीक्षाओं में उत्तमोत्तमत्व दीक्षाभेद के कारण से है न कि वर्ण-विभाग से। तन्त्रों का मुख्य प्रयोजन मुक्ति साधक कर्मज्ञान आदि निरूपण है, न केवल षट्कर्मसाधन। एस० जी० सारवरपेकेर[5] के मत में सृष्टि, संहार, ब्रह्म का स्वरूप इत्यादि २५ विषय आगमों में चर्चित है। वैदिकमत में केवल अग्नि के पूजन द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति विहित है जब कि आगमिक धर्म में ज्ञान और योग के द्वारा कथित है। इन दो भिन्न प्रकारों का संयोजन उपनिषद् काल में ज्ञात

१. निश्वास तत्त्व संहिता, रा० अ०, ग्र० सं० २४०६ फाल २४ ए। २. तन्त्रा०, भा० १, पृ० ४५। ३. तन्त्रा०, भा० १, पृ० ३७, ४०–४१। ४. शिव–पु०, वाय० सं० उ० भा० ७/३६।

१. कामिक पूर्व भा०, प्रथम पटल। २. वही, १।११७–११९। ३. अजित १।१०६–१०७। ४. मुकुटा, १।२०–२३। ५. प्रो० ट्रां० आफ सेवन्थ ऑल इं० ओरि० कां०, बड़ौदा, १९३५, पृ० ६५।

होता है। उपनिषदों में उल्लिखित सभी गुप्त विद्याएँ संवर्ग, उद्गीथ, उपकोशल, भूमा, दहर, मधु आदि तन्त्रों की भाँति प्रतीकात्मक एवं अत्यन्त गुह्य हैं। यदि इन सब अध्यात्म विद्याओं का रहस्य-ज्ञान कभी विदित हो जाए तो पता चलेगा कि मूलभूत वैदिक और आगमिक ज्ञान में विशेष भेद नहीं है। शिवपुराण[1] में शैवागम दो प्रकार के—श्रौत और अश्रौत विख्यात हैं। श्रुतिसारमय आगम श्रौत हैं जबकि दूसरे स्वतन्त्र प्रकार के हैं। इस प्रकार वेदों के साथ शैवागमों की आनुरूप्यता का प्रयास बहुत पहले ही किया जा चुका था। तिरुमूलर कृत तिरुमन्दिरम् में, श्रीकण्ठभाष्य में, नीलकण्ठ के क्रियासार में, श्रीपति के श्रीकरभाष्य में, रेवणार्य कृत सिद्धान्तशिखामणि में, नञ्जनाचार्य की वेदांतसारवीरशैव-चिन्तामणि में, चन्नबसवेश्वर रचित वीरशैवोत्कर्ष-प्रदीपिका में तथा अप्पयदीक्षित कृत शिवतत्त्वविवेक और शिवार्कमणि-दीपिका में अविरोधी दृष्टिकोण का दिग्दर्शन होता है।

आगम कब लिखे गए यह बहुत विवादास्पद विषय है तथापि आगमों की आन्तरिक संघटना और इनके लिखने की शैली पर विचार करने के उपरान्त वी० वी० रमन शास्त्री का कथन है कि मध्य एशिया में डा० स्टेन की गवेषणाएँ इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि शैवागमों को प्रथम बौद्ध सभा के पश्चात् नहीं रखा जा सकता। "शिवज्ञान-बोधम्", जो कि रौरवागम पर आधारित है—के दार्शनिक सिद्धान्त—एच० आर० होशिंगटन के अनुसार वैदिक और पौराणिक युग के मध्यकाल में विकसित होनेवाले हिन्दूमत के दार्शनिक काल से सम्बद्ध हैं। शिवज्ञान बोध के अनुवादक जे० एम० नल्लस्वामिन् का मत है कि जब याज्ञिक नीति ज्योतिर्लिङ्ग की पूजा के पक्ष में परित्यक्त हो गई, तो याज्ञिक आधार का प्रतीकवाद और अधिक आध्यात्मिक अभिप्राय से सम्पन्न हो गया, वह समय आगमों का हो सकता है। नारायण स्वामी अय्यर[2] के अनुसार आरण्यक ग्रन्थों के काल में आगमों का सृजन अवश्य हो चुका होगा। पी० टी० श्रीनिवास आयंगर[3] का विचार है कि शैवतन्त्रों की पूर्वछाया यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में लब्ध होती है, लेकिन तान्त्रिक प्रस्थान एक सुसंगठित मत के रूप में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में आया। शैवागम और काश्मीर शैवदर्शन के विचारों की मीमांसा अधिकांशतया श्वेताश्वतर उपनिषद् में अन्त-र्निहित है, जो कि शंकराचार्य के काल में बहुत पहले रची गई। पंचरात्रागमों में शैवागमों का प्रस्ताव दिखाई देता है, परन्तु वैष्णवागमों का उल्लेख शैवागमों में दृष्टिगत नहीं होता। अतः शैवागम वैष्णवागमों की अपेक्षा प्राचीनतर हैं, इसमें सन्देह नहीं। मल्लादि सूर्य नारायण[4] शास्त्री ने पंचरात्रागम ईसा से चतुर्दश शतक पूर्व माने हैं। श्री आर० आर० दिवाकर[5] महोदय ने शैवागमों को आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व रचित स्वीकार किया है। अशोक के समय (२४० ई० पू०) तांत्रिक पूजा के प्रमाण में राजतरंगिणी को उद्धृत करते हुए प्रो० मसहरु अनेत्सकी[1] का अभिप्राय है कि निःसन्देह तन्त्र नागार्जुन (२ ई० सं०) से भी पूर्व विकसित होना शुरू हो गया था। शबर[2] स्वामी ने अपने भाष्य में देवपूजा को याग कहा है। आगमों में भी देवपूजा अन्तर्याग और बहिर्याग शब्दों से व्यवहृत है। पाणिनि बुद्ध से भी प्राचीन हैं। इसमें विमर्शकों का कोई विवाद नहीं। अतएव आगमों में उद्दिष्ट पूजादि को भी पाणिनि से पूर्व कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। वास्तुशास्त्र के इतिहास लेखकों का कथन है कि वास्तुविद्या विषयक ग्रन्थ शैवागमों से प्राचीनतर उपलब्ध नहीं होते हैं; जबकि वास्तुविद्या की परम्परा हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो की संस्कृतियों में स्पष्टतः परिलक्षित होती है। अतः शैवागम परम्परा केवल वेदों के समकालीन ही नहीं अपितु प्राचीनतर भी स्वीकार्य उचित प्रतीत होती है। शिवलिंग की पूजा सिन्धुघाटी की सभ्यता के समय में ही लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थी। हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो की खुदाइयों से उपलब्ध अवशेषों से इसकी संपुष्टि भली भाँति होती है।

विद्वानों के विचार उद्धृत करने के पश्चात् अभिलेखीय और साहित्यिक विवरण भी आगमों के अस्तित्व काल को निर्धारित करने में अतिशय सहायक हैं। पाँचवीं शताब्दी के काञ्ची[3] के शिला-लेखों में २८ शैवागमों का निर्देश है। महाभारत[4] में उल्लेख है कि सत्ययुग में रुद्र ने योग में निविष्ट होकर तन्त्रशास्त्र बालखिल्य ऋषियों को बताया। एक अन्य स्थल पर आगमिक पूजा का संदर्भ प्राप्त होता है। अतएव महाकाव्य के काल में आगम अस्तित्व में आ चुके थे। इसके अतिरिक्त बादरायण[5] ने वेदान्त सूत्रों में पाशुपत और पंचरात्रागमों का खण्डन किया है। इसलिए आगम वेदान्तसूत्रों से पूर्व अवश्य विद्यमान थे। सूत्रकाल में देवपूजा और देवायतन आदि की पर्याप्त चर्चा मिलती है। कौटिल्य रचित अर्थ-शास्त्र में पत्तन के मध्य में शिव और लक्ष्मी आदि देवताओं के मंदिर निर्माण का अवतरण है। अभिज्ञानशाकुन्तलम्[6] में कण्वाश्रम के तपस्वियों को वैखानस कहा गया है। भारवि (७वीं शती) कृत किरातार्जुनीय[7] में आगम का प्रकरण है। तिरुमूलर के तिरुमन्दिरम्[8] में, आनन्दगिरि की शंकर-विजय[9] में, रामकण्ठ द्वारा विरचित मतङ्गवृत्ति में, मनुस्मृति[10] पर कुल्लूकभट्ट की टीका में, याज्ञवल्क्यस्मृति[11] पर अपरादित्य के भाष्य में, निज-गुणशिवयोगी कृत विवेकचिन्तामणि में, अघोर शिव की रचनाओं में, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में, उमापति शिवाचार्यकृत पौष्करभाष्य में,

---

१. शिव-पु० वाय० सं० पू० भा० ३२।११; श्रीवेदोत्तम; तन्त्रशुद्धम्, पृ० २। २. सिद्धान्तदीपिका, भा० ६, पृ० १३६। ३. शिवसूत्र विमर्शिनी का आंग्ल अनुवाद, प्रारम्भिक टिप्पणी। ४. आंध्रसंवत्सरादि संचिका संस्कृत वाङ्मय चरितम्, पृ० ७१। ५. वचनशास्त्र रहस्य, पृ० २८९–२९९।

१. हिस्टरी ऑफ रिलीजन इन ए० ई०। २. शाबर भाष्य, ४।२।२७–२८। ३. साउथ इण्डिया इन्सक्रिपशन्स, भा० १, पृ० १५। ४. महाभारत, शान्ति पर्व २५७।१७। ५. वेदान्तसूत्र २।२। ६. अभिज्ञानशाकुन्तलम् प्रथम अङ्क। ७. किरातार्जुनीयम् ५।१८, २२। ८. तिरुमन्दिरम् ७।२७६। ९. शंकर-विजय अ० ७–९। १०. मनु० १।१०। ११. याज्ञ० १।७।

सायणाचार्य द्वारा रचित जैमिनीन्यायमाला विस्तर में, सूतसंहिता की व्याख्या में, माधवकृत सर्वदर्शनसंग्रह और अप्पयदीक्षित आदि की रचनाओं में आगमों के विवरण उपलब्ध होते हैं।

इनके अतिरिक्त यतीन्द्रमतदीपिकादि[1] वैष्णव दर्शन ग्रन्थों में पाशुपत आदि आगमों की चर्चा है। सर्वार्थसिद्धि[2] जैनदर्शन में जैनागम प्रामाण्य स्वीकृत है। वैयाकरण दर्शन का आगमाश्रितत्व भर्तृहरिकृत वाक्यपदीयम्[3] में मुक्तकण्ठ से प्रतिपादित है। अभिनव कृत तन्त्रालोक में निर्दिष्ट ९२ आगमों के विषय में विवेचन पूर्वपृष्ठों में हो चुका है। शैव और शाक्त तन्त्रों में पारस्परिक भेद शिवशक्ति की प्रधानता और अप्रधानता की दृष्टि से किया गया है। ललितविस्तर[4] में अवतरण है कि शाक्यमुनि ने निगम, पुराण, इतिहास और वेदों का विशेष ज्ञान प्राप्त किया। यहाँ निगम शब्द वेद के लिए प्रयुक्त न होकर तन्त्र को निर्देशित करता है जिसको आगम निगम भी अभिहित करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त साहित्यिक विवरण भी आगमों की प्राचीनता और लोकप्रियता पर यथेष्ठ प्रकाश डाल रहे हैं। जान वुडरफ का कथन है कि वेद विषयक कुछ दुराशय आगमों द्वारा निर्मूलित किये गये, अतः वेदों की भाँति ये भी प्राचीन ग्रन्थ हैं। अस्तु, वैदिक आर्यों ने यहाँ के आदिवासियों के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेने के अनन्तर शैवागमों की परम्परा को भी स्वीकार कर लिया। ऋग्वेद[1] में यद्यपि एक स्थल पर शिवलिङ्ग की पूजा करने वालों का घृणा की दृष्टि से चित्रण किया गया है, तथापि कालान्तर में विषमता न्यून होने लगी। इसीलिये वेद में शिव के रुद्र, त्र्यम्बक आदि नाम भी प्राप्त होते हैं।

१. यतीन्द्रमतदीपिका ३०–३१। २. सर्वार्थसिद्धि १।२०। ३. वाक्यपदीयम् द्वि० का० ४८८–४८९। ४. ललितविस्तर अ० १२।

१. ऋग्वेद ७।२२।३०।

आगमदृष्टि से शिवपूजा-रहस्य

श्री हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती

भारतीय साधना के इतिहास के अध्ययन करने के लिए तंत्र तथा आगम साहित्यों के साथ पाठकों का अंतरंग परिचय एकान्त आवश्यक है। साधना के सम्बन्ध में किसी भी धारा का अनुसरण करते समय यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आगम तथा तंत्र की धारणाएँ अत्यन्त व्यापक तथा गहन है, इसलिए यह कहना उचित प्रतीत होता है कि भारतीय उपासना का स्वरूप निरूपण बिना आगम तथा तांत्रिक दृष्टि से, असम्भव न भी हो तो कठिन अवश्य है।

आगम के दृष्टिकोण से साधना का उद्देश्य अपने स्वरूप में जो अपूर्णता वर्तमान है उसको दूर करना है। यद्यपि जीव स्वरूपतः शिवरूप है लेकिन पशुदशा में उसमें पूर्णता के अभाव रहने के कारण वह जीव शब्द से परिचित है। इस स्थिति में वह सर्वतः परिच्छिन्न होकर संसार समुद्र में नाविक विहीन नौका के सदृश घूमता रहता है। जीवों में परिच्छिन्नता का तारतम्य अवश्य है, इनमें कुछ अधिक शक्ति-सम्पन्न, कुछ कम। यहाँ शक्ति के प्रसंग से यह नहीं सोचना चाहिए कि शक्ति को अपने अधीन बनाना या शक्ति का अधिकारी होना ही साधना का उद्देश्य है। साधना का उद्देश्य अपने स्वरूप में जो शिवभाव सुप्त अवस्था में है उसे जाग्रत करना है। इसी का नाम स्वरूप स्थिति या परमार्थ है।

इस निबन्ध में शिव के तात्त्विक स्वरूप का विवेचन न कर आगम के दृष्टिकोण से शिव के पूजन के रहस्य के सम्बन्ध में आलोचना की जा रही है। आगमों में शिव के प्राकृत देह होना सम्भव नहीं है या आचार्य के शरीर के समान बैन्दव शरीर भी नहीं है। वह देह शाक्त देह है। आचार्य शब्द से यहाँ दीक्षा देने वाले गुरु को समझना चाहिए, जो प्राकृत देह को रखते हुए विन्दुमय शरीर के भी अधिकारी हैं।

परमेश्वर मल तथा कर्मरहित होने के कारण उनका प्राकृत शरीर होना सम्भव नहीं है, लेकिन उनका जो शरीर है, वह शाक्त शरीर नाम से अभिहित है। शक्तिस्वरूप सद्योजात आदि पंच मंत्रों से उनका दिव्य विग्रह रचित है और वही शरीर पंचकृत्य आदि का निर्वाह करता है। यह विग्रह उनके अपनी इच्छा से विनिर्मित है, इसलिए वह अपरिमित सामर्थ्य से युक्त है। दिक् उसका बाधक नहीं है, काल वहाँ स्तम्भित है और कोई भी आकार उसे परिच्छिन्न नहीं कर सकता है, अतः हमारे शरीर के समान यह कोई शरीर नहीं है। परमद्योतनशील ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात आदि मन्त्रों के द्वारा उनका विग्रह रचित है। उनके ध्यान में तल्लीन योगियों के दृष्टि के समक्ष वह अपने प्रकाशमय विग्रह धारण कर प्रकाशमान होते हैं। वपु शब्द का जो तात्पर्य मनीषियों ने किया है उससे जाना जाता है—'वरैः पुष्णति ध्यायिनः' वपु शब्द की सार्थकता इससे स्पष्ट हो जाता है। भक्तजनों के प्रति अनुग्रह प्रवण होकर वे विभिन्न प्रकार के रूप धारण करते हैं। इस बात के समर्थन में पौष्कर आगम ने लिखा है—

"साधकस्य तु लक्ष्यार्थं तस्य रूपमिदं स्मृतम्।"

उनके सबसे ऊर्ध्ववर्ती मूर्ति ईशान नाम से परिचित है। इस मूर्ति से ही सब प्रकार के शास्त्र एवं आगमों के स्रोत तथा अनुस्रोतों का उद्गम हुआ है, तो भी वे उनसे परे हैं तथा सर्वोर्ध्ववर्ती हैं। वे जिस गुणरूपी मंत्र के द्वारा उन स्रोतों के ऊर्ध्व प्रदेश में स्थित होकर इस चित् तथा अचित्‌रूपी विश्व के स्वामी हैं, वही शिवजी की ईशान मूर्ति है। नर शरीर में जैसे मस्तक का स्थान है उनकी ईशान मूर्ति शरीर के उत्तमांग के सदृश उनकी मूर्धा है, वस्तुतः वह देह का कोई अवयव नहीं है।

उनका तत्पुरुष वक्त्र अमर तथा नर शरीर रूपी विग्रहों में यजमान रूप में अधिष्ठित है, इसलिये उसे तत्तत् पुरुषों में अधिष्ठित होने के कारण तत्पुरुष कहा जाता है। ईश्वर सिद्धि ग्रन्थ में कहा गया है—

"स्वात्मैवायं वसति सकलप्राणिनामीश्वरोऽन्तः"।

तत्पुरुष वक्त्र क्यों कहा जाता है? इसके उत्तर में कहा गया है—

"व्यनक्ति ज्ञानक्रिये, त्रायते जन्मादिभयात्ततस्तत्पुरुषवक्त्रः"।

तृतीय रूप अघोर हृदय है। हृदय शब्द के नाना पर्यायों में एक अर्थ है बोध। शिवरूपी बोध जिससे उत्पन्न होता है वह अघोर हृदय नाम से परिचित है। उनके घोर रूप के सम्बन्ध में भी चर्चा होती है। उनका घोर रूप वास्तविक उनका स्वरूप नहीं है। उनकी निजी शक्ति से उद्‌बुद्ध होकर नाना प्रकार अशुद्ध अध्वाएँ सृष्टि के धारा में प्रकाशित होती हैं, उन असंख्य जगत् में अगणित अधिकारि-पुरुष नियत अपने अधिकार के अनुसार कृत्य करते रहते हैं। घोर शब्द से उन्हें समझना चाहिए।

वामदेव शब्द की निरुक्ति निम्न प्रकार है। यह संसार अति विशाल है, इसमें ऊर्ध्व निम्न नाना प्रकार के विभाग वर्तमान हैं। जैसे जीव असंख्य हैं, उनके वासनाजाल भी विचित्र तथा असंख्य हैं। जीवों की वासनाओं के अनुसार परमेश्वर उन्हें धर्म, अर्थ और काम आदि त्रिवर्गों के द्वारा प्रलुब्ध बनाकर उन्हें अधः प्रदेशों में विक्षेप करते हैं। अधः निक्षेपण ही वाम शब्द का तात्पर्य है। उनका वास्तविक स्वरूप गुह्य अर्थात् अप्रबुद्ध जीवों के समक्ष अप्रकट रहता है, इसलिये वे वामदेव गुह्य शब्द से अभिहित होते हैं।

भगवान् सर्वदा अपना स्वरूप गोपन नहीं रखते, अपनी इच्छा से तथा जीवों के कर्म परिक्षय की इच्छा से वे भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ धारण करते हैं। योगिपुरुषों के निकट उनके आशय तथा भाव के अनुसार मंत्रमय

शरीर धारण कर उन्हें दर्शन देते हैं, इसलिये आप सद्योजात है। परमार्थतः परमेश्वर देह के विग्रह रहित होते हुए भी उनकी शक्तियां उनका देह कार्य का साधन करती हैं। शक्ति भी एक है, लेकिन कृत्यों के भेद से वामा, ज्येष्ठा आदि शब्दों से उनका स्वरूप संसार में परिचित है।

शिवरूप परम प्रकाश शास्त्रों में कैलासवासी के रूप में वर्णित होते हैं। मर्त्यभूमि में जैसे स्थूल कैलास, स्थूल काशी, स्थूल वृन्दावन आदि हैं, वैसे उनके आध्यात्मिक रूप भी विद्यमान हैं। स्थूल दृष्टि से जो कुछ स्थूल इन्द्रिय के विषय हैं, सूक्ष्म दृष्टि खुल जाने पर सभी स्थूलों के सूक्ष्म रूप, सूक्ष्म भूमि में विराजमान दिखाई देते हैं। योगी, साधक और भक्तगण अपने साधन-बल से उनका दर्शन तथा अनुभव प्राप्त करते हैं। योगिगण अपनी योगयात्रा के उपरान्त अपने शरीर के ऊर्ध्व प्रदेश में ब्रह्मबिल नामक स्थान में पहले व्यापिनी तथा उसके बाद समना शक्ति का साक्षात्कार प्राप्त करते हैं। इन शक्तियों का दर्शन वास्तविकतया आध्यात्मिक प्रकर्ष का द्योतक है। व्यापिनी तथा समना शिवजी के त्रिशूल के दो अंश हैं। इन दोनों के ऊर्ध्व में जिसका अधिष्ठान है, शास्त्रों में वह उन्मना नाम से परिचित है। यह शक्तित्रय विश्व की चरम उर्ध्व सीमा है। शिवजी की अधिष्ठान भूमि तथा आसन इस शक्तित्रय के ऊपर है। शिव जी का आसन निरन्तर स्फुरणशील समना तथा व्यापिनी के ऊपर है। शास्त्रकारों ने कैलास शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए बताया है – 'के-मूर्धन्ये ब्रह्मबिले एला स्फुरन्ती शक्तिः तस्यामासः आसनमुपरि स्थितिर्यस्य', शिवजी इनके भी ऊपर स्थित हैं। उनका सर्वोत्तीर्ण स्वरूप घनीभूत प्रकाश है, फिर भी यही उनका परम स्वरूप नहीं है—समग्र विश्व उनके स्वरूप के अन्तर्गत होने के कारण वे विश्वरूप भी हैं।

शास्त्रों में शिव के निष्कल तथा सकल स्वरूपों की आलोचना हुई है। उनका निष्कल रूप बुद्धि के अगम्य है, तो भी उनका व्यापक स्थिति विश्व के अणु अणु में अनुस्यूत है। धारणा के अतीत होने के कारण उनके सकल स्वरूप के ध्यान तथा पूजन का उपदेश शास्त्रकारों ने किया है।

शिवजी अपने महामहिममय स्थिति में निरन्तर प्रकाशमान हैं। उनके विशुद्ध स्वरूप में जो निरन्तर खेल रही है, वही शक्ति है। वह शक्ति शिवजी के साथ अभिन्न है, लेकिन अभिन्न होते हुए भी उसमें मानों कुछ भिन्नता का आविर्भाव होता है। यह भिन्नता मूल स्वरूप से ईषत् भिन्न है। आँखों से जो दृश्य प्रतिभात होता है, वह जैसे सत्य है, उसी प्रकार उस दृश्य का प्रतिबिम्ब किसी आधार पर प्रतिफलित होने पर उसकी दृश्यता की कोई हानि नहीं होती है। शिवजी के शाक्तदेह भी उसी प्रकार प्रतिबिम्बात्मक है।

शिवजी का शाक्तदेह फिर परा, परापरा तथा अपरा नामों से परिचित है। मालिनीविजय में इस प्रसंग से कहा गया है—शक्ति का जो अपरा रूप है वह घोरतरी नाम से आख्यात है। वह असंख्य रुद्रों के साथ समालिंगित रहकर अणुरूपी जीवों को निरन्तर अधः से अधोदेशों में भेजती रहती हैं। जो घोरा शक्तियाँ हैं, वे जीवों के हृदयों में मिश्र कर्म में आसक्ति प्रदान करती हुई अर्थात् पुण्य तथा पाप कर्मों में नियोजित कर उनके सामने मोक्षमार्ग अवरुद्ध रखती हैं। लेकिन जो अघोरा शक्तियाँ हैं, वे शिव की अन्तरंग हैं, इसलिये जीवों के कल्याणदायिनी हैं, वे जीव को शिवधाम रूपी फल प्राप्त कराने में सहायता पहुँचाती हैं।

शिव की आराधना शक्ति की ही आराधना है क्यों कि शिव स्वरूप की प्राप्ति के लिये शक्ति की प्रसन्नता प्राप्त करना पहले आवश्यक है।

आगम में शिव के सकल रूप की आराधना का जो क्रम उपलब्ध है उससे प्रतीत होता है, उनकी मूर्ति की कल्पना दो प्रकार से होती है। एक क्रम का नाम दंड-भंगी और दूसरा है कवाट-भंगी। शक्तिमूर्ति शिव जो विश्वमूर्ति है वह सबका बृंहक है इसलिये वह ब्रह्म है। उन्हें एक सरल दण्ड रूप में कल्पना कर उस दण्ड के ऊर्ध्व क्रम से मूर्धा, वक्त्र, हृदय, गुह्य तथा सद्योजात मूर्ति की कल्पना करनी पड़ती है और उसी क्रम में मूर्ति का न्यास करना आवश्यक होता है। यही दण्ड-भंगी है। कवाट-भंगी इससे कुछ भिन्न है। कवाट में जैसे दिग्भेद हैं उसी प्रकार इस न्यासक्रम दिग्भेद से अनुष्ठित होता है। कवाट के ऊर्ध्व प्रदेश में मुख की कल्पना करते हुए उसके पूर्व, दक्षिण, उत्तर तथा पश्चिम दिशाओं में तत्पुरुष, अघोर, वामदेव तथा सद्योजात का न्यास करना पड़ता है। ऊर्ध्वदेश में ईशान का न्यास किया जाता है। ईशान वक्त्र सबका व्यापक है। इसलिये पहले ईशान वक्त्र के न्यास के अनन्तर दण्ड में जैसे अवयवों के कोई विभाग नहीं रहते हैं तो भी उसमें विभागों की कल्पना करते हुए ईशानादि वक्त्रों का न्यास करना चाहिए। उनके ऊर्ध्वादि मुख क्रमशः परम व्योम, वायु, तेज, वारि तथा धरा शक्तिमय है इसलिये ये मंत्र भैरव स्वरूप प्राप्त करने के साधन हैं। Svacchanda II

इस प्रसंग से कहना उचित होगा कि ईशानादि का स्वरूप तुरीयातीत, तुर्य, सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत् इन पंच अवस्था, अनुग्रह, तिरोधान, संहार, स्थिति, सृष्टि पंचकृत्य आदि से सम्बन्धित है। इस दृष्टि के अनुसार ईशान तुरीयातीत है, तत्पुरुष तुर्य, अघोर संहार प्रधान, वामदेव सृष्टि और सद्योजात स्थिति प्रधान हैं।

भगवान् शिव स्वातंत्र्य शक्तिसार हैं इसलिये उनकी मूर्ति के न्यास के साथ साथ उनकी शक्तियाँ जो कलामय हैं, उनका भी न्यास होना चाहिए। जो कलाएँ या शक्तियाँ ईशानरूपी शिव के अनुषंगी हैं, शास्त्रकारों ने उनकी संख्या पाँच है, ऐसा निर्देश किया। ये सब कलाएँ ईशान के ऊर्ध्व आदि क्रम से पाँच वक्त्रों में अधिष्ठित हैं। इन न्यासों से ईशान की व्याप्ति उन कलाओं में स्थित हैं, ऐसा जान पड़ता है।

उसी प्रकार तत्पुरुष में निवृत्ति आदि चार कलाओं का न्यास सृष्टि क्रम से अर्थात् तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात वक्त्र की भवना से स्फुट करना पड़ता है।

अघोर कला का न्यास हृदय आदि आठ क्षेत्रों में जैसे हृदय, ग्रीवा दो कंधे, नाभि, जठर, पृष्ठ तथा वक्ष में करना पड़ता है। वैसे गुह्य आदि क्षेत्रों में वामदेव की कलाएँ, सद्योजात कलाओं का न्यास पाद आदि क्षेत्रों में करना पड़ता है। सब वक्त्रों की कलाओं की संख्या ३८ हैं। उसी प्रकार चन्द्र, सूर्य और वह्नि कलाओं का न्यास भी करना पड़ता है, उनकी संख्या भी कुल ३८ हैं।

हम ने जो दिग्भेद का उल्लेख पहले किया है उसका रहस्य यहाँ संक्षेप में प्रकट करने का प्रयत्न करेंगे। शिवजी का ईशान वक्त्र ऊर्ध्वमुख है। शास्त्रकारों ने कहा है—ऊर्ध्व प्रकाश का प्रतीक है इसलिये ईशान

सर्वोर्ध्व है। तत्पुरुष पूर्वमुख है। पूर्वदिशा में प्रकाश की उन्मुखता वर्तमान है, इसलिये तत्पुरुष वक्त्र पूर्वमुख है। प्रसृत प्रकाश की अनुकूलता दक्षिण दिशा में है, शिवजी का अघोर वक्त्र दक्षिण दिशा में है। मेघ रूपी इन्दु का सम्पर्क उत्तर दिशा में है, इसलिए शिवजी का मेघाभिमुखीन वामदेव वक्त्र उत्तर दिशा में और प्रकाश वैमुख्य रहने से सद्योजात वक्त्र पश्चिम दिशा में वर्तमान है।

हमने कहा है शिवजी का ईशान वक्त्र सबसे ऊर्ध्ववर्ती है। इसका आशय यह है कि उनका परम स्वरूप एकमात्र प्रकाश के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, लेकिन उनका उस स्वरूप की उपलब्धि ध्यान तथा योग के द्वारा अनायास से प्राप्त करना सम्भव नहीं है। उन्हीं की इच्छा से भेदमय माया का खेल जैसे प्रसारित हुआ है, फिर अभेदास्थिति भी उन्हीं की इच्छा से प्रकाशित होती है। भेदमय संसार में वही माया में अधिष्ठित होकर संसार नाटक के अभिनेता हैं, फिर माया को अपने स्वरूप में अन्तर्लीन करते हुये उनका एकमात्र आत्मस्वरूप ही विराजमान है तथा अखण्ड परमानन्दघन अद्वयस्थिति ही प्रतिष्ठित है।

इसलिए जीव उनके स्वरूप को प्राप्त करने के लिए विकल्पमय भावना उपाय रूप से ग्रहण करता है। वह गुरु के मुख से, शास्त्रों के सहारे या स्वप्रतिभा से एकदिन जानता है, जीव ही शिव है। यह यद्यपि विकल्पमय भावना के प्रकर्ष से एकदिन उसका स्वरूप शिवमयता प्राप्त करता है। अशुद्ध विकल्प को द्वार बनाकर साधना करने से वही विकल्प उसे एकदिन शुद्ध विकल्पमय स्थिति में पहुँचाने में सहायक बनता है। इसलिए अभ्यास की आवश्यकता है। बारंबार अभ्यास से अशुद्ध विकल्प की अशुद्धता कट जाती है और परिणाम में शुद्ध विकल्प के उदय होकर वही अन्त में अहं विमर्श का रूप धारण करता है।

न्यास आदि से भावना का प्रकर्ष अवश्य प्राप्त होता है, इसलिए साधक अपने शरीर रूपी विग्रह में न्यास आदि क्रिया का सम्पादन करते हैं। अनुभवी शास्त्राकारों ने कहा है—भावना के बल से असम्भव भी सम्भव हो उठता है। इसलिए मनीषी भारतीय साधकों ने शिवभावना पर अधिक महत्व प्रदान किया। अवश्य किसी-किसी उत्कृष्ट आधारों में भावना की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। बिना किसी भावना से ही वे शिवभाव प्राप्त करते हैं।

आगम साहित्य में मुद्रा, मंडल, मन्त्र और विद्या इन चार प्रकार के विभाग लक्षित होते हैं, फिर किसी-किसी जगह विद्या, क्रिया, योग और चर्या ये चार विभाग भी दिखाई पड़ते हैं।

आगम के अनुसार इनका तात्पर्य निम्न है। विद्या शब्द से आगम-निर्दिष्ट मातृका समझना चाहिए। मातृका का अर्थ शिवशक्ति है। शिव प्रकाश रूपी है और उनके साथ अविनाभूत शक्ति, जो विमर्शरूपिणी है, उसका विद्या शब्द से उनका ग्रहण होना चाहिए। संक्षेप में प्रकाशविमर्श रूप परमार्थ ही विद्या शब्द का तात्पर्य है।

मंत्र शब्द से आगम में उल्लिखित मन्त्रों को समझना चाहिये। उनकी संख्या सात करोड़ हैं। इन मन्त्रों में कुछ मूल परमेश्वर के स्वरूप के साथ सम्बन्धित हैं और कुछ उनकी रश्मिरूपी आवरण रूप हैं।

मण्डल शब्द से नवनाम, सर्वतोभद्र आदि असंख्य रचनाओं का ग्रहण होना चाहिए। मण्डल भी परमेश्वर की अधिष्ठानभूमि है तथा परमज्योति के पीठ रूप से माना जाता है।

मुद्रा शरीरावयव के भिन्न-भिन्न सन्निवेश हैं। इनसे देवभाव का आपूरण सम्भव होता है। ये भी असंख्य हैं। विद्या, मन्त्र आदि की भिन्नता से तथा उपास्य विग्रह की भिन्नता से ये विभिन्न प्रकार के हैं; कुछ सामान्य हैं जो सभी पूजनों में सामान्यतः प्रयुक्त होते हैं, और कुछ विशेष हैं जो विशेष पूजा में प्रयोग में लाये जाते हैं। जैसे शिवजी के पूजन में कपाल, त्रिशूल, वज्र, लिंग आदि, त्रिपुर सुन्दरी के पूजन में त्रिखण्ड मुद्रा आदि, काली के पूजन में योनिमुद्रा आदि।

एक विशेष दृष्टि से हम यहाँ संक्षेप में शिवजी के पूजन का एक क्रम की आलोचना में प्रवृत्त हुए हैं। अन्य प्रचलित क्रम से यह कुछ अंश में भिन्न सा प्रतीत होने पर भी यह आगमसम्मत क्रम है इसलिये यहाँ उसे प्रदर्शित किया जा रहा है।

आचार्य एक मातृकायंत्र सुविशुद्ध तथा उपलिप्त भूमि पर अंकित कर उस पर मातृका भैरव तथा भैरवी का पूजन करते हैं। अनुत्तर से विसर्ग आदि सोलह स्वर भैरव स्वभाव है। समग्रवाच्य तथा वाचक रूप तत्त्व-राशि उन्हीं में आश्रित हैं, उनका उल्लासक भी यही स्वर है, इसलिये ये बीज शब्द से अभिहित होते हैं। मूलतः ये परासंवित रूप है। वह विश्व के कारण ही नहीं विश्वमय भी हैं। क से लेकर चौंतीस वर्ण व्यंजन शब्द से परिचित हैं। वे योनिरूप हैं क्योंकि वे जगत् के कारण हैं। ये व्यंजन बीजों का घनीभूत रूप हैं तथा बीजों से ही ये व्यंजित होते हैं इसलिये क आदि चौंतीस वर्ण व्यंजन कहलाते हैं। भैरव के पूजन के अनन्तर विभिन्न दिक्क्रम से सप्तमातृकाओं तथा उनके अविभक्त रूपी तथा उनकी अधिष्ठात्री उमा योगेश्वरी का पूजन करना पड़ता है।

जो पूजक असाधारण पूजन क्रम के अधिकारी हैं वह साधारण स्तर के पाशबद्ध जीवमात्र नहीं है, यह बात अनायास हृदयगोचर होता है। सामान्य अधिकारी का पूजन भी असाधारण पूजा के रूप में तभी पर्यवसित होती है जब उस में भावना का प्रकर्ष और हृदय में भक्ति तथा अनुराग वर्तमान रहता है। यंत्र के सदृश पूजन तथा जप कोई विशेष फलदायक नहीं होता है। साधारण मनुष्य जो परमभाव या परास्थिति समग्र विश्व के अणु-अणु में विराजित हैं, उसे विस्मृत हो जाता है। किसी समय आचार्यदेव म० म० गोपीनाथजी ने पूजा के प्रसंग से कहा था—दुर्गापूजन के समय देखने को आता है कि देवीपक्ष के षष्ठी के संध्या के समय देवी का बोधन का अनुष्ठान होता है। यह बोधन देवी के जागरण के नाम से प्रसिद्ध है, क्यों कि आश्विन महीना दक्षिणायन काल का है। इस समय देवों की निद्रा का समय है अतः पूजन में देवताओं का जागरण आवश्यक है। कहा जाता है कि रावण वध के पहले श्रीरामचन्द्र ने देवी की प्रसन्नता के लिये उन्हें जगाया था। इसलिये यह बोधन 'अकाल बोधन' नाम से परिचित है। आज भी मर्त्यवासी मनुष्य देवी पूजा के पहले बोधन का अनुष्ठान करते हैं। लेकिन बोधन का वास्तविक आशय यह है कि हम जो खण्डसत्ता में स्थित हैं, उसे उपसंहृत कर, जो अखण्ड संविज्ज्योति निरन्तर देदीप्यमान है, उस चैतन्य स्थिति में स्थित

होना है—उस निर्विकल्प स्थिति की भावना ही बोधन का तात्पर्य है। इसके बाद है अधिवास। उस भावना से अपनी सत्ता से लेकर सभी वस्तुयें जो याग में प्रयोग में आयेंगी, उन्हें भावित करना है। जैसे वैद्य लोग औषधि प्रस्तुत करते समय विभिन्न द्रव्यों के स्वरस से औषधि में गुणावान करते हैं, यह भी कुछ अंश में उसके सदृश है। शिवभावना से अधिवासित करना ही अधिवास शब्द का वास्तविक आशय है। इसके बाद आता है सम्मुखीकरण। यह भी गम्भीर रहस्यपूर्ण है—इसका आशय है कि अनन्त व्यापक प्रकाश जैसे घनीभूत होकर पूजक की दृष्टि के सम्मुख विराजमान है—इस प्रकार भावना इसका तात्पर्य है। भावना ही पूजक की परम कल्याणकारिणी है। जो पूजक हैं उनके लिए भावना विहीन मन्त्रों का उच्चारण कोई असाधारण फल नहीं देता है। भक्ति से शून्य पूजा के उपचार देवता के चरणों में अर्पित होने पर परमार्थ लाभ में सहायक नहीं बनते। अथच परतत्त्व के विमर्श के द्वारा जब वही वस्तु पवित्र बनती है, तब जो भी वस्तु उन्हें निवेदित की जाती है, परमार्थ प्राप्ति में सहायक बनती है। किसी योगिवर ने लिखा है, जो लोग विमर्श विहीन हैं वे—

मुहुः कराग्रेण निरुध्य नासां मुहुश्च पार्श्वस्थमवेक्षमाणाः
देवान् यजन्ते कतिचित्''

और जो लोग ऊर्ध्वस्रोत में स्थित हैं उनकी—

''स्वानन्दमुद्रैकमहासपर्याः''

जो लोग उत्तम अधिकार सम्पन्न हैं—उनके प्रतिदिन के कर्म जो नित्यकर्म नाम से परिचित हैं—शय्यात्याग से आरम्भ होकर दिन के अन्तिम भाग तक नाना कर्मों से व्यतीत होने पर भी उनकी प्रबुद्ध स्थिति बिगड़ती नहीं। प्रातःकाल में गुरु के चरणकमलों के ध्यान करते हुये वे जमीन पर पैर रखते हैं। उनका स्नान आदि कार्य भी साधारण से कुछ भिन्न है। स्थान के उपरान्त जब वे यागगृह में प्रवेश करते हैं, तब अपने शरीर के द्वादशान्त में स्थित शिवरूपी चन्द्र और चन्द्रिका रूपिणी शक्ति को प्रसरोन्मुख करते हुए (अनंगधेनुरूपी मुद्रा के द्वारा) यागगृह के सर्वत्र परानन्द से आप्लावित करते हैं। यह अमृत रस यहाँ विराजमान रहें, इस आशय से कवच मन्त्र से उसे अवगुण्ठित करते हैं। उसके बाद आसन न्यास, मूर्ति न्यास तथा वक्त्र न्यास आदि क्रियायें होती हैं। इन कार्यों की समाप्ति के बाद करन्यास तथा भैरव न्यास होना आवश्यक होता है।

इसके अनन्तर देह की शुद्धि के लिये प्राणायाम आवश्यक है। देह की शुद्धि दाह, उत्प्लावन, आप्यायन आदियों से सम्पन्न होती है। पहले बाहर जाने वाली वायु को भोगद्वादशान्त में विश्रान्त कर, वहाँ से प्राप्त शाक्तबल से देह को वायु के द्वारा पूरण करना पड़ता है। पूरण के बाद हृदय से मूलपीठ तक व्याप्त स्थिर वायु जल से भरे घड़े की तरह निश्चल है, इस प्रकार का कुम्भक करना आवश्यक है। इसका फल है फिर से शाक्त बल की प्राप्ति, इसके बाद दिव्य करण क्रम से ऊर्ध्वरेचन करना पड़ता है। इस रेचन प्रक्रिया द्वारा अपनी आत्मा जो जुगनू की तरह सूक्ष्म तेरह प्रकार करणों से विवर्जित, काल, माया तथा नियति के जाल से मुक्त, स्थूल, सूक्ष्म दस प्रकार कार्यों से रहित उस आत्मा को द्वादशान्त में, जो व्योम द्वादशान्त नाम से परिचित है, ले जाया जाना पड़ता है। उसके वहाँ जाने के साथ साथ मन, बुद्धि और अहंकार भी परतत्त्व में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया से शुद्ध शरीर की शुद्धि के बाद स्थूल शरीर की शुद्धि की आवश्यकता पड़ती है।

स्थूल शरीर की शुद्धि के लिये पहले पार्थिव धारणा कर शोषण के लिये वायवी धारणा और साथ ही एक विशेष बीज इस क्रिया में प्रयुक्त होता है। इसके बाद दहन, जिस कार्य में आग्नेयी धारणा और अग्नि बीज की भावना आवश्यक है। इस दाहन का कार्य कालाग्नि द्वारा होता है। यह अग्नि पैर से मस्तक तक सभी वस्तुओं को जलाती है। दहन के बाद उत्प्लवन है। दहन के बाद भस्म रूप में अर्थात् संस्कार रूप में जो शेष है वायवी धारणा के द्वारा उसे चारों तरफ फैला देना है। इसके बाद वारुणी धारणा के द्वारा द्वादशान्त स्थित पूर्ण चन्द्र के मंडल से शुभ्र प्रकाशमय वारिधारा चारों तरफ फैल कर समग्र विश्व को आप्लापित कर रही है। इस प्रकार की भावना करनी पड़ती है, साथ ही जिन बीजों से इन कार्यों का सम्पादन हुआ है, वे सभी परमेश्वर की किरणों से पवित्र हैं इसकी भी भावना करनी पड़ती है। इस प्रकार भूतशुद्धि का अभ्यास प्रतिदिन करने से शिवस्वरूप का उजृम्भण होता है अर्थात् शिवभाव जग उठता है।

इसके अनन्तर द्वादशान्त में स्थित शुद्ध आत्मा को मध्यमार्ग से ऊर्ध्वरेचक के द्वारा हृदय में लाकर उससे शुद्ध देह का सम्बन्ध डालने के लिये माया से क्षिति तक ३१ तत्त्वों का न्यास करना पड़ता है। लेकिन इस न्यास प्रभाव से माया आदि तत्त्व फिर भेद की जननी न रहकर उसके अभेद बोध की सहायिका बन जाती है। कला पाश रूप न रहकर पूजा, जप, ध्यान आदि कार्यों में पूजक को किंचित् कर्तृत्व के उन्मीलक, विद्या तात्त्विक विवेकप्रदा, राग भक्ति के प्रति अनुराग, काल उपदेश आदि कलना का उत्पादन करते हैं। नियति भगवदाराधन आदि के नियामक बनती है। उस स्थिति में पुरुष अपने को पाशबद्ध जीव न समझ कर शिवभाव में जागरूक हो उठता है। यही रूपांतरण है और इसप्रकार का रूपांतरण माया से क्षिति पर्यन्त सभी तत्त्वों में होता है, जिसके फल स्वरूप वे फिर कंचुक रूपी न रहकर आत्मा के स्वरूप उन्मीलन के सहायक बन जाते हैं।

जीव स्वभावतः पाशजाल में बद्ध रहकर अपने स्वरूप भूलकर भेदमय संसार में विचरता है। जबतक उसके चित्त में भौतिक अंश और पंचभूतों में चित्त का अंश वर्तमान रहता है तब तक उपासना में उसका अधिकार नहीं रहता है। म० म० गोपीनाथ कविराज जी ने लिखा है—'पंचभूत की अशुद्धि दूर होने पर भी शुद्धभूतों से निर्मित देह शेष रहता है। इसमें चित्त का अंश नहीं रहता है और पंचभूतों में परस्पर साम्यभाव रहता है। वस्तुतः यह शुद्ध देह है—इसमें सन्देह नहीं है। पक्षान्तर से चित्त शुद्धि सम्पन्न होने पर, उससे भौतिक अंश दूर हो जाने पर, वह शुद्धचित्त के रूप में प्रकाशमान हो जाता है। अन्त में भूत तथा चित्त में साम्यावस्था प्रतिष्ठित हो जाता है। साम्यमय यही देह शुद्ध देह है। इसमें सब है अथच एक के ऊपर दूसरे की प्रधानता नहीं है। शुद्ध देह प्राप्ति रूपी साम्यावस्था प्राप्त कर उपासना में प्रवृत्त होना पड़ता है। तब इस

साम्यमय आधार में महाज्योति का प्रतिफलन होने पर ज्ञान का विकास होने लगता है।'

शुद्ध देह की तीन स्थितियाँ हैं, उसमें एक पर है, दूसरा सूक्ष्म और तीसरा स्थूल है। तीनों मिलकर एक है। माया से नियति तक तत्त्वों के द्वारा निर्मित पर देह, तन्मात्रा और अन्तःकरणों से सूक्ष्म, पृथ्वी आदि से निर्मित स्थूल है।'

सभी देहों की शुद्धि होने पर 'ॐ शुद्धदेहाय नमः' इस मन्त्र से उस शुद्ध देह रूपी आत्मा का पूजन करना पड़ता है। इस प्रकार देह के होते हुए वह देह आत्मा का बन्धक नहीं है, क्यों कि उस देह के साथ आत्मा का तादात्म्यबोध कट गया है। उस समय उस शुद्ध देह के अधिकारी का शरीर (तंडुल) चावल का कम्बुक (ऊपर कर आवरण) जैसा बन जाता है। उस समय वह शरीर वेदक नहीं, वेद्य है, क्यों कि उसमें आत्माभिमान गल गया है।

इतनी दूर तक सम्पन्न होने पर इष्ट शिव का न्यास मूलमंत्र से करना पड़ता है और अन्य न्यास आदि सम्पन्न कर देवता के आवाहन आदि करने के बाद उनका मानस पूजन गन्ध, धूप, पुष्प आदि से समाप्त कर हृद्याग का प्रारम्भ करना पड़ता है।

यह हृद्याग विस्तृत है इसलिये संक्षेप में इसका वर्णन किया जा रहा है। भावना करना पड़ता है अपने शरीर के नाभिदेश में कमल का कन्द स्थित है। उससे एक नाल ऊर्ध्व दिशा में बारह अंगुलियाँ चलकर हृदय प्रदेश में विश्रान्त है। यह नाल प्राणशक्तिमय है। नाल में जितने काँटे हैं, वे रुद्रों के अगणित भुवन हैं। कमल के दल के नीचे और नाल के शेष भाग में जो ग्रन्थि है वह मायारूपी है। सबसे नीचे नाल का जो आधार है वह नाभि से चार अंगुलियाँ नीचे स्थित है। वह पृथ्वीरूपी है। उससे एक अंगुली ऊपर अप्तत्त्व की, उससे एक अंगुली ऊपर तेजस्तत्त्व की व्याप्ति वर्तमान है। कन्द स्वयं प्राणमय है और उसमें वायुतत्त्व की व्याप्ति वर्तमान है। जो बारह अंगुलियाँ दीर्घ नाल है वह गन्ध तन्मात्रा से लेकर कला तत्त्व तक जितने तत्त्व हैं उनकी व्याप्ति पूरे नाल में है। माया उन सब के ऊपर है तथा ग्रन्थिरूपी है—इसका वर्णन पहले ही किया गया है। माया के ऊपर कमल की स्थिति है। इसके पत्ते आठ हैं। कमल विद्यापद्म नाम से परिचित है। जिसमें कर्णिका, केशर तथा बीज आदि हैं। कमल में जो पुष्कर समूह है वे विद्येश्वर हैं, जिनके अधीश्वर अनन्त नाम के विद्येश हैं। ये अनन्त तेजोमय हैं। उन्हीं की इच्छा रूपिणी शक्ति कन्द स्थान में दृढ़बल से अवष्टम्भित कर अंकुर नाल रूपी माया तक संसार की रचना करते हुये वे विद्येश रूप में स्थित हैं। योगी भी अपने स्वरूप में भावना के द्वारा इस प्रकार आसन की रचना करते हैं। उस आसन के चार पैर हैं, जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य रूप है। उनके वर्ण भी क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत तथा कृष्ण हैं और अग्नि, नैऋत, वायु तथा ईशान इन क्रमों में स्थित है। उसी प्रकार पूर्वादि दिशाओं में अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य आदि भी सिंहासन के अन्य अवयव हैं। सभी पैर सिंहरूपी हैं। सिंहासन पर दो पट्टिकायें हैं, जो एक कोण से दूसरे कोण तक गयी हैं और प्रत्येक पैर से आठ कीलों के द्वारा बद्ध है। ये कीलें भी वेद चतुष्टय और युग चतुष्टय के प्रतीक हैं। ये ततत् भोगवासना के सूक्ष्म कारण हैं। ये सब बुद्धि धर्म इस ऊर्ध्वलोक में संस्कार रूप में स्थित हैं यहाँ से इनका उच्छेद हो तो निम्न भूमि में इनका विकास होना सम्भव नहीं होता।

सिंहासन पर तीन आस्तरण हैं जो गुणावरण है। सबसे ऊर्ध्व में सत्त्व, बीच में रजः, सबसे नीचे तमः का स्थान है। योगी इनकी भावना शक्ति के रूप में करते हैं। शुद्धविद्या कमल के दल श्वेतवर्ण है, केसर समूह मूल में श्वेत, बीच में लाल, आगे पीत वर्ण है। कर्णिका सोने के रंग के तथा बीज हरित वर्ण के हैं।

	दलों में देवता	दिक्	वर्ण
१	वामा	पूर्व	इन्द्रधनुष
२	ज्येष्ठा	वह्नि	,,
	शक्ति	दिक्	वर्ण
३	रौद्री	दक्षिण	इन्द्रधनुष
४	काली	नैऋत	,,
५	कलविकरणी	पश्चिम	,,
६	बलविकरणी	वायु	,,
७	बलप्रमथनी	उत्तर	,,
८	सर्वभूतदमनी	ईशान	,,
९	मनोन्मनी	कर्णिका	सूर्यवर्ण

विद्या कमल में तीन मण्डल और विभिन्न स्थितियाँ निम्न प्रकार हैं—

धाम	स्थान	तत्त्व	शक्ति	अधिपति	अवस्था
१ सूर्यमण्डल	पत्र	प्रमाण	ज्ञान	ब्रह्मा	सृष्टि
१ सोममण्डल	केसर	प्रमेय	क्रिया	विष्णु	स्थिति
३ वह्निमण्डल	कर्णिका	प्रमाता	इच्छा	रुद्र	संहार

इन सबों का न्यास अपने-अपने स्थान में सम्पन्न होते हैं। कमल की कर्णिका पर शिवजी जो वृषपर आरूढ़ हैं, ध्यान करते हुए उनके ऊपर सदाशिवरूपी प्रेत का न्यास करना चाहिए। प्रेत शब्द का तात्पर्य शास्त्रकार ने इस प्रकार निर्देश किया—'प्रकर्षेण इतं गतं सम्बद्धं विश्वं यस्य'—जिनके स्वरूप से स्फुट इदन्ता का लेश विगलित हो गया है, वही सदाशिव है। उनकी स्थिति तीन प्रकार है अर्थात् व्याप्ति तीन है। अपर-व्याप्ति से वे स्थूल सदाशिव हैं, मध्यम व्याप्ति से वे नादरूप हैं और पर व्याप्ति से वे ही अनाश्रित शिव हैं। उसके बाद अन्य कुछ क्रियाओं के उपरान्त उस प्रेतरूपी सदाशिव आसन पर शिवजी का ध्यान आवश्यक है। वे प्रकाशानन्दघन चन्द्रार्धकृतशेखर हैं, विश्व की आप्यायनकारिणी-अमारूपी अमृतकला उनके शिर पर शोभित है, हाथ का परशु हलाकृति नादशक्ति का प्रतीक है, मुद्गर विन्दु का। नीलकण्ठ अख्याति-रूप महाविषहर। साधक का हृदय उन्हीं के चमत्कार रस से आप्लावित है। इस प्रकार अपने इष्टमूर्ति की कल्पना कर तथा वे उनके हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, नाद तथा नादान्त तक स्थित इस प्रकार की स्थिति में कुछ काल तक निश्चल रहकर आवाहन, स्थापन, पाद्य, आचमन, अर्घ, स्वागत, संनिधान तथा निरोधन आदि अपनी मुद्राओं में करना पड़ता है। इसके बाद मानस पूजा के अनन्तर शक्ति, भैरव आदि का पूजन समाप्त कर जप करना चाहिए।

आगम में 'अ' और 'ह'

चक्रवर्ती रामाधीन चतुर्वेदी

आगमशास्त्र का विषय बहुत ही रहस्यपूर्ण है। इस शास्त्र में तत्त्वों का प्रतिपादन अधिकतर वर्णमातृकाओं के माध्यम से हुआ है। इसलिये तत्वदर्शी सद्गुरु के बिना आगमशास्त्र का वास्तविक बोध नहीं होता। यों तो सामान्यरूप से सभी शास्त्रों के ज्ञान के लिए सद्गुरु की आवश्यकता होती है, किन्तु आगमशास्त्र के लिये सद्गुरु और अधिकारी शिष्य का विशेष महत्व माना गया है, क्योंकि इस शास्त्र के तत्त्व जब तक साधनाओं के द्वारा निरन्तर अनुभव का विषय नहीं बन जाते, तब तक उनसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। यदि किसी अनधिकारी शिष्य को गुरुकृपा से आगमशास्त्र की चिन्तामणि रूपसिद्धि प्राप्त भी हो जाय, तो वह जीवन पर्यन्त आत्म-प्रतिष्ठा और लौकिक कामनाओं की पूर्ति में ही उसे खर्च कर देता है। अतः आत्मस्वरूप के साक्षात्कार से वह सदा वंचित ही रह जाता है। किन्तु जो आगमशास्त्र का सच्चा अधिकारी होता है, वह तो इन लौकिक और पारलौकिक विषयों के प्रलोभनों में न फँसकर तत्त्व-चिन्तन से अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की अनुभूति में ही सदा मस्त रहता है।

प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में यह तो सर्वथा सिद्ध है कि वर्णमातृकाओं के माध्यम से जहाँ आगम के तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है, वहाँ "अ" को प्रकाशरूप शिव और हवर्ण को विमर्शरूप शक्ति बताया गया है। जैसा कि इस विषय में आगम का एक श्लोक प्रसिद्ध है—

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः॥

इस अ और ह वर्ण का सम्मिलित रूप ही 'अहम्' है जो प्रकाशरूप शिव तथा विमर्शरूप शक्ति के सामरस्य का प्रतीक है। इस सामरस्य से ही सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है। प्रकाश में जो स्फुरणरूप विमर्श है, वही प्रकाश की शक्ति है। जिससे प्रकाशरूप शिव जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार भी करते हैं। इसका उल्लेख—

नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपाऽस्य वर्तते शक्तिः।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति॥

इस पद्य में स्पष्ट है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने तो विमर्श को परावाक् के रूप में प्रस्तुत करते हुये कहा है कि—

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥[1]

अर्थात् वाग्रूप विमर्श शक्ति यदि प्रकाशरूप बोध से अलग हो जाय तो प्रकाश में प्रकाश करने की शक्ति ही नहीं रहेगी, क्योंकि स्फुरणात्मक विमर्शरूप शक्ति से ही प्रकाश की प्रकाशकता सिद्ध होती है। अतः प्रकाश और विमर्श का सम्बन्ध नित्य है, जो अहं रूप से सभी पदार्थों की प्रतीति का आधार है। इस नित्य सम्बन्ध की तुलना आकाश और वायु के सम्बन्ध के साथ की गई है। जिसका उल्लेख तन्त्रालोक के व्याख्याकार ने इस प्रकार किया है—

अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ।
विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव॥[1]

अर्थात् जैसे आकाश और वायु का परस्पर नित्य सम्बन्ध है। वैसे ही 'अ' और 'ह' का भी अविभक्त रूप नित्य सम्बन्ध है। भाव यह है कि जिस प्रकार आकाश में सदा वर्तमान वायु की स्फुरण रूप से प्रतीति होती रहती है, उसी तरह प्रकाश रूप 'अ' में विमर्शरूप 'ह' भी नित्य स्फुरित होता रहता है। इस प्रकार अहं रूप में नित्य संपृक्त प्रकाश और विमर्शशक्ति से सम्पूर्ण जगत् प्रादुर्भूत होकर उसी में भासित हो रहा है। इसी लिये सभी लोग अपने आप को "अहं" रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि शिवशक्त्यात्मक व्यापक अहं अन्तःकरण के विषयों में प्रतिबिम्बित होकर अहंकार रूप से भी प्रतीत होने लगता है, तथापि जिस प्रकार जपाकुसुम के सम्बन्ध से स्वच्छ स्फटिक रक्त स्फटिक बन जाता है, किन्तु तत्त्वतः उसमें रक्तता संभव नहीं है। उसी तरह विषय की स्वतन्त्र रूप से सत्ता मानने पर ही अहंकार का जन्म होता है। वस्तुतः अहं रूप व्यापक एक अद्वैततत्त्व का बोध होने पर तो उससे अतिरिक्त दूसरी वस्तु का भान ही नहीं होता। उस समय तो केवल एक अखण्ड बोध की ही अनुभूति होती है। अनुभव करने वाला भी अहं रूप बोध ही है, दूसरा नहीं। इसी अनुभव रूप अहंब्रह्म के प्रतिपादन में निगमागम सभी शास्त्रों का परम तात्पर्य निहित है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्[2]॥

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अपने वास्तविक स्वरूप का परिचय अहं तत्त्व के माध्यम से ही दिया है। इस विषय में वरिवस्या-रहस्य का भी वचन है कि—

अहकारौ शिवशक्ती शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ।
स्फुरणप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म॥

---

१. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड, श्लोक १२५।

१. तन्त्रालोक आ० ३, श्लोक २००।

२. श्रीमद्भगवद्गीता अ० १५, श्लोक १५।

अर्थात् प्रकाशस्फुरण रूप अहमात्मक शिव और शक्ति परस्पर सम्मिलित रूप में वेदान्त प्रतिपाद्य परब्रह्म ही हैं।

इस अहमात्मक शिव-शक्ति से न केवल पदार्थों का प्रादुर्भाव होता है, अपितु 'अ' और 'ह' के सहयोग से मातृका के सम्पूर्ण वर्ण अभिव्यक्त होते हैं। इसीलिये आगमशास्त्र में 'अ' और 'ह' वर्ण को ही शिव और शक्ति का प्रतीक माना गया है। वस्तुतः शिव शक्त्यात्मक विश्व प्रपञ्च की भाँति शब्द संसार भी अहमात्मक ही है। इस विषय में वेद वचन है कि—"अकार एव सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना नानारूपा भवति" अर्थात् अकार ही सम्पूर्ण वर्णरूप वाणी है, और वही स्पर्श और ऊष्मा के सहयोग से अनेक वर्णों के रूप में अभिव्यक्त होती है। मूलतः बात यह है कि अखण्ड ज्ञान प्राणी के मूलाधार चक्र में परावाक् के रूप से सदा विराजमान है। यही परावाग्रूपज्ञान, अपना स्वरूप प्रकट करने के लिये क्रमशः पश्यन्ती तथा मध्यमावाक् के रूप से अनुभूत होकर अन्त में सुनने योग्य वर्णात्मक वैखरी वाक् का रूप धारण कर लेता है। जैसा कि शब्दतत्त्व के रसिक महाविद्वान् भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है—

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते[1]॥

तात्पर्य यह है कि जब प्राणी को बोलने की इच्छा होती है तब परावाग् रूप ज्ञान ही ऊष्मा = वायु के सहयोग से कण्ठ, कण्ठमूल तथा तालु आदि स्थानों को प्राप्त कर अवर्ण, कवर्ग, चवर्ग आदि सभी वर्णों के रूप से अभिव्यक्त होता है। सबसे पहले अवर्ण की अभिव्यक्ति का कारण यह है कि कण्ठस्थान, सभी तालु मूर्धा आदि स्थानों के मूल में है। अतः सबसे पहले ज्ञान की अभिव्यक्ति कण्ठ-स्थान से अवर्ण के रूप में होती है। इसके बाद अवर्ण ही जिह्वामूल, तालु, आदि स्थानों को प्राप्तकर कवर्ग, चवर्गादि वर्णों के रूप में प्रकट होता रहता है।

१. वाक्यपदीय ब्रह्म काण्ड, श्लोक, ११३।

ऊष्मा वायु के साथ जो अकार का सहयोग बताया गया, उसका तात्पर्य यह है कि 'ह' वर्ण ऊष्मप्रधान है। अतः अ का ऊष्मा के साथ नित्य सम्बन्ध है, क्योंकि प्राणवायु के बिना अवर्ण की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, और ह का प्रयोग भी अ के बिना संभव नहीं। यह तो सभी व्यञ्जनवर्णों की स्थिति है कि वे स्वर की सहायता से ही प्रयुक्त होते हैं। इसी लिये कहा जाता है—"नाचं विना व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति"।[1] अर्थात् स्वर के बिना व्यञ्जन का उच्चारण ही नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि अ और ऊष्मरूप ह का सामरस्य ही ताल्वादि स्थान विशेष को प्राप्तकर नाना वर्णों के रूप में प्रतिफलित होता है। अ और ह के नित्य साहचर्य में दूसरा उच्चारणरूप अनुभव प्रमाण यह है कि इनकी अभिव्यक्ति एक ही स्थान से होती है। जिसका समर्थन "कण्ठ्या-वहौ"[2] कहकर पाणिनीयशिक्षा भी करती है।

यद्यपि कण्ठ और जिह्वामूल स्थान में सूक्ष्म भेद होने के कारण व्याकरण शास्त्र में पदसाधन प्रक्रिया के लिये अवर्ण, कवर्ग और ह इन तीनों का एक स्थान मान लिया गया है, किन्तु अ और ह वर्ण के उच्चारण में जिह्वामूल का स्पर्श नहीं होता, जैसा कि क वर्ग के उच्चारण में होता है। अतः अभिव्यक्ति स्थान की एकता से भी दोनों वर्णों का नित्य साहचर्य सिद्ध होता है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि अ और ह वर्ण के सामरस्य से सम्पूर्ण वर्णों की अभिव्यक्ति होने के कारण आगमशास्त्र में सभी तत्त्वों के मूल में शिव तथा शक्ति के प्रतीक रूप से अ और ह को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है।

●

१. म० भा० पा० सू० १।२।३०।
२. पाणिनीयशिक्षा, श्लोक १६।

जप में आगमिक मन्त्रार्थ भावन अपेक्षित

डॉ० परमहंस मिश्र

उपासना पद्धति में मन्त्रों के जप का अपना विशेष महत्त्व है। जप के साथ अर्थ का उद्भावन अनिवार्यतः अपेक्षित है। इसका कारण है। वैदिक उपासना के क्रम में मन्त्रों के साथ ब्रह्म और अनेक देव-अधिदेवों का सम्बन्ध स्वीकृत है। योग और आगम शास्त्र के अनुसार सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था के वैषम्य को मातृकाओं के विशिष्ट स्पन्दन-ध्वनियों में प्रतिफलित माना जाता है। साम्यावस्था के रहस्यात्मक स्पन्दन को हम ॐकार कहते हैं। यह गीता के अनुसार एकाक्षर ब्रह्म का प्रतीक है किन्तु वैषम्य की अवस्था में जो ध्वनियाँ प्रकृति के स्पन्द में प्रतिफलित होती हैं, वे अनेकानेक मन्त्र-बीजों के रूप में प्रस्फुटित हो उठती हैं। आगम शास्त्र में उल्लेख है कि—

"साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति,
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः,
ते मन्त्रा समुपासनार्थमभवन् बीजानि नाम्ना तथा॥"

साम्य और वैषम्य दोनों अवस्थाओं में जो स्पन्दन प्रकृति में होते हैं—उनमें महान् अन्तर होता है। साम्यावस्था में ही सिसृक्षा के कारण ॐ कार स्पन्दित होता है। इसे भगवान् पतञ्जलि ब्रह्म का ही वाचक मानते हैं। 'तस्य वाचकः प्रणवः' यह सूत्र इसी रहस्य का उद्घोषक है। ॐ कार में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की—ईशितृशक्ति का उन्मेष है। वैषम्य में सृष्टि का सीत्कार अष्टधा प्रकृति के रूप में प्रतिफलित होता है। अष्टधा प्रकृति के अनुसार ही आठ प्रकार के बीजों की उत्पत्ति वर्ण मातृका के परस्पर सम्मिलन से हो जाती है और उनके जप में उनके अर्थ का भावन अपेक्षित होता है। भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'। मन्त्रयोग संहिता में—

"बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वं ततोऽष्टौ परिकीर्त्तिताः।
गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततो भवेत्॥
कामबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम्।
शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता॥"

इन श्लोकों के द्वारा क्रमशः "आ+ए+म्" के योग में गुरुबीज, "ह्+र्+ई+म्" के योग में शक्तिबीज, "श्+र्+ई+म्" के योग से रमाबीज, "क्+ल्+ई+म्" के योग से काम बीज, "क्+र्+ई+म्" के योग से योगबीज, "र्+ई+म्" अथवा "ट्+र्+ई+म्" के योग से तेजोबीज, "स्+त्+र्+ई+म्" के योग से शान्तिबीज एवम् "ह्+ल्+ई+म्" के योग से रक्षाबीज का उद्भव होता है।

बीज महान् वृक्ष का जनक होता है। बीज वह बिन्दु है, जिसमें सिन्धु की अपरम्पार पारावार प्रवणता मूल रूप में अवस्थित होती है। मन्त्रों में बीज का भी वही महत्त्व है।

वैदिक मन्त्रों में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के ब्रह्म द्वारा अभ्यान्तर्षण से प्रादुर्भूत वर्णमातृका का समन्वित चमत्कार जापक में दिव्यता का आधान करता है। यही कारण है कि जप के साथ तदर्थ भावन होता रहता है। यदि केवल जप हो और तदर्थभावन न हो तो फलवत्ता में विलम्ब और जापक में अनास्था उत्पन्न होती है।

आगमिक मंत्रों में बीज का ही बाहुल्य है। बहुधा ऐसा देखने में आता है कि बहुत से तांत्रिक मंत्रवेत्ता बिना अर्थ का उद्भावन किये झाड़-फूँक करते हैं और मन्त्र का चमत्कार प्रदर्शित करते हैं। जैसे एक बालक या कोई भी व्यक्ति कुत्ते को बुलाने के लिए च अक्षर की पंचष या अष्टन्नव आवृत्ति करता है और कुत्ता दुम हिलाते हुए वहाँ आ जाता है—उसी प्रकार कुछ बीजाक्षरों के सम्मिलित समुच्चार से सम्बद्ध अधिदैव की शक्ति का विस्फार अनिवार्य तथ्य है। इसी शक्ति विस्फुरण से रोग निराकरण, भूत बाधा शमन अथवा इसी प्रकार के अन्य कार्य सम्पन्न होते दीख पड़ते हैं। किन्तु यह ग्रहण आदि विशेष समय जन्य सिद्धि का परिणाम होता है।

ज्हाँ तक उपासना का प्रश्न है—वहाँ ऐसे बीजाक्षरों की वर्ण मातृका में निहित तत्त्वार्थ का भावन अनिवार्यतः होना ही चाहिये, अन्यथा उन मंत्रों की महनीयता का, उनकी दिव्यता का अथवा उनकी शक्तिमत्ता का संचार जापक में प्रत्याशित रूप से नहीं हो सकता।

मंत्रार्थ भावन की व्याकरण सम्मत विधि बड़ी ही उपयुक्त है। तंत्र शास्त्र में प्रत्येक अक्षर का अपना एक विशिष्ट स्वरूप निर्धारित है। जैसे बिन्दु एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणोरणीयान् संकेत है। यह ब्रह्मबीज है। 'वेत्ति इति बिन्दुः' के अनुसार बिन्दु में सृष्टि की सर्वज्ञता का आधान है। बिन्दु ब्रह्म की साम्यावस्था का प्रतीक है। इसी में सिसृक्षा का स्पन्दन होता है और बिन्दु विसर्ग बन जाता है। विसर्ग का अर्थ है वैशिष्ट्य समन्वित सृजन। विसर्ग से पाणिनीय व्याकरण के अनुसार सृष्टि के सीत्कार का संकुलित स्वरूप सकार का समुद्भव होता है। स् का अर्थ बिन्दु विस्तार, विसर्ग का प्रसार और सृष्टि का शाश्वत स्पन्दन होता है। यही सकार जब तालव्य रूप ग्रहण करता है तो उसमें इच्छा शक्ति की प्रतीक 'इ'कार की सवर्णता का समन्वय हो जाता है। स् जब दन्त्य रहता है तो उसमें गतिशीलता में भी स्थिरता का तत्त्व विद्यमान रहता है। स् से 'ह' कार का उद्भव होता है। यह भाषाविज्ञान से सिद्ध है। पाणिनीय व्याकरण में विसर्ग जब क और प से समन्वित होता है तो वह आधे हकार के रूप में उच्चारित होता है। बिन्दु सभी स्वरों के साथ ही संहित होता है, जब कि विसर्ग केवल अकार, इकार और 'उ' कार के साथ ही संहित होता है। बिन्दु ब्रह्मबीज के साथ ही साथ अग्नि बीज भी होता है। इसे स्वर के साथ रहने के कारण अनुस्वार भी कहते हैं। विसर्ग के अकार, इकार और उकार के साथ प्रयुक्त होने का भी विशेष तथ्य है।

'अ'कार अनुत्तर शिव का प्रतीक है। जब यह दीर्घ होता है, तो 'आ'नन्द का प्रतीक बन जाता है। प्लुत में आनन्दपूर्ण राग-रागिनियों का प्रवाह विश्व को आप्लावित करता है। उसी प्रकार 'इ' कार इच्छा

शक्ति को प्रतीक है। जब यह दीर्घ होती है तो ईशितृ शक्ति की सर्वैश्वर्य सम्पन्नता इसमें लहराती है। 'उ' कार सृष्टि के उन्मेष का प्रतीक है। जब यह दीर्घ बनता है, तो यह 'ऊर्मि का संसार सिन्धु के लहराव का प्रतीक बन जाता है। व्याकरण के अनुसार अनुत्तर शिव रूप अकार 'इ' इच्छा से मिलकर 'य्'; 'उ' उन्मेष से मिलकर अमृतात्मक 'व' कार, 'ऋ' से मिलकर तैजस् 'र' कार, और लृ से मिलकर धरा तत्त्व के प्रतीक 'ल' बीज में शाश्वत स्पन्दित होता रहता है। इसी सन्दर्भ में आप महामृत्युञ्जय मंत्र की मानस पूजा में प्रयुक्त बीजों का अर्थ लगाकर देख सकते हैं कि वहाँ बीजों के माध्यम से परम शिव की महापूजा का कितना रहस्यात्मक स्वरूप सुरक्षित है। जैसे—'लं' पृथिव्यात्मकं गन्धं में गन्धवती पृथिवी तथा पृथिवी की स्थिरात्मकता, 'अ' की अनुत्तरात्मकता और बिन्दु बीज की परिवृंहणशीलता—सब अर्थतः निहित है। इसप्रकार 'लं' परम शिवरूप महामृत्युञ्जय के गन्धका काम करता है।

इसी प्रकार 'हं' आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि के क्रम में 'ह' पुष्प रूप से अर्पित होता दीख रहा है। पाणिनीय का करण के अनुसार समस्त व्यंजन समुदाय 'ह' कार से सम्पुटित है। 'ह' कार सृष्टि के सीत्कार के अनन्तर पहली सृष्टि है। परम सूक्ष्म निराकार ब्रह्म के बाद पंचभूत की स्थूल निर्मिति आकाश है—यही 'ह' कार है। यही इच्छा शक्ति के साथ औपनिषदिक 'हिंकार' और उन्मेष के साथ दुर्गा का 'हुंकार' बन जाता है। इसी प्रकार 'यं' वाय्वात्मक धूप, 'रं' तैजसात्मक दीप, 'वं' अमृतात्मक नैवेद्य तथा 'सं' सर्वात्मक मन्त्र पुष्प बनकर वर्णमातृका के माध्यम से महामृत्युञ्जय के अलङ्कार बन जाते हैं।

यह बीजाक्षरों की महिमा का मूल्याङ्कन है। इस तरह इनमें अर्थ के उद्भावन से उपासना में दिव्यता का संचार होता है, आराधक अपनी अनुपम आराधना से आराध्य का संराधन कर पाता है और आराध्य का साक्षात्कार सुगम हो जाता है।

इन्हीं बीजाक्षरों की तरह आगम में प्रयुक्त होने वाले समस्त मन्त्र समुदाय में अर्थ की उद्भावना सर्वात्मना अनिवार्य है। जैसे नवार्ण मंत्र को लें, उसमें प्रयुक्त सभी वर्णों की दिव्यता का अनुदर्शन करें, उन वर्णों की रमणीयता में रम जायें, उनकी शक्ति के विस्फार में आत्मसाक्षात्कार करें, उनकी संहति की सामुदायिक महाशक्तिमत्ता में अपने को मिला दें, तो फिर क्या पूछना! साधक या जापक का जीवन धन्य हो जाये! पर उसे पारम्परिक रूप से भावनापूर्वक बिना अर्थ समझे भी जप करने से पराम्बा की अकारण अनुकम्पा तो सुलभ ही है।

मंत्र एक माध्यम होता है—लक्ष्य की सिद्धि का। जो लक्ष्य है—उसमें आस्था अनिवार्यतः आवश्यक है। विश्वास शतप्रतिशत होना ही चाहिये। श्रद्धा का सम्बल तो नितान्ततः अपेक्षित है किन्तु आस्था, श्रद्धा और विश्वास के साथ ही साथ यदि मन्त्रार्थ की महनीयता का अनुमापन होता चले, उसकी मातृका शक्ति का सतत समाकलन होता चले और अन्त में साधक मन्त्ररूप ही हो जाये, तो मङ्गल ही मङ्गल है।

इसलिये निष्कर्षतः मेरा यह विचार है कि आगमिक मन्त्रों के जप में भी अर्थ का आकलन, उसका उद्भावन और अर्थवत्ता की तारङ्गिकता के बिन्दु-बिन्दु में आत्म विलयन नितान्त अपेक्षित है। ●

कामकला तत्त्व

डा० चाँद प्रकाश मेहरा

सकल-भुवनोदय-स्थित-लय-मय-लीला-विनोदनोद्युक्तः ।
अन्तर्लीन-विमर्शः, पातु महेशः प्रकाश-मात्र-तनुः ॥ १ ॥

जो समस्त भुवनों की उत्पत्ति-स्थिति-लय-रूपी लीला-विनोद के लिये निरन्तर उद्युक्त रहते हैं और 'विमर्श' जिनमें अन्तर्लीन है, प्रकाश-स्वभाववान् वे ही कामेश्वर हमारी रक्षा करें।

सा जयति शक्तिराद्या, निज-सुख-मय-नित्य-निरूपमाकारा ।
भावि चराचर-बीजं, शिव-रूप-विमर्श-निर्मलादर्शः ॥ २ ॥

जो भविष्य में उत्पन्न होने वाले चराचर वस्तुजात की जननी हैं और शिव के अहमित्याकारक स्वरूप-ज्ञान के प्रकाशन के लिये दर्पण के समान हैं, उन नित्या और स्वभावतः आनन्दमयी आद्या शक्ति की जय हो।

स्फुट-शिव-शक्ति-समागम-बीजांकुर-रूपिणी परा-शक्तिः ।
अणुतर-रूपानुत्तरविमर्श-लिपि-लक्ष्यविग्रहा भाति ॥ ३ ॥

वह शिव-शक्ति-समागम बीजांकुर-रूपिणी है। 'शिव' से ज्ञान-शक्ति और शक्ति से क्रिया शक्ति का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। दोनों शक्तियों की अधिष्ठान-भूता होने से वह चिदानन्द-रूपिणी बीजांकुर-रूपिणी है। वह अणु से भी सूक्ष्म है, अनुत्तर-लिपि (अ-कार) और विमर्श-लिपि (ह-कार) स्वरूपिणी है अर्थात् वह वर्ण वर्णमाला रूपिणी है।

पर-शिव-रवि-कर-निकरे, प्रतिफलति विमर्श-दर्पणे विशदे ।
प्रति-रुचि-रुचिरे-कुड्ये, चित्त-मये निविशते महा-बिंदुः ॥ ४ ॥

प्रकाशैक-स्वभाव पर-शिव (कामेश्वर) रूपी सूर्य के किरण-रूप स्वरूप-प्रकाशक स्वच्छ विमर्शरूपी दर्पण में प्रति फलित होते हैं, तब उनका प्रतिबिम्ब-स्वरूपी महा-बिंदु चित्त-रूपी भिति पर अङ्कित होता है।

चित्तमयोऽहङ्कारः, सुव्यक्ता हार्ण-सम-रसाकारः ।
शिव-शक्ति-मिथुन-पिण्डः, कवली-कृत-भुवन-मण्डलो जयति ॥ ५ ॥

प्रकाश-विमर्श के संयोग से चित्त पर जो बिंदु प्रतिफलित हुआ, वही अहङ्कार है। वही शिव-शक्ति-मिथुन का एक पिण्ड है और उसी में छत्तीस तत्त्वों का सङ्घात-स्वरूप सकल भुवन-मण्डल निहित है। उसने विश्व को ग्रस लिया है। वर्ण-माला के अक्षर भी उसी में समाये हुए हैं, जो परा-पश्यन्ती-मध्यमा और वैखरी चारों वाक् के प्रकाशक हैं।

सित-शोण-बिन्दु-युगलं, विविक्त-शिव-शक्ति-संकुचत्प्रसरम् ।
वागर्थ-सृष्टि-हेतुः, परस्परानु-प्रविष्ट-विस्पष्टम् ॥ ६ ॥

उस महा-बिंदु में एक शुभ्र और एक रक्त बिंदु समाया हुआ है। दोनों बिन्दु एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हैं। ये ही कामेश्वर-कामेश्वरी हैं, जिनके विहार (संकुचन और प्रसरण) से विश्व का सृजन और विलयन होता रहता है। वर्णाक्षरों की उत्पत्ति यहीं से हुई है।

बिन्दुरहङ्कारात्मा, रविरेतन्मिथुन-सम-रसाकारः ।
कामः कमनीय-तया, कला च दहनेन्दु-विग्रहौ बिन्दू ॥ ७ ॥

रक्त-शुक्ल बिंदुओं की समरसता से अर्थात् प्रकाश-विमर्श के मिथुन की समरसता से ही कामेश्वर-सहित कामेश्वरी की महाबिंदु-रूप से अनुभूति होती है। इसी बिंदु से 'अहम्'-रूपी स्फुरत्ता-सम्पन्न जीव-शरीर की निर्मिति होती है। वह स्फुरत्ता-शालिनी अहन्ता-रूपिणी प्रकाशानन्द-सारा महात्रिपुरसुन्दरी अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डों की जननी और लिपि-अक्षर-रूपिणी वाग्वादिनी 'कामकला' है।

इति 'कामकला' विद्या देवी-चक्र क्रमात्मिका सेयम् ।
विदिता येन स मुक्तो, भवति महात्रिपुरसुन्दरी-रूपः ॥ ८ ॥

वही 'कामकला' विद्या समस्त प्रकटादि मंत्र-देवात्मक श्री चक्र रूपिणी है। इसको जो भली भाँति जान लेता है, वह मुक्त अर्थात् तद्रूप-महात्रिपुर सुन्दरी-स्वरूप हो हो जाता है। इसी बिंदु-रूपिणी सर्व प्रपञ्च की बीज-भूता आदि विद्या श्री विद्या से जगत् के उत्पत्ति आदि कार्य चलते हैं।

सृष्टि के मूलभूत तत्त्व को समझने के लिये मंत्र-विज्ञान में कामकला का बड़ा महत्व है। इसका प्रतीक है—"ई कार"। इसमें भी मूलतः तीन बिंदुओं की योजना है। इसे आकार में लिखने पर यह स्वरूप होगा—

मूल बिंदु
O

रक्त O O शुक्ल

V
परिणाम

सृष्टि का मूल स्वरूप 'कामकला' को माना गया है। इसका प्रतीक है "ई" वर्ण। वर्णों का प्रारम्भ अंत "अ-ह" से होता है। अर्थात् "अहं" या पराहंता में ही वर्ण राशि का पर्यवसान है। सारे विश्व में मातृका शक्ति अपने अस्तित्व को पोषित कर रही है। यथा—

"विश्वं व्याप्य चिदात्मनाऽहमित्युज्जृम्भसे मातृके"
—"शक्ति महिम्न स्तोत्र"—दुर्वासा।

'कामकला' विज्ञान बड़ा गूढ़ है और विभिन्न शास्त्रों से संबंध रखता है। प्रायः शक्ति देवता के बीजों में "ईकार" प्रधान है। अतः सर्व साधारण शक्ति-तत्त्व का यह प्रतीक है। आगमों में इसे कहीं कहीं शुद्ध-विद्या भी कहा है। 'कामकला' को प्रायः शक्ति का संपूर्ण प्रतीक

माना गया है। तीन बिंदु तथा नीचे का भाग जिसे हार्ध-कला भी कहते हैं, ये सब अंश मिल कर पराशक्ति का अवयवात्मक शरीर भी बनता है।

यथा— 'बिन्दुं संकल्प्य वक्त्रं तु तदधः स्थं कुचद्वयम्
तदधः सपरार्धं तु चिन्तयेत्तदधोमुखम्"
एवं कामकला रूपमक्षरं मत्समुत्थितम्।
कामादिविषमोक्षणामालयं परमेश्वरी।
तदेव तत्त्वप्रवरं निज देहं विचिन्तयेत् ॥—वामकेश्वर तन्त्र

ऊपर जो तीन बिंदु दिये हैं ∴ ये तंत्र शास्त्र के सार तत्त्व हैं। इन तीन बिन्दुओं से श्री देवी के शरीर के अवयवों की कल्पना की जाती है। भिन्न-भिन्न धार्मिक साम्प्रदायिक भावनायें भी इन्हीं के आधार पर की जाती हैं। श्री भास्करराय दीक्षित ने लिखा है—

उर्ध्वं कामाख्यो बिन्दुरेकः
तदधोऽग्नीषोमात्मको बिन्दुर्द्वितीयरूपोऽन्यः।
तदधो हकारार्धरूपः कलाख्यस्तृतीयः।
तदहि प्रत्याहारन्यायेन कामकलेत्युच्यते।
शरीरऽपि त्रय एवाऽवयवाः शीर्षादिघटिकान्तः,
कण्ठादिस्तनान्तो,
हृदयादिसीवन्यन्तश्च······ततश्च यथाक्रममक्षरावयवान्।
देव्यवयवत्वेन परिणतान् विभाव्य देव्यक्षरयोरभेदं विचिन्तयेत् ॥
—(सेतुबन्ध टीका)

'अ' एवं 'हं' इन दोनों के समाहार से बिंदु के सहयोग से अहंभाव का स्फुरण हुआ करता है। यह अहंभाव ही मूलीभूत कामतत्त्व है। यही अप्राकृत नवीन मदन है। 'अ' वर्णमाला का आदि है और 'ह' वर्णमाला के अन्त में है, दोनों के समाहार से समग्र वर्ण माला ही द्योतित हो रही है। 'अ' प्रकाशात्मक परमशिव है एवं 'ह' विमर्श रूपा परा शक्ति है। दोनों का भाव अथवा नित्ययुक्त भाव सिद्ध हो रहा है। इसी को युगल मिलन कहते हैं।

प्रकाश अहं रूप विमर्श है और अहं भाव ही विमर्श का कारण है। प्रकाश और विमर्श दोनों अभिन्न हैं।

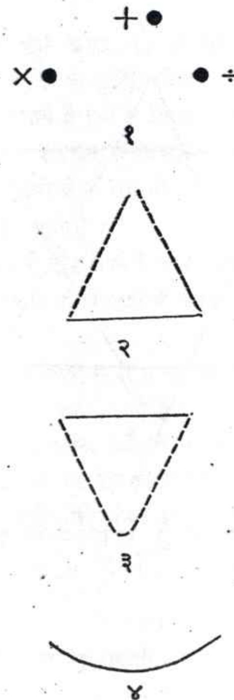
"Prakash is the experience of 'I-ness' अहं and "Vimarsa" is experiencing 'This' इदम्। 'Vimarsa' is the experience that I am the un created one 'अकृतकोऽहम्' in the form of the universe (सृष्टि), in the manifestation of the universe (स्थिति) and in the absorption of the universe (लय अथवा संहार)।

जिसको अहंभाव कहा जाता है वही नित्य श्री राधाकृष्ण का युगल स्वरूप है। स्मरण रखना होगा कि 'अ' जिस प्रकार शुद्ध चित् स्वरूप है, 'ह' उसी प्रकार शुद्ध चित्कला की हार्द कला है। 'ह' आधा है एवं यह आधा ही राधा है, जो 'अ' को आश्रय करके बिन्दु के साथ अभिन्न रूप से या मिलित रूप से प्रकाशित हो रही हैं, यही सृष्टि की आदिम रस लीला का अन्तरङ्ग स्वरूप है। अव्यक्तावस्था से जब अचिन्त्य रूप से कला का उन्मेष होता है तब प्रथम चिद्भाव का स्फुरण होता है। अन्यान्य भाव उसके परवर्ती हैं। इस चित् भाव का द्योतक अनुत्तर या 'अ' है।

इसके पश्चात् क्रमशः अर्थात् उत्तरोत्तर सब कलाओं की स्फूर्ति होते-होते बाद में अन्तर्मुख प्रवाह उपस्थित होता है। इसके फलस्वरूप समस्त मातृका-वर्ण की अभिव्यक्ति के पश्चात् सम्प्रसारण का अवसान होने पर, सङ्कोच भाव के निष्पन्न होने पर बिंदु में स्थिति लाभ होता है। बिंदु से विसर्ग एवं विसर्ग से पुनः बिंदु इसी का नाम "अहं" है। यह कामतत्त्व है, जिसे काम कहते हैं, उसी को प्रेम या आनन्द कहा जाता है।

कामतत्त्व के स्फुरण के साथ-साथ ही एक अद्वैत बिंदु दो रूपों में परिणत हुआ एवं इस एक के साथ दो का आकृष्य-आकर्षक संबंध स्थापित हुआ, एक बार एक बिंदु से दो बिंदुओं का निर्गम होने लगा और फिर बिंदु-द्वय संकुचित होकर एक में लीन होने लगे, यही बिंदु-विसर्ग का खेल है। बिंदु ज्ञान है, विसर्ग कर्म है। बिंदु चित् है, विसर्ग आनन्द है। बिंदु शिव है वा प्रकाश है, विसर्ग शक्ति वा विमर्श है। बिंदु-विसर्ग की क्रीड़ा ही कामकला है। इसमें तीन बिन्दु हैं। कारण-बिंदु दो, कार्य-बिंदु एक। वस्तुतः यह कार्य-बिंदु ही बिंदुद्वय के संघर्षजनित आनन्द का उदय या प्रादुर्भाव है। वस्तुतः यही नन्द का नन्दन है। कामकला का विलास वस्तुतः अग्नि, सोम एवं रवि (काम बिंदु अथवा संयुक्त या मिश्र बिंदु) इन तीन बिन्दुओं की क्रीड़ा है।

याद रहे विश्वव्यापिनी शक्ति चित् (चेतना) है, इसलिये वह ज्ञान (मय) है, उसे ज्ञान है, इसलिए इच्छा होती है और इच्छा होती है इसलिये क्रिया होती है। जब अपनी इच्छा और क्रिया से वह सृष्टि कल्पना करती है और साथ-साथ नाम और रूप उत्पन्न होते हैं तब सृष्टि का प्रवर्तन होता है, इनका चिह्न व संकेत इस प्रकार है—

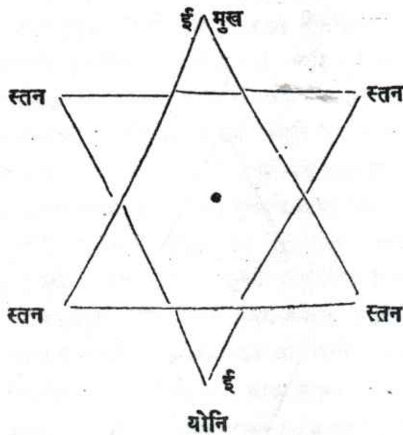


चित्र १ में (+) चिन्ह वाला बिंदु चित्, चेतना, ज्ञान अथवा शक्ति बिंदु है। (×) चिह्नित बिंदु 'नाद-बिंदु' है और (÷) चिह्नित बिंदु 'रूप-बिंदु' है। अंतिम युग्म बिंदुओं को संक्षिप्त रूप में 'नाद-बिंदु' और 'रूप-बिंदु' न कह कर केवल 'नाद-बिंदु' भी कहते हैं। इन तीनों बिंदुओं को मिला देने से त्रिकोण (चित्र २) बनता है, इसका नाम कामकला वा विभु की इच्छा का खेल है। वेदना के आनन्द का ही विभक्तरूप इच्छा और क्रिया के सम्मिलित रूप का नाम आनन्द है और ज्ञान-इच्छा-क्रिया का नाम चित्-आनन्द है। सारांश यह है कि त्रिकोण वा योनि चिदानन्द का आदि और सबसे सरल प्रतीक है। इसकी लीला सभी आध्यात्मिक साधनाओं और विशेषकर योगियों और तांत्रिकों की साधनाओं में सर्वत्र परिव्याप्त है। इस त्रिकोण की तीन भुजाएँ वैदिक, जैन, बौद्धादि के त्रिक और तुलसी के 'त्रिविध' हैं। रूप कल्पना में जब उर्ध्व बिंदु को मुख माना जाता है तब दोनों अधोबिंदु कुच माने जाते हैं। यथा—

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
ह (का) रार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम्।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनितेत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम्॥

—(सौन्दर्यलहरी, श्लोक १९—कामकला बीज ध्यान।)

चित्र नं० २ के त्रिकोण को शिव योनि कहा जाता है। इसमें उर्ध्व बिंदु (Apex) की कल्पना मुख रूप में की गई है। यदि इसी त्रिकोण को नीचे की ओर उलट दिया जाय तो उर्ध्व बिन्दु (Apex) नीचे आ जायेगा। इस स्थिति में जब उर्ध्व बिन्दु की नाभि रूप में कल्पना की जाती है तब इसे शक्ति योनि कहते हैं। इन त्रिकोणों के बीच एक बिंदु की कल्पना की जाती है।



[ध्यान में इस षट्कोण की ही भावना करनी चाहिये]

नाभि से नीचे ही योनि अथवा भग स्थित है। यह षट्कोण ही शिव-शक्ति के मिथुन का प्रतीक है।

यह मध्यस्थ बिंदु कूटस्थ आदि शक्ति वा तुरीया है, जिससे त्रितत्त्वादि उत्पन्न होकर सृष्टि-लीला का विस्तार करते हैं। यह मध्य बिंदु ही श्री चक्र का मध्य बिंदु है, जिस पर ब्रह्म शक्ति स्थित रह कर सृष्टि-चक्र का संचालन करती है। इस प्रकार त्रिगुणात्मक साकार सृष्टि-क्रिया का प्रतीक त्रिकोण है और निर्गुण आदि मध्यान्त हीन ब्रह्म (अंत बृहत्) के महा विस्तार का संकेत हकारार्ध अर्थात् मेखला है, जो ओंकार में अर्धमात्रा (चित्र नं० ४) के रूप में अवस्थित है।

सर्ग का मूल तत्त्व अजा, आद्या शक्ति हैं; अनन्त और अव्यक्त है। शाक्तागम से लेकर वैष्णवागम एवं वैखानसागम तक, सम्पूर्ण आगम साहित्य में उसी अव्यक्त को प्रकट करने की चेष्टा की गई है। आगम का विशेष महत्त्व इसी में है। उस अज्ञेय एवं अव्यक्त शक्ति के प्रत्येक विकास में एक ही परम तत्त्व का स्वतः आगम होता रहता है। इसी हेतु से इसे आगम कहते भी हैं। उस परम तत्त्व को ईश्वर कहते हैं, शिव कहते हैं। उदाहरण स्वरूप आदि लीला ही है। ब्रह्म देव तप के प्रभाव से सृष्टि तो जैसी चाहते थे, कर लेते थे, परन्तु उसकी अभिवृद्धि नहीं होती थी। अस्तु, शक्ति ने विमर्श या स्फूर्ति रूप धारण किया और शिव ने प्रकाश रूप से उसमें प्रवेश। परिणाम स्वरूप 'बिन्दु' की प्रादुर्भावना हुई। इसी रीति से शक्ति ने शिव में प्रवेश किया, जिसमें वह बिन्दु समुन्नत हुआ और इस संयोग से स्त्री-तत्त्व 'नाद' की उत्पत्ति हुई। ये दोनों बिंदु और नाद दूध और पानी की तरह ऐसे मिले कि एक रूप हो गये और 'संयुक्त बिंदु' (अर्द्धनारीश्वर) नाम से प्रसिद्ध हुए। यह संयुक्तबिंदु तत्त्व पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व उभय के बीच आत्यन्तिक आसक्ति को प्रकट करता है। इसी अभिप्राय से इसको 'काम' भी कहते हैं।

पुनः बिन्दु दो हैं। उनमें से एक श्वेत और पुंसत्व का बोधक है और रक्त है, जो स्त्रीत्व का परिचायक है। इनसे 'कला' की उत्पत्ति होती है। अस्तु, तीनों बिंदु—[(१) संयुक्त बिंदु (काम), (२) श्वेत बिंदु, (३) रक्त बिंदु (कला)] मिलकर 'कामकला' में परिणित हुए। इस प्रकार यहाँ चार शक्तियों का एकत्रीकरण हुआ। (१) मूल-बिंदु, वह तत्त्व विशेष जिससे इस जगत् की रचना हुई। (२) नाद, जिसके ही ऊपर बिन्दु के क्रमोन्नति परिणाम से उत्पन्न द्रव्यों का नामकरण अवलम्बित है। इन दोनों में अत्यन्त प्रेम है, परन्तु वह सृष्टि-विस्तार-हीन है। एक जनक-शक्ति उनके साथ (३) श्वेत पुं० बिंदु (जो स्वतः तो उत्पत्ति में असमर्थ है) और (४) रक्त-स्त्री बिन्दु के द्वारा संयोजित हुई। जब ये चारों तत्त्व मिलकर 'कामकला' में प्रवृत्त हुए तब संपूर्ण शाब्दिक और वास्तविक सृष्टि उत्पन्न हुई। भृगु आदि के मत से नाद के साथ 'अर्ध-कला' की भी परिणति हुई, जब प्रथमतः तत्त्व ने मूल-बिंदु में प्रवेश किया था। किसी-किसी आगम में सर्वश्रेष्ठ देवी 'कामकला' के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सूर्य (संयुक्त-बिंदु) ही उनका मुख है और अग्नि एवं चन्द्रमा (रक्त और श्वेत बिंदु) ही उनके वक्षस्थल हैं और अर्धकला जननेन्द्रिय है। इस विचार-सरणी से गर्भ की स्थिति सुस्पष्ट होती है, जिससे सृष्टि का विकास होता है। अस्तु सृष्टि-विधायिनी एक महिमान्वित देवी है और उसको 'परा', 'ललिता', 'भट्टारिका' और त्रिपुर सुन्दरी कहते हैं।

संस्कृत वर्णमाला का प्रथम अक्षर 'अ' शिव का प्रतीक है और अंतिम अक्षर 'ह' शक्ति का प्रतीक है। इसी 'ह' को 'अर्धकला' व हार्धकला अथवा अर्धभाग कहते हैं। इसी से यह स्त्री तत्त्व है, गर्भाशय है। यह हार्धकला ही योनि रूप में कल्पित होती है। यह हार्धकला अति रहस्यमय गुह्य तत्त्व है। यहाँ इतना ही कहना काफी होगा कि शिव शक्ति के मिलन से उत्पन्न अमृत की धारा प्रवाहित होने पर उससे जिस लीला रूप तरङ्ग की उत्पत्ति होती है, वही तांत्रिक परिभाषा में हार्धकला के नाम से विख्यात है।

['अ' कार रूप प्रकाश के साथ 'ह'कार रूप विमर्श का अर्थात् अग्नि के साथ सोम का साम्यभाव ही 'काम' अथवा 'रवि' के नाम से प्रसिद्ध है। शास्त्र में जिस अग्नीषोमात्मक बिंदु का उल्लेख पाया जाता है, वह भी यही है। शिव ही 'अ' और शक्ति ही 'ह' है—संयुक्त-बिंदु रूप में यही 'अहं' अथवा पूर्णहन्ता (मैं पूर्ण हूँ) है। साम्य भग होने पर वह संयुक्त बिंदु प्रस्पन्दित होकर शुक्ल और रक्त बिंदु में आविर्भूत होता है। इस स्पन्दनकार्य से जो अभिव्यक्त होता है उसे ही शास्त्र में संवित् अथवा चैतन्य के नाम से वर्णन किया जाता है। इसी का दूसरा नाम चित्कला है। अग्नि के सम्पर्क से घृत जिस प्रकार गल कर धारा रूप में बहने लगता है, उसी प्रकार प्रकाशात्मक शिव के सम्पर्क से विमर्श रूपा पराशक्ति द्रुत होती है तथा उससे एक परमानन्दमय अमृत की धारा का स्राव होता है। यही अमृत धारा हार्धकला है और एक प्रकार से उपर्युक्त चित्कला एवं दूसरे प्रकार से ब्रह्मानन्द का स्वरूप है।]

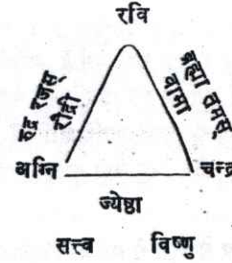
यह 'ह' और शिव स्वरूप 'अ' का सम्मिलन कामकला अथवा त्रिपुर-सुन्दरी का स्वतः विकास है; यह त्रिपुरसुन्दरी 'अहम्' से ओत-प्रोत है। अहंत्व से व्यक्तित्व संचलित है। यही कारण है कि संपूर्ण सृष्टि व्यक्तित्व और अहंत्व से परिपूर्ण है। और जीव मात्र, इस प्रकार त्रिपुरसुन्दरी के ही रूपान्तर हैं और त्रिपुरसुन्दरी पद को प्राप्त हो सकते हैं, यदि वे 'देवी चक्र' 'अ' और 'ह' के साथ 'कामकलाविद्या' का अभ्यास करें।

संस्कृत वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' अन्तिम अक्षर 'ह' के बीच संपूर्ण अक्षरों को अपने में समावेशित किये हुए है और उनके द्वारा बने हुए संपूर्ण शब्दों को भी (संपूर्ण वाङ्मय को भी)। जैसे त्रिपुरसुन्दरी द्वारा सब वस्तुओं की उत्पत्ति है, उसी तरह संपूर्ण शब्दों की भी। इसीलिये उस महादेवी का नाम 'परा' है अर्थात् चार प्रकार की वाणी में प्रथम, सृष्टि परिणामी है, विवर्त्त (मिथ्या अध्यास) नहीं है।

स्मरण रहे कि बिंदु (कार्य), नाद और बीज इन तीनों बिंदुओं को मिलाने से जो त्रिकोण बनता है उसी को 'कामकला' का स्वरूप माना गया है। 'काम' का अर्थ यहाँ यौन-वासना से नहीं बल्कि भगवती की सृष्टि करने की इच्छा से है। 'शारदा तिलक' के अनुसार बिंदु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीच से रामा शक्ति की उत्पत्ति बताई जाती है। इन्हीं से क्रमशः रुद्र, ब्रह्म और विष्णु ज्ञान, इच्छा, क्रिया के रूप में आये। अग्नि, चन्द्र और सूर्य का आकार क्रमशः निरोधिका, अर्धेन्दु और बिंदु रूप है। योगिनी हृदय के अनुसार इनका क्रम है—

(अ) इच्छा, वामा, पश्यन्ती, (ब) ज्ञान, ज्येष्ठा, मध्यमा, (स) क्रिया, रौद्री, वैखरी।

महाबिंदु के विभागों को याद रखने के लिये अग्नि बीज 'रं' का स्मरण करें, इसमें नाद के चिह्न को उल्टा करने से चन्द्र (इन्दु), बिन्दु (सूर्य) और 'र' अग्नि का प्रतीक होगा। इनको मिलाने से त्रिकोण बन जाता है।



ऊर्ध्व कोण रवि बिंदु है। बायें निम्न कोण अग्नि बिंदु और दायें निम्न कोण चन्द्र बिंदु है। सूर्य और चन्द्र के बीच वामा और ब्रह्म को रक्खें, चन्द्र और अग्नि के बीच ज्येष्ठा और विष्णु रक्खें, अग्नि और सूर्य के बीच रौद्री और रुद्र रक्खें, इन तीनों बिंदुओं के बीच सम्पूर्ण मातृका वर्ण की रेखायें हैं इनको अ-क-थ त्रिकोण भी कहते हैं।

सहस्रारस्य अ क थ



कालीचरण के अनुसार यहाँ शक्ति का आकार 'कामकला' रूपी त्रिकोण है और तीन बिंदुओं से निकली हुई तीन शक्तियाँ—वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, इस त्रिकोण की तीन रेखायें हैं। अ से विसर्ग (अः) तक के १६ अक्षरों से वामा, क से त तक के १६ अक्षरों से ज्येष्ठा और थ से स तक के १६ अक्षरों से रौद्री रेखा बनती है। शेष तीन अक्षर ह, क्ष और ल इस त्रिकोण के तीनों कोनों पर रहते हैं।

ये बिंदु त्रय ही परम तत्त्व हैं और अपने में ब्रह्म, विष्णु और शिव को समाहित किये हुए हैं। इन अक्षरों की रेखाओं से बना त्रिकोण बिंदुओं से ही आविर्भूत हुआ है।

अ से अः तक के अक्षर ब्रह्म रेखा, क से त तक के अक्षर विष्णु रेखा और थ से स तक के अक्षर रुद्र रेखा बनाते हैं। ये तीन रेखायें भी त्रिबिन्दुओं से ही आविर्भूत हुई हैं। शक्ति के दूसरे रूप यानी गुण यथा—रजस्, सत्त्व और तमस् भी इसी त्रिकोण से दर्शाये जाते हैं। "तन्त्र जीवन" के अनुसार त्रिकोण रूपी योनि मंडल रजस्, सत्त्व और तमस् रूपी रेखाओं से घिरा रहता है। बाईं रेखा रजस् का दाईं रेखा तमस् का और तीसरी रेखा सत्त्व युग का प्रतीक है।

यही त्रिकोण तन्त्रांतर्गत शब्द ब्रह्म की तीनों शक्तियों तथा भावों का प्रतिनिधित्व करता है। शक्ति का आलय (निवास स्थान) यह 'कामकला' रूपी त्रिकोण ही है। बिंदु (अनुस्वार) 'हं' है और विसर्ग 'सः' है।

ललितासहस्त्रनाम में देवी को 'कामकला' रूप कहा गया है। भास्करराय के अनुसार 'काम' (सृष्टि की इच्छा) शिव और शक्ति दोनों ही हैं और 'कला' उनकी व्यक्त रूप है। अतः इसे 'कामकला' कहते हैं।

त्रिपुरा-सिद्धांत के अनुसार कला कामेश्वर और कामेश्वरी की व्यक्त रूप है। अतः इसे 'कामकला' कहते हैं। वह इच्छाशक्ति रूपी 'कामकला' है। यह देवी महात्रिपुर सुन्दरी ही है। वह रक्त वर्ण है क्योंकि विमर्श शक्तिरूपा है। इनको त्रिपुर कहते हैं क्योंकि वह तीन कोण वाली, तीन बिंदुवाली, तीन रेखा वाली, तीन अक्षर वाली आदि आदि हैं। इनके त्रिकोण रूपी योनि के तीन कोण हैं, तीन बिंदु रूपी वृत्त हैं और इनके यन्त्र में तीन भूपुर की रेखायें हैं।

यहाँ योनि का अर्थ स्त्री की योनि से नहीं है बल्कि कारण (संसार की सृष्टि के कारण) से है। इनके तीन भाव हैं, तीन शक्तियाँ और तीन देवता हैं। इच्छा, ज्ञान, क्रिया, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री और ब्रह्म, विष्णु, रुद्र के रूप में यह प्रकाशित होती हैं।

इस तरह से देवी 'त्रिपुरसुन्दरी' ही परम शक्ति हैं जिनके हर भाव में तीन रूप हैं। इनके पंचदशी मंत्र के भी तीन भाग हैं यथा वाग्भव, कामराज और शक्ति कूट जो वामकेश्वर तंत्र के अनुसार ज्ञान, इच्छा और क्रिया रूप हैं।

कामकला का ध्यान

वास्तव में 'कामकला' का विषय गुह्यगुह्य है। कामकला के ध्यान के संबंध में 'नित्योत्सव' आदि पूजा पद्धतियों में लिखा है—

"अथ बिन्दुनां मुखं, बिन्दुद्वयेन स्तनौं सपरार्धेन योनिरिति कामकलात्मिकां ध्यात्वा सौः इति देवी शक्ति बीजं श्री देव्या हृदयत्वेन भावयेत्।"

कामकला, शिव और शक्ति का सामरस्य अथवा वेदान्त में प्रसिद्ध जीव और ब्रह्म का ऐक्य है। इसका निरूपण दो स्वरूपों में किया गया है। अतएव इसके ध्यान भी दो प्रकार के हैं। कामकला के दो स्वरूपों में से एक स्वरूप दो अक्षरों के 'अहं' पद से व्यक्त होता है। अतएव लिखा है— "अहमाकाराख्यं सिद्ध कामकलाम् इति" अर्थात् अहं पद से व्यक्त (अहं स्वरूपवाली—जिसका स्वरूप 'अहं' है) कामकला का ध्यान करें। अहं यह एक अपूर्व भाव है, इसमें द्वितीय नहीं है। अकार 'अ' वर्णमाला का प्रथम अक्षर है और प्रकाश रूप परशिव अथवा काम का वाचक है। "काम्यते अभिलष्यते स्वात्मत्वेन परमार्थविद्भिरिति कामः" अर्थात् परमार्थ को जानने वाले, योगी लोग जिसकी सर्वदा कामना करते हैं, वह काम है। अर्थात् परब्रह्म है। परशिव और परब्रह्म एक ही वस्तु हैं। 'ह' वर्णमाला का अंतिम वर्ण है और यह विमर्श रूप, चित्शक्ति अथवा कला का द्योतक है। अतः 'अ' और 'ह' इन दो अक्षरों का सामरस्य (मिलन) अर्थात् इन दो अक्षरों से बना हुआ 'अहं' पद कामकला है। अहं पद समस्त विश्व का तथा निम्नलिखित श्रुति के अनुसार आत्मा का भी निरूपण करता है—

अशिरस्कं हकारान्तमशेषाकारसंस्थितम्।
अजस्रमुच्चरन्तं स्वं तमात्मानमुपास्महे ॥

प्रकाश 'अ' विमर्श है आत्मक (प्रकाश-विमर्शात्मक) अहन्ता का ध्यान कामकला का सूक्ष्म ध्यान है। इस सूक्ष्म ध्यान में इस बात का ध्यान किया जाता है कि यह आत्मा ब्रह्म है तथा समस्त विश्व— इस ब्रह्म से अभिन्न आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है, इसमें ही अवस्थित है तथा इसमें ही लय हो जाता है। अतः शास्त्रों के विचार से यह निश्चित है कि "मैं पूर्ण हूँ" यह विचार करना ही कामकला का ध्यान करना है। "मैं पूर्ण हूँ" इस प्रकार विचारना ही अद्वैतावस्था है। उपर्युक्त विचार ही—"मैं पूर्ण हूँ" अशेष शास्त्रों का सबसे बड़ा लक्ष्य है और लक्ष्य ही उपासना का चरम सिद्धान्त है। अहं सः = हंसः, सः अहं = 'सोहम्'। 'हंसः सोऽहम्' का विचार ही अद्वैतावस्था है, जो पूर्णता का द्योतक है। यही कामकला का सूक्ष्म ध्यान है।

कला— क = आकाश, ला = पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी से आकाशपर्यन्त दिखाई देने वाला सब कुछ ब्रह्म ही है। अतएव वेद ने कहा है—"सर्व खल्विदं ब्रह्म"। शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जो कुछ भी दिखाई देता है, सब मैं (ब्रह्म) ही हूँ। इस प्रकार विचार करना ही कामकला विमर्श या 'कामकला' का ध्यान कहलाता है।

कुछ शास्त्र कामकला (अहं) का निरूपण 'ई'—इस एकाक्षर से करते हैं। वेदों ने इस ईकाराक्षर को प्रणव (ॐ कार) का समानार्थक दर्शाया। जिस प्रकार ॐकार चार अवयवों (अक्षर या मात्राओं) के संयोग से बनता है, उसी प्रकार कामकलाक्षर इकार भी रक्त बिंदु, शुक्ल बिंदु, मिश्र बिंदु और संवित् (अथवा हार्धकला) इन चार अवयवों से बनता है। लिखा भी है—

'इकारोर्ध्वगतो बिन्दुः मुखं भानुरधो गतौ।
स्तनौ दहनशीतांशुः योनिर्हार्धकला भवेत् ॥'

प्रत्याहार न्याय से (अक्, इक्, अच् आदि प्रत्याहारों की भाँति) काम, अग्नि, सोम और कला (हार्धकला) इन चार शब्दों में से मध्य के अग्नि और सोम शब्दों का लोप करने से तथा आदि (काम) एवं अंत (कला) के शब्दों को जोड़ देने से कामकला शब्द बन जाता है। कामकलाक्षर ईकार के चार अवयवों को देवी के अंगों में और कामकला के चार अवयवों में अभेद मानना अर्थात् कामकला और देवी को एक ही समझना कामकला का ध्यान करना है। कामकलाक्षर ईकार में और देवी में भेद नहीं मानना चाहिए। दोनों एक ही हैं।

इकारोर्द्धगतो बिन्दुर्मुखं भानुरधो गतौ।
स्तनौ दहनशीतांशुः योनिर्हार्ध कला भवेत् ॥
बिन्दुं सङ्कल्प्य वक्त्रन्तु तदधस्तात्कुचद्वयम्।
तदधः सपरार्द्धन्तु चिन्तयेत्तदधो मुखम् ॥

शरीर में शिर से लेकर घटिका पर्यन्त, कण्ठ से स्तन पर्यन्त और हृदय से लेकर सीवनी पर्यन्त तीन भाग हैं। यही तीन भाग शरीर के मुख्य भाग होते हैं। केश, हाथ-पैर शरीर की शाखायें मानी जाती हैं। शरीर के भागों के समान ही कामकलाक्षर ईकार भी तीन भागों से

अर्थात् रक्त, शुक्ल और मिश्र बिन्दुओं तथा संवित से बना हुआ है। देवी के शरीर के तीन भागों में कामकलाक्षर के मिश्र, रक्त और शुक्ल बिंदु तथा संवित का ध्यान करना और देवी के शरीर तथा कामकलाक्षर ईकार का अभेद चिंतन करना ही कामकला ध्यान कहलाता है। देवी के मुख में मिश्र बिंदु की, कण्ठ से स्तनपर्यन्त भाग में अर्थात् स्तनों में रक्त और शुक्ल बिंदुओं की तथा हृदय से लेकर सीवनी पर्यन्त (अर्थात् देवी के शरीर के निम्न भाग में, तृतीय भाग में) हार्धकला अर्थात् संवित् का ध्यान करना चाहिये।

अर्थात् इकाराक्षर में मिश्र, रक्त और शुक्ल बिंदु की भावना करें और रक्त बिन्दुओं में क्रमशः मुख, स्तन-मण्डल और संवित का ध्यान करें। लिखा भी है—

"स्वान्तर्गताऽनन्ताक्षरराशि महामंत्रमयी पूर्णा हन्तामयी प्रकाशानन्द-सारा बिन्दुत्रयसमष्टिभूतदिव्याक्षर रूपिणी कामकला नाम महात्रिपुर-सुन्दरी, परमयोगिभिः महामाहेश्वरैरनिशमनुस्मर्तव्येति॥"

—(कामकलाविलास टीका)

"ईकारस्य बिन्दुविसर्गात्मनः शिवशक्त्योः अकारहकारयोः सामरस्य स्वरूपत्वात्"

—(तंत्रराज की मनोरमा टीका)

नित्याषोडशिकार्णव के निम्नलिखित दो पद्यों में कामकला के दोनों स्वरूपों का वर्णन किया गया है—

"तामीकाक्षरोद्धारां सारात्सारां परात्पराम्।
प्रणमामि, महादेवीं परमानन्दरूपिणीम्॥
वन्देतामहमक्षय्यामकराक्षररूपिणीम्।"

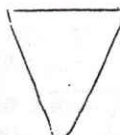
'सौः' देवी का भक्ति बीज है। इसमें यह भावना करें कि यह देवी का हृदय है। यह बीज सकार 'स' औकार (औ) और विसर्ग का समूह है अर्थात् इनके योग से 'सौः' बना है। स का अर्थ है वह (स = वह), विसर्ग का अर्थ है 'ह' (हकार)। हकार अहं—मैं का पर्याय है। औकार (औ) दोनों का सामरस्य प्रकट करता है। अतः 'सौः' का तात्पर्य है—"मैं वह हूँ" अर्थात् ब्रह्मैवाहं 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—यह होता है।

कामकला का ध्यान और सौभाग्य हृदय (सौः) का विचार करना दोनों एक ही वस्तु हैं।

कामकला के ध्यान से वशीकरण

'क्लीं' काम बीज है और 'क्लीं'कार शिव काम है। यहाँ 'ईं' कामकला की तुरीयावस्था का प्रतीक है जिसके ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

याद रखें कि किसी भी वर्ण के प्रथम उच्चारण से व्योम में अदृश्य प्रकाश बिन्दु रेखा रूप प्रकट होता है और वही उस वर्ण विशेष का ब्राह्मी लिपि का रूप है। उदाहरण के रूप में 'इ' स्वर का एक बार उच्चारण करने से व्योम में अदृश्य तीन प्रकाश बिंदु ∴ इस प्रकार उत्पन्न होते हैं। इसी 'इ' स्वर को जब दीर्घ करके अनुस्वार युक्त किया जाता है तो उक्त त्रय प्रकाश बिंदु के अधोभाग में एक अधोमुख त्रिकोणात्मक प्रकाश रेखा-त्रय की उत्पत्ति होती है। अर्थात् 'ईं' के उच्चारण से—



इस प्रकार की प्रकाश आकृति व्योम में उद्भूत होती है। यही शारदा एवं ब्राह्मी लिपि का 'ईं' है। किन्तु जब इस 'ईं' को बार-बार एकाग्र-चित्त से आवृत्तियाँ की जाती हैं (दूसरे शब्दों में जप किया जाता है) तो उपरिस्थित प्रकाश बिंदु सुन्दर मुखाकृति में परिवर्तित होने लगता है। तदधः प्रकाश बिन्दुद्वय स्तनों की आकृति ग्रहण करते हैं एवं अधः स्थित त्रिकोण 'शिवार्द्ध' रूप ग्रहण कर परिपूर्ण सुन्दर नारी विग्रह प्रस्तुत हो आवृत्तिकारक अथवा कहिये—जापक के सम्मुख प्रगट हो जाता है। ध्वनि की सृजन शक्ति के फलस्वरूप यह प्रकट मूर्ति जापक को त्रैलोक्य वशी-करण शक्ति से सम्पन्न कर देती है। विधिवत् साधक कोई भी बिना किन्हीं आडम्बर युक्त अमित व्ययसाध्य आधुनिक उपकरणों के इस विज्ञान का प्रत्यक्ष परीक्षण करके देख सकता है। भगवान शङ्कराचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि 'ईं' के मूल रूप (ब्राह्मी लिपि रूप) का भावना भरित ध्यान मात्र त्रैलोक्य-वशीकरण में समर्थ है।

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो।
हरार्द्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम्॥
स सद्यः संक्षोभं नयति वनितेत्यतिलघु।
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम्॥

—(सौन्दर्यलहरी, श्लोक १९)।

मणिपूरवासी आचार्य चरण तीर्थ जी महाराज ने उपर्युक्त श्लोक का मंत्रोद्धार निम्नलिखित बताया है:—

मंत्र

"ॐ क्लीं ह्रसौः वनिता संक्षोभं नय नय कामेश्वर्यै नमः स्वाहा।"

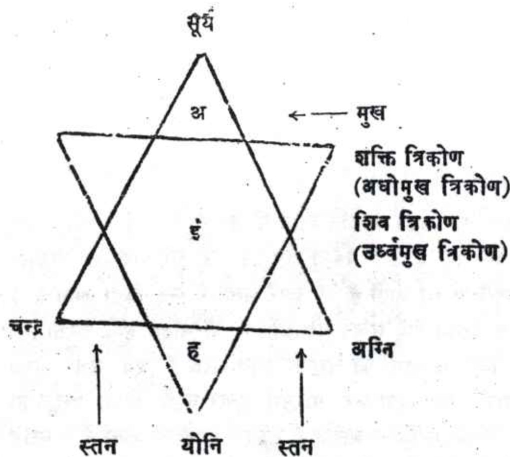
ध्यान

नमः सुभगरूपिण्यै श्रीमत्या सकलं जगत्।
कटाक्षप्रभयाऽऽकृष्टं कुर्वन्त्यै कंपितं तथा॥

विधि:—उपर्युक्त मंत्र का नित्य जाप करने से तथा जाप के समय साध्या का कामकला के रूप में ध्यान करने से उसके चित्त में तुरन्त क्षोभ उत्पन्न होता है। इस मंत्र के प्रयोग से इस लोक की स्त्रियों का वश करना तो क्या, तीनों लोकवश में किये जा सकते हैं।

साध्या के मुख को त्रिकोण रूपी कामकला के ऊर्ध्व बिंदु के रूप में मान कर तथा दोनों स्तनों को नीचे के दो बिंदु मान कर (मन ही मन मंत्र जपते हुए) ध्यान करना चाहिये।

व्याख्या:—इस मंत्र में कामकला का ध्यान बताया गया है, जो क्लीं में 'क' कार के बिंदुरूपी मुख के नीचे 'ल' कार के दो बिंदुओं को दोनों स्तनों से उपमित करके 'ईं' कार रूपी हरार्धाङ्गिनी के योग से बनती है।



हरार्ध कला

'ई' को कामकला का बीज माना गया है। इसमें भी तीन बिंदु माने जाते हैं। 'ई' कार का नीचे का भाग 'ह'कार का आधा भाग समझा जाता है। बिन्दु तीन हैं; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र। उनमें एक मुख है और दो स्तन। कामकला का ध्यान आज्ञा चक्र के स्थान पर किया जाता है। कौल अथवा शाक्त तांत्रिक कामकला का ध्यान शक्ति रूपी स्त्री को साक्षात् योनि में करते हैं।

कामी पुरुष के चित्त में स्त्री के मुख व कुच युग पर दृष्टि पड़ने से विकार उत्पन्न होता है, परन्तु जो पुरुष उनको देख कर स्त्री के रूप में कामकला की भावना करके, उसमें उपास्य बुद्धि उत्पन्न कर लेते हैं, उनके वश में त्रिलोकी हो जाती है अर्थात् वे काम को जीत कर मन्मथ हरि.हो जाते हैं।

'भावचूड़ामणि' के अनुसार देवी के मुख को उर्ध्व बिंदु जान कर और दोनों स्तनों को निम्न दो· बिंदु मान कर तथा उससे नीचे के अंगों को हकारार्ध मानकर साधक को देवी के शरीर की भावना अपने हृदय में करनी चाहिये। साधक को इन तीन बिंदुओं (इच्छा, ज्ञान, क्रिया; चन्द्र, सूर्य, अग्नि, रजस् सत्त्व, तमस्; बह्म, विष्णु, रुद्र) को देवी के शरीर के रूप में भावना करनी चाहिये। उसको देवी के निम्नांगों (नाभि से नीचे चरण तक) में सूक्ष्म 'चित्कला' का ध्यान करना चाहिये। जो तीनों गुणों, तीनों देवताओं को अपने में समाहित किये है। अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का मूलाधार में ध्यान करे। साधक को अपना शरीर 'कामकला' के रूप में ही ध्यान में देखना चाहिये।

मूलाधार में एक त्रिकोण में त्रिपुरा देवी हैं और वहाँ उनके कामिनी रूप का बीज 'कीं' अवस्थित है। यहाँ भी वामा, इच्छा आदि तीन रेखायें हैं। इस तरह मूलाधार स्थित त्रिपुरा-त्रिकोण सहस्रार स्थित 'कामकला' रूपी सूक्ष्म शक्ति का स्थूल रूप है। इसी मूलाधार स्थित 'कामिनी' को पूजा व अनुष्ठान में मंत्र जप (तेजो रूप-जप) अर्पण किया जाता है। बाह्य जप जिस देवता की पूजा की जाती है उसे ही अर्पण किया जाता है ताकि साधक को उसका फल मिल जाये।

इन्हीं तीनों शक्तियों का व्यक्त रूप ही जीव है, जो मनुष्य के शरीर में रहता है और पूजनीय है। "श्री तत्त्वार्णव" के अनुसार जो श्रेष्ठ पुरुष अपने जीव के स्थूल व सूक्ष्म रूप को परमशिव से सामरस्य कर पूजता है, ध्याता है वह अपने निज स्वरूप को पा लेता है। मंत्र योग से भाव समाधि की ऐक्यता और पुष्टि होती है और ज्ञान योग की समाधि लगती है।

परमबिंदु को कामकला के त्रिबिंदु में विभक्त करने से अव्यक्त ध्वनि निकलती है। इसी को शब्द ब्रह्म (अथवा शब्द व अर्थ का कारण) कहते हैं या यों कहिये मंत्र शब्द-ब्रह्म से ही उत्पन्न. हुआ है। यह अकस्मात् ध्वनि शब्द या नाद मात्रा (नाद व बिन्दु से संयुक्त) वर्णादि विशेष रहित का अव्यक्त और अखण्ड रूप है।

बिंदु रूपी प्रकृति से जिसमें क्रिया शक्ति विद्यमान होती है, परम शब्द ब्रह्म की उत्पत्ति हुई, जो शब्द और शब्दार्थ का कारण है। यहाँ ध्वनि बिंदु रूप है जो बाद में सब वस्तुओं में मातृका और वर्ण के रूप में अपने-अपने विशिष्ट स्थान पर उद्भूत होती है।

निजस्वरूप रूपी चेतना सब जीवों में कुंडलिनी शक्ति के रूप में गद्य और पद्य के शब्दों के रूप में वाणी से व्यक्त होती है। उसके बाद शब्द सृष्टि 'कुण्डलिनी' से ही होती है। सुतरां 'कामकला' को ही सब मंत्रों का मूल अथवा उत्पत्ति का स्रोत कहते हैं क्योंकि 'कामकला' से ही शब्द ब्रह्म की उत्पत्ति होती है और शब्द ब्रह्म ही मंत्रों के शब्द व अर्थ का कारण है।

शिव को शव रूप कहा गया है क्योंकि शक्ति हीन को शव कहते हैं। 'शिव' में से शक्ति का 'इ' कार निकाल दें तो 'शव' मात्र रह जाता है। यह स्पष्ट हुआ कि सब कार्य 'शक्ति' द्वारा ही होते हैं। स्वरूप (ज्ञान, चेतना Consciousness) स्वयं गति हीन है, इसलिये चित्रों में देवी को शिव के शव समान गति हीन शरीर पर खड़े हुए दर्शाया जाता है। कही संकेत विपरीत-रति में संलग्न शिव-शक्ति के चित्रों में मिलता है। यहीं पंच महाप्रेत (five great corpses) पंच शिव यथा सदाशिव, ईशान, रुद्र, हरि और ब्रह्म देवी की सेज माने जाते हैं। तांत्रिक लोग अनाहत चक्र के नीचे हृदय में देवी का इसी रूप में ध्यान करते हैं। "ह्सौ" पंच महाप्रेत का बीज मंत्र है।

'भैरवयामल' के अनुसार देवी का निवास स्थान चिंतामणि नाम के रत्नों से बनाया गया है जो सहस्रार रूपी मणि जटित द्वीप में है, जिसके चारों ओर कल्पवृक्षों का घेरा है और मध्य में नीप वृक्षों का उपवन है, उसमें ▽ त्रिकोणाकृति अ क थ अथवा गुरु चक्र रूपी मंच पर बिंदु रूपी पलंग बिछा हुआ है। देवी की सेज परमशिव हैं। बिछाने की चादर 'सदाशिव' हैं, तकिया ईशान है। इस सेज के चार पाये ईशान, रुद्र, हरि और ब्रह्म हैं। ऐसी सेज पर महात्रिपुर सुन्दरी सिरहाना लगाये लेटी हुई हैं। इसीलिये ललितासहस्रनाम में देवी को पंच-ब्रह्म-आसनष्ठिता कहा गया है। प्रणव में भी देवी और परमशिव एक साथ हैं। "ॐ" पलंग है तथा अ, उ, म् और अनुस्वार उसके चार पाये हैं। परमशिव ओंकार के ऊपर नादरूपी सेज पर बिन्दु रूप में विश्राम कर रहे हैं, या यूँ कहिये

'ओ' कार रूप पलंग पर नाद रूपिणी देवी हैं, उनके ऊपर बिंदु रूप परमशिव विद्यमान हैं। ऐसा होने से ही ओंकार होता है।

'अहं' (मैं) श्वेत बिंदु या चन्द्रमा कहलाता है तथा 'अहं' के शिव भाव का द्योतक है। 'इदम्' (यह) रक्त बिंदु या अग्नि कहलाता है और शक्ति भाव को दर्शाता है। ये दोनों आपस में दिव्य पति-पत्नी कहलाते हैं अर्थात् कामेश्वर और कामेश्वरी कहलाते हैं। इन दोनों का सम्मिलित रूप (मिथुन) ही मिश्र बिंदु या संयुक्त बिंदु अथवा सूर्य कहलाता है। सूर्य काम है तो चन्द्र और अग्नि उसकी कला विशेष हैं। कला ही विमर्श शक्ति है और विमर्श शक्ति ही अग्नि सोम रूपिणी है। ये तीनों बिंदु संयुक्त रूप से 'कामकला' कहलाते हैं।

प्रकाश तत्त्व स्वरूप भगवान् सदाशिव ही कामेश्वर हैं और विमर्श शक्ति स्वरूप श्री देवी पार्वती ही कामेश्वरी हैं। शिव स्वरूप प्रकाश ही शुक्ल वर्ण है और शक्ति स्वरूप विमर्श ही रक्तवर्ण है। इन दोनों वर्णों को एकत्र कर मिलाने से संयुक्त बिंदु अथवा मुख बिंदु या रक्त-शुक्ल मिश्रित अरुण वर्ण रवि बिंदु बनता है।

ऊर्ध्व बिंदु (सूर्य) देवी का मुख है और निचले दो बिंदु देवी के दो स्तन हैं (चन्द्र व अग्नि बिंदु) और नाभि से निचला भाग 'कला' रूपी है जो 'ह' का आधा भाग हकार्ध है और देवी की योनि (भग) के रूप में ध्यान में लाया जाता है।

संयुक्त बिंदु (सूर्य) ही सृष्टि करता है और व्यक्त शब्द (वाक्—समस्त ध्वनियाँ परा, पश्यन्ती, वैखरी, ३६ तत्त्व शिव से क्षति तक) की उत्पत्ति और उसके अर्थ का कारण (वाक् अर्थ सृष्टि हेतु) है। इसी संयुक्त बिंदु से बीज रूप में नाद-शक्ति की उत्पत्ति होती है। यही बिंदु अ-ह का संयुक्त रूप है जो प्रकाश और विमर्श अथवा श्वेत और रक्त बिंदु के मिलन का प्रतीक है [यही बिंदु विसर्ग (:) को अपने में समाहित किये हुए है]।

कामकला से ही नाद निकलता है जो सब ध्वनियों की उत्पत्ति का कारण है। यही नाद, फिर वर्ण माला के विविध अक्षर व शब्दों के रूप में विभक्त हो जाता है और सब तत्त्व तथा वस्तुओं के रूप में बट जाता है क्योंकि वाक् और भौतिक वस्तुएँ सबका मूल स्रोत यह 'नाद' ही है। अक्षर तथा शब्द नाद रूप शब्द ब्रह्म है। अतः सब वस्तुएँ जिनके नाम इन्हीं अक्षर व शब्दों से बने हैं, नाद रूप ब्रह्म ही हैं।

प्रकाश और विमर्श बिंदु अभिन्न हैं। यह एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। इसीलिये यह कहा गया है कि शिव और शक्ति या कामेश्वर और कामेश्वरी भी एक ही तत्त्व के बोधक हैं। इसी तरह विद्या या मंत्र और वेधक, वाचक में तथा देवता (वेध्य, वाच्य) में कोई फर्क नहीं है अर्थात् मंत्र व देवता अभिन्न हैं, एक ही हैं। वाक् और अर्थ भी अभिन्न हैं। यह साधना से पता लगता है, जब मंत्र का अर्थ रूपी देवता ध्यान में प्रत्यक्ष होता है और साधक को वाच्य शक्ति अथवा ब्रह्मस्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है।

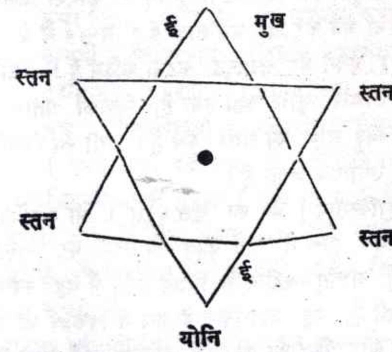
पंचदशी मंत्र ही विद्या है और महात्रिपुर सुन्दरी उसकी देवता हैं।

तांत्रिक योनि मुद्रा

'पुरोहित दर्पण' के अनुसार गुरु का आज्ञा चक्र में, इष्ट देवता का हृदय में और योनि रूप (त्रिकोण, कामकला) भगवती का सहस्रार से मूलाधार तक और मूलाधार से सहस्रार तक योनि बीज 'ऐं' का दस बार जप करते हुए ध्यान करना ही योनि मुद्रा कहलाती है।

Yoni Mudra is meditation on the Guu in the head and on the Ish ta devata in heart, and then on the yoni-rupa Bhagavati frcm the head to the Muladhara, and from the Muladhara to the head, making japa of the yoni Bija (Iṁ) ten times.

मूलाधर से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त अधोमुख त्रिकोण और ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार पर्यन्त उर्ध्वमुख त्रिकोण अर्थात् इस रूप में षट्कोण रूप में भावना कर, बाद में साधक 'ऐं' बीज (योनि बीज) का दस बार जाप करेगा।



ध्यान में इस मिथुन प्रतीक षट्कोण की भावना करनी चाहिये।

नाद-बिन्दु, त्रिकोण, त्रिशूल, त्रितत्त्व, त्रिशक्ति, योनि, कामकला ये सब एक ही तत्त्व के भिन्न भिन्न नाम हैं। इनमें से किसी एक पर विचार करने से सबका स्पष्टीकरण हो जाता है।

[विशेष ज्ञातव्य :—जपारम्भ से पहले साधक को चाहिये कि वह सहस्रार में गुरु ध्यान, जिह्वा में मंत्र वर्ण का ध्यान और हृदय में इष्ट देवता का ध्यान कर बाद में गुरु मूर्त्ति को तेजोमय चिंतन करेगा, बाद में इन तीन तेज की एकता स्थापित कर, इस तेज के प्रभाव में अपने को अभिन्न रूप में समझेगा।

इसके बाद कामकला का ध्यान अपने शरीर के समान अर्थात् कामकला रूप में त्रिबिंदु को ही अपना शरीर समझ कर जप आरम्भ करेगा। ध्यान में पूर्व में बताये ढंग से मिथुन प्रतीक षट्कोण की भावना करनी होगी।

मंत्र शिखा

निःश्वास रोक कर भावना द्वारा कुंडलिनी को एक बार सहस्रार में ले जाकर और शीघ्र मूलाधार में साधक लायेगा। इस प्रकार बार-बार करते-करते सुषुम्णा पथ में विद्युत् के सदृश दीर्घाकार तेज दिखाई देगा।

यह क्रिया सुषुम्णा में जप करने से पहले कुछ देर तक कर लेने से सुषुम्णा जप सुलभ हो जाता है। सुषुम्णा में जप की विधि गुरु मुख से जाननी चाहिये। सन्मार्ग का कभी मंत्रविज्ञानांक निकला तो उसमें उसे साधकों के लाभार्थ प्रकाशित कराने का प्रयास करूँगा।]

ब्रह्म एक सर्वव्यापिनी शक्ति वा तत्त्व है। नित्य-ज्ञान (चित्) और नित्य इच्छा, नित्य-क्रिया (आनन्द) इसका नित्य स्वभाव है। यह शुद्ध चेतना है, इसलिये इच्छा और तदनुसार क्रिया का प्रवर्तन होना, अर्थात् आनन्द का स्पन्दन, स्वाभाविक है। ब्रह्म में जब इच्छा (काम) होती है तो उसमें क्रिया (स्पन्दन) आरम्भ होती है और नाद (शब्द, नाम) और बिन्दु (रूप-साकार सृष्टि) रूप ग्रहण करते हैं। शब्द उत्पन्न होने और रूप करने की क्रिया एक साथ होती है। समुद्र में आन्दोलन होने पर शब्द और तरंग दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति में कौन पहले और कौन पीछे हुआ यह कहना कठिन है, कुछ लोगों का कहना है कि नाद और बिंदु एक ही वस्तु के दो नाम हैं—

"नाद एव घनीभूतः क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्"—शारदा तिलक।

नाद ही शायद घना बन कर बिंदु बन जाता है। यथार्थ में ये एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। इनमें भेद स्थापित करना कठिन है। इसलिये वाक् (नाद) को ही साकार सृष्टि कहा गया है, जिसका प्रतीक वर्ण माला है। यही नाद-बिंदु सृष्टि का आदि रूप है। इसी का विकसित और विस्तृत रूप नाम रूपात्मक जगत् है।

चेतना के इस महाविस्तार [वेद का 'ऋतं वृहत्'। श्री अरविंद ने on the vedas नामक ग्रन्थ में 'ऋतं वृहत्' के तत्त्व पर विस्तार से विचार किया है।] अर्थात् ब्रह्मत्व के जितने अंश में यह स्पन्दन (क्रिया) प्रारम्भ होती है, वह नाद-बिन्दु के रूप में त्रिकोण का रूप ग्रहण करता है। नाद और बिंदु का रूप अर्द्ध-चन्द्रकार कही जाती है। उसके ऊपर शक्ति का बिंदु-स्थान माना जाता है। इन तीनों बिंदुओं में शक्ति-बिंदु ऊपर और नाद तथा बिंदु के बिंदु नीचे रहते हैं। इन तीनों बिंदुओं के मिलाने से त्रिकोण बनता है। यह त्रिकोण, त्रिदेव, त्रिशक्ति, वेदत्रयी इत्यादि का प्रतिरूप है। इस त्रिकोण के भीतर जो स्पन्दन (क्रिया) होती है, वही आकार ग्रहण कर त्रिगुणात्मक जगत् के रूप में प्रकट होता है। यह निरन्तर स्पन्दन ही सृष्टि का कारण है। स्पन्दन के शान्त होते ही आनन्दोल्लास रूप ब्रह्म अर्थात् सृष्टि रूप धारिणी देवी क्रिया शक्ति अपने स्थिर (कूटस्थ) रूप में विलीन होकर स्थिर हो जाती है।

चिदानन्द के महानन्द से प्रसूत यह क्रिया शक्ति स्वयं आनन्दमयी है और सृष्टि का कारण है। यह त्रिकोण की क्रिया वा गति, ब्रह्म का अपने स्पन्दन के साथ खेल, लीला और अलंकृत भाषा में मिथुन कर्म है। ब्रह्म निष्क्रिय रूप निश्चल (कूटस्थ) पड़ा हुआ है, जिस पर त्रिकोणात्मक स्पन्दन (क्रिया शक्ति, गति शक्ति) नृत्य करता रहता है। यही महाकाल के साथ महाकाली की विपरीत गति है। इसी का नाम कामकला है। कला का अर्थ सृष्टि है। सकल ब्रह्म साकार ब्रह्म है और निर्गुण निराकार ब्रह्म को निष्कल ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म की काम (इच्छा, गति) शक्ति द्वारा कला (विश्व) की सृष्टि का नाम कामकला और कूटस्थ परमशिव (बुद्ध का वज्र और निर्ऋति तथा जैनों का 'केवल') का नाम कामेश्वर है।

त्रिकोण के सामान्य अर्थात् निरन्तर होने वाले स्वाभाविक स्पन्द का नाम प्रणव (ॐ) और देवी प्रणव (ह्रीं) है। शाक्त दर्शन में इसी स्पन्दन का नाम चिञ्चिनी शक्ति है। यही कामकला का स्वरूप और रहस्य है, जिसकी साधना द्वारा योगी जन सिद्धि लाभ करते हैं। यही कामाख्या का योनि मंडल वा महायोनि पीठ है जहाँ जगन्माता के रूप में परब्रह्म की उपासना होती है।

ब्रह्मज्ञानियों ने इस पर स्पष्ट रूप से और बड़े विस्तार से विचार किया है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा—

"त्रिकोणकुण्डलीमात्रा नित्या श्रीः प्रकृतिः परा।
मात्रा सरस्वती साक्षात् शरच्चन्द्रशत प्रभा॥
वाम रेखा भवेद् ब्रह्मा तरुणाक्षि समन्विता।
दक्ष रेखा विष्णुरूपा शरच्चन्द्रशतप्रभा॥
अधोरेखा रुद्ररूपा दलिताञ्जनसन्निभा।
श्री ईश्वरसदाशिवौ मात्रायां संस्थितावुभौ॥
व्यापकात् श्री शिव ज्योतिः प्रकृत्यन्तर्गतं सदा।
त्रिकोणाभ्यन्तरे शून्यो बिन्दुः परमकुण्डली॥
अरुणादित्यसंकाशो बिंदुरूपपरिच्छदः।
बिंदुमध्यगतं कोटिचन्द्रप्रदायकम्॥
स एव परमं ब्रह्म शिवः परमकारणम्।
नातः परतरं तत्त्वं मर्दिन्येकाक्षरीषु च॥"

—(Tantric Texts, कालीविलास तंत्रम्, पटल २२, श्लोक ३३-३८, लण्डन, १९११)।

"त्रिकोण, कुण्डली, मात्रा, नित्या, श्री, परा, प्रकृति और सैकड़ों चन्द्र की प्रभाव वाली सरस्वती हैं। इसकी (त्रिकोण की) वाम रेखा तरुणाक्षि (रक्त वर्ण) समेत ब्रह्मा हैं, सैकड़ों चन्द्रमा की प्रभाव वाली दाहिनी रेखा विष्णु हैं, घिसे हुए अंजन के रंगों वाली नीचे की रेखा रुद्र है। ईश्वर और सदाशिव अर्द्धमात्रा (ँ) में हैं। व्यापक होने के कारण श्री शिव की ज्योति सदा प्रकृति के भीतर है। त्रिकोण के भीतर शून्य बिंदु परम कुंडली है। लाल सूर्य की तरह बिन्दु रूप उसका आवरण है। बिन्दु के भीतर कोटि चन्द्र तुल्य शून्य है। वही परम ब्रह्म, शिव और परम कारण है। मर्द्दिनी देवी की एकाक्षरी (ह्रीं) में इससे बढ़ कर कोई तत्त्व नहीं है।"

"सदाशिवोपरि स्थित्वा ब्रह्माण्डक्षोभमानयेत्।"

—(कालीविलास तंत्रम्, पटल २४, श्लोक २३, लंडन १९११)।

"सदाशिव के ऊपर रह कर (मर्द्दिनी वा काली) क्षोभ रूप ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करती है।"

"यदा त्रिशोऽथ गणयेत्तदा त्रिगुणिता विभुः।
शक्तिः कामाग्निनादात्मा गूढमूर्तिः प्रतीयते॥
तदा तां तारमित्याहुरोमात्मेति बहुश्रुताः।
तामेव शक्तिं ब्रुवते हरेरात्मेति चापरे॥

त्रिगुणा सा त्रिदोषा सा त्रिवर्णा सा त्रयी च सा।
त्रिलोका सा त्रिमूर्तिः सा त्रिरेखा सा विशिष्यते ॥"

—(प्रपंचसारतन्त्रम्, पटल २, श्लोक ५२-५६, कलकत्ता १९३५)

"सर्वव्यापिनी (विभु) शक्ति जब तीन प्रकार से गुणित होती है, तब इस गूढ़ मूर्ति वाली का बोध, काम, अग्नि, नाद और आत्मा के रूप में होता है। तब निविष्ट विद्वान् लोग इस शक्ति को तार अर्थात् ओम् और आत्मा कहते हैं। वही तीन गुणों वाली, तीन दोषों वाली और तीन वर्णों वाली और और तीनों वेद है। वही त्रिलोक और त्रिमूर्ति है और उसका विशिष्ट रूप त्रिरेखा है।"

"बीजत्रितय—शक्तित्रितयलिङ्गत्रितयमयम्
त्रिकोणं कामकलाचर रूपम्। वैखरी विश्वविग्रहा।"

—(कामकलाविलास, पृष्ठ १८, कलकत्ता १९२२, वामकेश्वर तंत्र)।

कामकला का नित्य (अक्षर) रूप त्रिकोण है, जो तीन बीज, तीन शक्ति और तीन लिङ्गमय है। जगत् ही वैखरी का प्रकट रूप (विग्रह) है। त्रिकोण की तीनों रेखाओं के नाम हैं वामा, ज्येष्ठा और रौद्री। उनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"वामा विश्वस्य ज्येष्ठा शिवमयी यतः।
द्रवयित्री रूजं रौद्री द्रोग्धी चाखिलकर्मणाम् ॥"

—(वामकेश्वर तन्त्र, पृष्ठ २०१)।

"विश्व को वमन करने के कारण वामा है। शिवमयी होने के कारण ज्येष्ठा है और सभी कर्मों को प्रदान करने वाली और रोगों को गलाने वाली रौद्री है।"

"यः शिवः परमं ब्रह्म सर्वं व्याप्य विजृम्भते।
वामा रजोगुण नित्या अरुणादित्यसन्निभा ॥
ज्येष्ठा सत्त्वगुणा चैव शरच्चन्द्रप्रकाशिका।
दलिताञ्जनसंकाशा रौद्री तमोगुणा स्मृता ॥"

—(कालीविलास तंत्रम्, लन्दन १९११)।

"जो परम ब्रह्म शिव हैं, वे ही सर्वव्यापी होकर फैले रहते हैं। नित्या (शक्ति) वामा रजोगुण है, जो लाल सूर्य की तरह है। ज्येष्ठा सत्वगुण है जिसका प्रकाश शरच्चन्द्र की तरह है। रौद्री तमोगुण है, जो घिसे हुए अंजन की तरह है।"

"आत्मनः स्फुरणं पश्येदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता ॥"

—कामकला विलास, कलकत्ता १९११, पृष्ठ २० में,
वामकेश्वरतंत्र से उद्धृत।

"वह परमा कला (पराशक्ति) अपना स्पन्दन देखती है, तब कहा जाता है कि परावक् ने अम्बिका (मातृका) रूप धारण कर लिया है।"

महामातृका कुण्डलिनी बहुविधा नादात्मिका। —(तत्रैव)।

"महामाता कुण्डलिनी बहुत प्रकार से नादों वाली है।"

"सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेद् यदा।
तद्देहावयवानां परिणतिरावरणदेवताः सर्वाः ॥
आसीना बिंदुमध्ये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरीदेवी।
कामेश्वराङ्कनिलयाकलश चन्द्रस्य कल्पितोत्तंसा ॥

—(तत्रैव)।

"वह परा (अशेषकारण रूप) महेश्वरी जब चक्राकार में परिणत हो जाती है, तब उसके शरीर के अवयव, आवरण देवता के रूप में परिणत हो जाते हैं। चक्र में, बिंदु मध्य में स्थित देवी चन्द्र कलाओं को कर्ण भूषण बनाकर कामेश्वर की गोद में निवास करती है।"

कहना न होगा कि महेश्वरी सक्रिय ब्रह्म है, उनके अवयव या आवरण देवता प्रपंच क्रिया का सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाली दिक्काल, धर्माधर्म इत्यादि नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं। चन्द्र कला आनन्द है, जो बौद्धों की करुणा और जैनों की दया है और कामेश्वर, वेदों का "ऋतं बृहत्", वेदांतियों का कूटस्थ ब्रह्म, बौद्धों का वज्र और जैनों का केवल तत्त्व है।

कला विद्या पराशक्तेः श्री चक्राकाररूपिणी।
तन्मध्ये बैन्दवस्थान तत्रास्ते परमेश्वरी ॥
सदाशिवेन संयुक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती।
चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि ॥

—(तत्रैव, २७वें श्लोक की टीका में भैरवयामल से उद्धृत)।

"पराशक्ति की कला विद्या (सृष्टि रचना) श्री चक्र के आकार में है। उसके बीच में बिंदु स्थान है। वहाँ परमेश्वरी रहती हैं। सभी तत्वों से परे सदाशिव के साथ घुली हुई हैं। त्रिपुरसुन्दरी का चक्र ब्रह्माण्ड का रूप है।"

"चन्द्रस्य कल्पितोत्तंसा" पर टीका इस प्रकार है—

देवी विश्वसर्जनादिव्यापारविनोदिनी।
चन्द्रस्य कलया विश्वजीविन्याख्याया कल्पितोत्तंसा कृतभूषणा
अत्र कल्पितपदेन चन्द्रमण्डलस्य भगवती—
लोलोपकरणत्वं लक्ष्यते।

—(तत्रैव)

"देवी का संसार की सृष्टि इत्यादि कामों से विनोद होता है। विश्वजीविनी चन्द्रकला आनन्द तत्त्व है, जो वैदिक ऋषियों का सोमरस, शाक्तों की इच्छाशक्ति वा समना तत्त्व, बौद्धों की करुणा और जैनों की दया है।

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम् ॥

—(तंत्रालोक, बम्बई १९२०, श्लोक ९४ की टीका)।

"शून्य में जो गुप्त त्रिकोण मण्डल है, उसे भग कहते हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया उसके तीन कोण हैं। उसके बीच में चिञ्चिनी शक्ति का क्रम (स्पन्दन) है।

यह शून्य, बौद्धों का शून्यत्व और योगियों की मनोलयावस्था और जैनों का केवलत्व है। यह वेदान्तियों का कूटस्थ तत्व और शाक्तों का चिदाकाश है।

अस्मिश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके ।
त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने ॥
—(तत्रैव, श्लोक १०४) ।

"इस चौदहवें धाम में (अशेष कारण तत्त्व अथवा शून्य में) जब तीनों शक्तियाँ (ज्ञान, इच्छा, क्रिया) फूट पड़ती हैं तब श्री शासन (बुद्धोपदेश अर्थात् धर्म चक्र प्रवर्तन) में शास्ता, बुद्ध ने इसे त्रिशूल कहा है ।" इस त्रिशूल तत्त्व को बौद्ध-जैन, शैव और शाक्तों ने अक्षुण्ण रूप में ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया है ।

"लोलीभूतमतः शक्ति त्रितयं तत्त्रिशूलकम् ।
यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरञ्जनः ॥"
—(तत्रैव, श्लोक १०८) ।

"तीनों शक्तियाँ (ज्ञानेच्छा क्रिया) जब क्रियाशील हो जाती हैं तब इसे त्रिशूल कहते हैं । जिसमें प्रवेश पाने से योगी अविलम्ब निरञ्जन हो जाता है ।"

यह शाक्तों और वैष्णवों का समरस, योगियों की निरुपाधि निर्विकल्प समाधि, बौद्धों की शून्यता और जैनों का केवलत्व है ।

"शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।"
—(तत्रैव, श्लोक १४३ की टीका) ।

"महेश्वर शक्तिमान् है और सारा जगत् इसकी शक्ति का रूपान्तर मात्र है ।"

इसलिये महेश्वर अर्थात् अपने स्वामी की इच्छा से ये शक्तियाँ सृष्टि लीला की क्रियायें करती रहती हैं । यही शक्ति का शक्तिमान् के साथ विलास, अर्थात् कामक्रीड़ा है । यह शाक्तों की कामकला, कालरात्रि का नृत्य, शैवों का महाताण्डव और वैष्णवों का महारास है ।

इसलिये अभिमुक्त जन कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और सभी देवता त्रिकोण के अन्तर्गत हैं—

"त्रिकोणो देवताः सर्वाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।"
—(तत्रैव, श्लोक १२२ की टीका) ।

परमानन्द में चित्त का लय हो जाना ही कामकला का सामरस्य है—

कदाचिद्वस्तुविश्रान्ति साम्येनात्मनि चर्वणम् ।
वेद्यवेदकसाम्यं तत् सा रात्रिदिनतुल्यता ॥
—तंत्रालोकः, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर, १९२२, चतुर्थो भाग, श्लोक ८४ ।

"जब कभी वस्तु (सत्ता) साम्यावस्था में आत्मा विश्राम करने लगती है और मनोलय हो जाता है और ज्ञाता (वेदक) और ज्ञेय (वेद्य) एकाकार हो जाते हैं । वह साम्यावस्था रात और दिन की तुल्यता जैसी है ।"

यही शाक्त दर्शन की कामकला है । सृष्टि के विस्तार के लिये इस महा अग्नि की चिनगारियाँ सारी सृष्टि में उड़ती रहती हैं । उद्भिद् और प्राणी जगत् में एक ही नियम काम करता है । जिस प्रकार फल उत्पन्न करने के लिये मकरन्द वाले फूल को अन्य फूल के पराग की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार कुछ प्राणियों में मातृकीट और पुंकीट एक ही शरीर में रहते हैं और कुछ में प्रकृति के प्रबंध से परस्पर आकर्षण द्वारा सृष्टि विस्तार की क्रिया चलती रहती है । जड़-जगत् का यद्यपि ठीक पता नहीं चलता है, पर यहाँ भी कुछ ऐसा ही नियम होना चाहिये ।

ये उस निरंतर असंख्य स्फोट वाले सृष्टि के प्रवर्तक महाअग्नि काण्ड की चिनगारियाँ हैं । शाक्त दर्शन के ये पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप हैं ।

त्रिशिरोभैरव शास्त्र में अमा नामक कला के स्वरूप और उसके विकास संबंधी विचार के अवसर पर स्वयं परमेश्वर ने भगवती से कहा है कि प्रमातृ और प्रमेयात्मक विश्व के सृष्टि-संहार विभ्रम, विसर्ग मात्र स्वरूप ही है । और वहीं पर विसर्ग के तीन रूपों की चर्चा की गई है—१. पर, २. अपर और ३. परापर । हकार अपर विसर्ग है; स्वरूपस्य विसर्जनीय शब्द वाच्य जो दो बिंदु हैं—वह परापर विसर्ग है । पर विसर्ग को ही सप्तदशी कला के नाम से कहा गया है । षोडशकल पुरुष में, अन्तःकरण प्रभृति सोलह कलाओं को आप्लावित करती हुई यह नित्योदित, अनस्तमित, चिन्मात्र स्वभाव अमृत कला के नाम से कही जाती है । ह कार का अर्धांशरूप यह अमाख्य सप्तदशी कला, कौलिकी और परा शब्दों द्वारा बोध्य है । यही आनन्दात्मक पर विसर्ग, बहिर्भाव रूप औन्मुख्य से विरहित अतः विसर्गहीन प्रसुप्त भुजगाकार स्वात्म मात्र-विश्रान्त, परा-संविद्रूप शक्ति कुंडलिनी शब्द उन्मुखतात्मक आदि कोटि या प्रान्त देश में प्राणकुंडलिका कही जाती है । इस प्रकार यही संविन्मात्र-रूप सप्तदशी कला शिव व्योम, पर ब्रह्म, शुद्धात्म स्थान आदि नामों द्वारा निर्दिष्ट की जाती है । अखण्ड परा संवित् स्वयं स्वात्मा में जो स्वात्माक्षेप करती है यह सृष्टि, स्थिति और संहार रूप वैसर्गिकी स्थिति है । अनन्यापेक्ष, पूर्ण, परा संवित् रूप विसर्ग ही कादि—हान्त वर्णों के रूप में परिस्फुरित होती है ।

यह विसर्ग स्थूल होकर 'ह-कार' वर्ण का रूप ग्रहण करती है जिसका हंस, प्राण, व्यञ्जन, स्पर्श आदि नामों से उल्लेख किया जाता है ।

इस कौलिकी शक्ति रूपी परा अथवा हकारार्ध की विसर्गता—विसृष्टि रूप क्रिया की कृतंता इसी बात में है कि वह आनन्द, इच्छा आदि के क्रम से भिन्नाभास रूप क्रिया शक्ति पर्यन्त उन उन परामर्शों (वर्णों) के वैचित्र्य के रूप में स्फुरित होती है । इसलिये जिसमें वर्णों का विभाग स्पष्ट नहीं है अर्थात् नाद-मात्रात्मक विसर्ग को कुलगुह्वर शास्त्र में कामतत्त्व (अप्रतिहत इच्छा) के नाम से कहा गया है ।

इस कामतत्त्वात्मक विसर्ग में चित्त को समाहित करके जगत् को एक साथ ही वश में किया जा सकता है । यह विसर्ग अचर है—नित्य उदित रहने के कारण इसके प्राच्यस्वरूप की प्रच्युति नहीं होती । इसका न तो कोई उच्चारण करने वाला है और न प्रतिहन्ता; यह विसर्ग रूप देव प्राणियों के हृदय देश में स्वतः उच्चारित होता रहता है इसीलिये इसे अनिच्छ और अव्यक्त कहा जाता है । यह ध्वनि रूप, सतत् उदित, नाद मात्र-स्वभाव है । इतना होने पर भी उपभोग के अवसर पर रति सुख की समाप्ति से सम्बद्ध विवशता के कारण कान्ता के कण्ठ से 'हा' 'हा' के रूप में स्वभावतः अभिव्यक्त हो उठता है ।

बिंदुगर्भित जो महात्रिकोण समस्त ब्रह्माण्ड मूल रूप में शास्त्रों में व्याख्यात हुआ है उसकी तीन रेखायें पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप तीन प्रकार के शब्द, सृष्टि, स्थिति और संहाररूप तीन प्रकार के व्यापार वामा, ज्येष्ठा और रौद्री किंवा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप तीन प्रकार के शिवांश; अथवा इच्छा ज्ञान और क्रिया रूप तीन शक्त्यंश के प्रतिनिधि मात्र हैं (कामकलारूपी त्रिकोण इनका सम्मिलित स्वरूप है) त्रिकोण का मध्यबिंदु परावाक् अथवा अम्बिका और शान्ता इन दो शिवशक्त्यंश साम्यभावापन्न स्वरूप है। (वह परमातृका का विलास क्षेत्र सदाशिव तत्त्व का स्वरूप है।) यद्यपि बिंदु में शिव और शक्ति दोनों का ही अंश है एवं त्रिकोण में भी वही है। तथापि बिंदु प्रधानातः 'शिव' रूप में एवं इसी प्रकार त्रिकोण भी 'शक्ति' वा योनि रूप में परिणत हो जाता है। इस बिंदु समन्वित त्रिकोण मण्डल से समस्त बाह्य जगत् का अविर्भाव होता है।

चाहे किसी भी देवता या किसी भी स्तर के मूल तत्त्व का अनुसंधान करो, उसकी चरमावस्था में यह लिङ्ग योनि का समन्वयरूप त्रिकोण-मध्यस्थ बिन्दु अथवा बिंदु गर्भित त्रिकोण दिखलायी देगा। इसी कारण तंत्रशास्त्र में जिस किसी भी देवता के चक्र का वर्णन आया है, उसमें सर्वत्र ही यह बिंदु और त्रिकोण मूल स्थान में साधारण भाव से वर्तमान हैं।

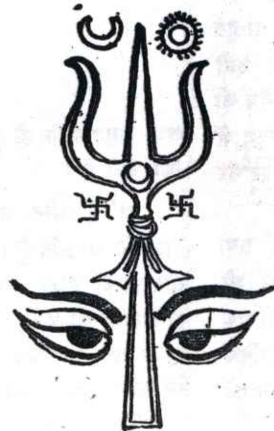
उपर्युक्त व्याख्या से यह आपको स्पष्ट हो गया होगा कि 'कामकला' रूपी त्रिकोण ही श्री महात्रिपुरसुन्दरी वा श्री ललितादेवी का यंत्ररूपी शरीर है। यही पंचदशी विद्या है। यही कुंडलिनी शक्ति है। यही राधाकृष्ण तत्त्व है। यही संसार के सर्व तत्त्वों व पदार्थों का मूल है। इसी से शब्द ब्रह्म की उत्पत्ति हुई है और यही सब मंत्रों का मूल स्रोत है।

यह विषय बहुत ही गुह्य है। इस पर लेख लिखना अथवा भाषण देना सरल है किन्तु इसका वास्तविक रहस्य गुरू मुख से ही जाना जा सकता है।

यह लेख भिभिन्न तांत्रिक व भारतीय संस्कृति के ग्रन्थों से 'काम-कला-तत्व' संबंधित सामग्री को उद्धृत कर, क्रम बद्ध करके संकलित किया गया है, मैं उन सब लेखकों तथा प्रकाशकों का हृदय से आभारी हूँ।

संदर्भ ग्रन्थ

१. प्रतीकशास्त्र, लेखक श्री परिपूर्णानन्द जी वर्मा, २. "चण्डी" मासिक पत्र, चण्डी कार्यालय, १९०-F अलोपीबागमार्ग, इलाहाबाद-६ के विविध अंक, ३. बिंदु सिद्धि अथवा नाद बिंदु योग, लेखक चाँद प्रकाश मेहरा, "कुंडलिनी शक्ति अंक", पृष्ठ २४६-२६२, "अनुभूत योग माला" मासिक पत्र का मई-जून-जुलाई १९७५ का सम्मिलित अंक, ४. "श्री कृष्ण प्रसङ्ग", लेखक मणिपूर वासी डा. गोपीनाथ जी कविराज, ५. "कल्याण" मासिक पत्र का "शक्ति अंक", ६. काय सिद्धि बनाम ब्रह्मचर्य सिद्धि, लेखक डा. चाँद प्रकाश मेहरा, "आयुर्वेद दूत" ४ घमाणी मार्केट, जयपुर-३०२००३ का अक्टूबर-नवम्बर, १९७७ का दीपावाली विशेषांक, पृष्ठ १६-२८, ७. "सौंदर्यलहरी", लेखक स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज (हिन्दी अनुवाद), ८. 'भारतीय प्रतीक विद्या', लेखक डा. जनार्दन मिश्र, ९. 'मंत्र और मातृकाओं का रहस्य', लेखक डा. शिवशंकर अवस्थी, १०. "कामकलाविलास", पुण्यानन्द नाथ कृत। ११. Kamkalavilas, by Sir Arthur Avelon, English Translation and Commentary.



शाक्तागम सम्मत

कामकला-रहस्य

प्रोफेसर राममूर्ति त्रिपाठी

सामान्यतः कामशास्त्र आदि में 'काम' शब्द का प्रयोग सृष्टि निमित्तक-कामना या इच्छा विशेष के अर्थ में होता है, परन्तु इस निबंध में 'काम' का अर्थ है—'रवि' और उसकी कलाएँ हैं—इन्दु या सोम तथा अग्नि। सृष्टि के मूल में ये कलाएँ हैं—अतः प्रसिद्धि है—अग्नीषोमात्मकं जगत्। जगत् अग्निसोममय है।

जिस प्रकार-सांख्यदर्शन में तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, उसी प्रकार शाक्तागम में अग्नि एवम् सोम की साम्यावस्था का नाम 'रवि' है। इसी में वैषम्य आने से सृष्टि होती है। गुणों के समान अग्नि एवम् सोम की भी दो स्थितियाँ हैं—सम तथा विषम। सम रहने पर प्रलयावस्था तथा विषम रहने पर सृष्टि अवस्था होती है। वैषम्यकाल में भी कभी-कभी सोम की प्रधानता रहती है और कभी वह्नि की। दोनों की स्थिति या प्रधानता परस्पर सापेक्ष है।

अग्नि एवम् सोम की समता से अ-सृष्टि तथा विषमता से सृष्टि और संहार होता है। जिस सृष्टि में अग्नि की प्रधानता रहती है— वह सृष्टि संहारोन्मुख रहती है। अग्नि ही कला है, कालाग्नि रुद्र ही सर्व संहारकारी है। ऊपर कहा गया है कि दोनों परस्पर सापेक्ष हैं— अग्नि सहकृत सोम और सोम सहकृत अग्नि। अग्नि अन्नाद है और सोम अन्न। अग्नि दाहक है और सोम दाह्य।

सहस्रारस्थ इस सोम बिन्दु की हृदयस्थ वह्नि के ताप से क्षरावस्था होती है, पर एक समय ऐसा भी होता है जब वह अक्षरावस्थ रहता है। अग्नि के योग से उस इन्दु-बिन्दु का क्षरण होता है यही क्षरित या द्रुत प्रवाह हार्दकला है—इसी से छत्तीस तत्वों का प्राकट्य होता है। इसी क्षरण से कमल-चक्रों में स्थित वर्णमातृकाओं की पुष्टि होती है। मेघ जो मेहन करता है—उसका मूल इसी क्षरण में विद्यमान है। मेढ़ू मेहन में में भी यही मूल धारणा है। इस आध्यात्मिक अर्थ को ध्यान के रखकर कहा गया है—"आदित्याज्जायते वृष्टिस्ततोऽन्नंच ततः प्रजाः"

इसी 'वर्षण' या 'मेहन' से संबद्ध होने के कारण शरीर को 'वर्ष्म' तथा 'वपन' से जुड़ने के कारण 'वपु' कहा जाता है। 'बिन्दु' कल्पना का भी रहस्य इसी क्रम में निहित है। चिन्तन की विभिन्न धाराओं में इसी एक तत्व को कहीं बिन्दु कहीं महामाया तथा कहीं शुद्ध तत्व जैसी भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ दी गई हैं। इसी काम और कला अर्थात् सूर्य, सोम और अग्नि को दृष्टि में रख कर कहा गया है—

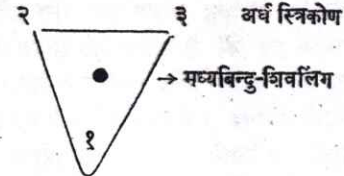
न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

इस काम कला अर्थात् सोम और वह्नि को ध्यान में रखकर तीन बिन्दु स्थिर किए जाते हैं—साम्य में स्थिति और वैषम्य में सृष्टि तथा संहार। इन तीनों से अतिरिक्त अथवा उनसे पर भी एक दशा है—जिसे 'तुर्य' कहा जाता है।



यही कल्पना वैयाकरणों की पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की उपज में है। परा तुर्य है। यह मध्य बिन्दु है। वैष्णवों में भी चतुर्व्यूह की कल्पना है—वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और संकर्षण। यहाँ वासुदेव मध्य बिन्दु है।

शरीर या पिंड के भीतर जो मूलाधार पर त्रिकोण है और उस पर स्थित स्वयम्भू लिंग पर साढ़े तीन आवर्त मार कर बैठी हुई जो कुण्डलिनी है—उसका भी बीज इसी 'कामकला' सिद्धान्त में निहित है। उस त्रिकोण की स्थिति इस प्रकार है—



अधः प्रसृत शक्ति ही कुण्डलिनी के रूप में मध्यमार्ग के द्वार को आवृत किए बैठी है।

'अ' है अग्नि और 'ह' सोम। अग्नि काल है और हम सब काल-राज्य के अन्तर्गत हैं। 'अहं' का बिन्दु ही पूर्ण बिन्दु है। सोम चन्द्र है और इसका राज्य अमृतराज्य है। कालराज्य का शरीर भौतिक है और सोमराज्य का अमृत। माता एवम् पिता अथवा ईश्वर एवम् माया भौतिक देह के तथा सदाशिव (गुरु) तथा ईश्वर (इष्ट) अमृत देह के मूल हैं। वैसे अग्निराज्य में भी चन्द्र है, पर इस राज्य का अतिक्रमण कर जाने पर षोडशकल-सहस्रार स्थित चन्द्र से अमृत देह की उपलब्धि होती है। जितना विटामिन है—सब चन्द्र कला का ही परिणाम है। अग्निराज्य का चन्द्र पंचदशकला का है और इसको अतिक्रान्त कर रहने वाला

चन्द्र षोडशकल । कालराज्य अग्नि कला प्रधान है और अमृतराज्य सोमकला प्रधान । फलतः अग्नि और चन्द्र का संपर्क अभयत्र रहता है— संघर्ष उभयत्र गतिशील हैं । अन्तर यह है कि कालराज्य में अग्नि सोम का अमृतराज्य में सोम अग्नि को ग्रास बना लेता हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से पुरुष को षोडशकल चन्द्र से अमृत देह अथवा बैंदव देह की उपलब्धि होती है । इस चन्द्रप्रधान अमृतराज्य वाले देह एवम् आत्मा में निराकारता की दृष्टि से कोई अंतर नहीं हैं । भौतिक देह से अंतर स्पष्ट है ।

इस धारा वाले चिंतक मानते हैं कि इस कालराज्य का अतिक्रमण कर लेने पर प्राप्त होने वाले 'कैवल्य' और 'चित्स्वरूपस्थिति' में अंतर है । कैवल्य का मतलब हैं—प्रकृति, माया अथवा महामाया से आत्मा की विवेक ख्याति पर चित्स्वरूपा वा स्थिति इससे ऊपर की बात है । चित्-स्वरूपा वा स्थिति दो प्रकार की है—एक तो शांत ब्रह्मवादियों की—जहाँ चित् शक्ति का विकास नहीं है—अतः 'पूर्णता' नहीं है और दूसरा शैवों का—जहाँ चित्स्वरूपावस्थान तो है ही, चित् शक्ति का भी विकास है । चित्स्वरूपापत्तिरूपा मुक्ति भी दो प्रकार की होती हैं—क्रम मुक्ति तथा अक्रममुक्ति । क्रम मुक्ति भी विविध हैं, अधिकार (ईश्वर) भोग (सदा शिव) तथा लय (शिव) । लयावस्था के बाद 'बिंदु' से संबंध का सर्वथा अभाव है—आगे शिवत्व की उपलब्धि हो जाती है ।

अंततः 'कामकला' का विचार करते हुए यह कहना है कि बिंदु से नीचे की ओर अग्नि का प्राधान्य हैं—यद्यपि वहाँ सोम भी दाह्य सामग्री के रूप में विद्यमान है—पर जैसा कि ऊपर बताया गया है—यह चंद्र पंचदशकल है । मध्य में रवि है जो ऊपर षोडशकल चंद्र से झरते हुए अमृत प्रवाह का पान करता रहता है और उस पान का जब उद्गिरण होता है वो उसी उद्गीर्ण अमृत से निखिल विश्व का पोषण होता रहता है । 'कामकला विलास' में इसी को यों कहा है—

> बिंदुरहंकारात्मा
> रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः ।
> कामः कमनीयतया,
> कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू ॥
> सित-शोण-बिन्दु युगलं
> विविक्त-शिवशक्ति-संकुचत् प्रसरम् ।
> वागर्थ-सृष्टि-हेतुः
> परस्परानुप्रविष्टविस्पष्टम् ॥

•

मातृका स्वरूप और साधना

डॉ. चन्द्रशेखर स्वामी

शाक्त, शैव और वैष्णव आगमों का मन्त्र-शास्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा मन्त्र का सम्बन्ध मातृकाओं से है । साधारणतया वर्णों को अलग-अलग एवं समुदित रूप से मातृका नाम से अभिहित करते हैं । वर्णमालात्मक मातृका चार प्रकार की है—(१) केवल, (२) बिन्दुयुक्त, (३) विसर्गयुक्त और (४) उभयात्मक ।[1] लोक में बिन्दु-विसर्ग रहित 'केवल मातृका' का उपयोग किया जाता है और अन्य तीन भेदों का प्रचलन मन्त्र शास्त्र में ही है। अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त बिन्दु युक्त मातृका को सर्वज्ञताकरी[2] विद्या भी कहते हैं । स्वच्छन्द[3] तन्त्र के अनुसार 'न विद्या मातृकापरा' अर्थात् मातृका से परे और कोई विद्या नहीं है । मातृका की उत्पत्ति प्रणव से मानी जाती है अतः ओंकार का एक नाम 'मातृकारसू' : भी प्रचलित है । अभिनवगुप्त[4] ने सिद्धयोगीश्वरी के मतानुसार आनन्दात्मिका विसर्गशक्ति को शब्दराशि अथवा मातृका संज्ञा दी है । 'अ' वर्ण अनुत्तर और 'ह' वर्ण विसर्ग का द्योतक है । इन दोनों का संघट्ट ही 'अहम्' है । अनुत्तर तेज रूप अकुल अथवा शिव है । उसकी परा कौलिकी शक्ति ही विसर्ग पद वाची है ।[5]

अनुत्तरं[6] परं धाम तदेवाकुलमुन्यते ।

विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥

अकार-हकार द्वारा संकेतित शिवशक्ति के संघट्ट को आनन्द शक्ति कहा है जिससे विश्व का निर्माण होता है । यह विसर्ग शक्ति ही मातृका शक्ति है ।

मन्त्रशास्त्र में विलोम मातृका, बहिर्मातृका और अन्तर्मातृका की विशेष चर्चा है । प्रचलित मातृका सबिन्दुक उलटा रूप ही, 'विलोम मातृका' है । लिपिमयी देवी 'बहिर्मातृका' है । साधक द्वारा मूलाधार आदि षट्चक्रों में वं, शं, षं, आदि वर्णों का क्रम से न्यास 'अन्तर्मातृका' है । अकार से क्षकार पर्यन्त मातृकाओं की संख्या पचास है । वर्णमाला को स्थूल मातृका कहते हैं । यही वैखरी वाक् है ।[1] इसको खर अर्थात् कठिन या घनीभूत होने कारण वैखरी कहते हैं । 'ख' अर्थात् कर्ण विवर में बैठती है अथवा विखर नामक प्राण से प्रेरित होने के कारण वैखरी है।[7] मध्यमा वाणी सूक्ष्म मातृका है । परा और पश्यन्ती इन दोनों की सूक्ष्मतर या सुसूक्ष्म मातृका पुकारते हैं । यह मातृका विश्वनिर्मात्री, स्वतन्त्र, अलुप्तप्रभावयुक्त क्रियाशक्ति है । घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झंकार और ध्वङ्कृति इन आठ प्रकार के शब्दों में व्याप्त 'अ' से लेकर 'क्ष' तक पचास वर्ण भट्टारक रूप मन्त्रादिमय, समस्त शुद्ध, अशुद्ध संसारों की जननी, परमेश्वरी क्रियाशक्ति अज्ञात माता होने से अक्रमा मातृका कही जाती है । यही सम्पूर्ण वाच्यवाचकात्मक वाङ्मयाभास रूप होने के कारण सक्रमा मातृका बन जाती है ।[1]

मातृका शक्ति ही पर-अभेदात्मक और अमर-भेदात्मक ज्ञान का आधार है ।[2] वर्णों की समुदित शक्तिरूप स्थूल मातृका वस्तुतः एक ही है । पश्चात् वही पचास पृथक्-पृथक् वर्णों की शक्ति रूप पृथक्-पृथक् मातृकाओं के रूप में विकसित होती हैं । पचास मातृकाओं का नववर्गों के रूप में उल्लेख - अ, क, च, ट, त, प, य, श, क्ष मिलता है । सप्तवर्ग— अ, क, च, ट, त, प, य है । अवर्ग भैरव का बोधक है । अनन्तर अकार से लेकर विसर्ग पर्यन्त १६ वर्णों के समूह को स्वर अथवा बीज और 'क' आदि व्यञ्जनों को योनि कहते हैं । बीज वर्ण ही घनीभूत होकर क, च आदि वर्णों का रूप धारण करते हैं । ये बीज के द्वारा व्यक्त होते हैं इस कारण इन्हें व्यञ्जन कहते हैं । उक्त बीज के संसर्ग से जगत् का हेतु होने से योनि पद वाच्य हैं । अवर्ग द्वारा भैरव और योनि वर्ग समाहारक 'क्ष' वर्ण द्वारा भैरवी की पूजा की जाती है ।[3] भैरवी ही योगीश्वरी रूप उमा है । क से लेकर श तक सप्त वर्गों—सप्त मातृकाओं का पूजन होता है । वस्तुतः उमा भगवान् शंकर का शरीरार्द्ध है, आठवीं देवी हैं । वे ही सात रूपों में अपने को विभक्त करती हैं । कवर्ग की ब्राह्मी, चवर्ग की महाहेश्वरी, टवर्ग की कौमारी, तवर्ग की वैष्णवी, पवर्ग की वाराही, यवर्ग की ऐन्द्री और शवर्ग की चामुण्डा अधिष्ठातृ देवता हैं । स्वच्छन्द[4] तन्त्र में अवर्ग की अधिष्ठातृ महालक्ष्मी निर्दिष्ट है । वस्तुतः ज्ञानदीप्तिमयी उमा ही महालक्ष्मी है और वह उमापति भैरव देह से अभिन्न हैं । मालिनीविजयोत्तर[5] में महालक्ष्मी को अलग मानकर माहेशी, ब्राह्माणी, कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, याम्या, चामुण्डा और योगशी अष्टमातृकाओं का विवरण है । इनके वर्गों की संख्या अ, क, च, ट, त, प, य और श है । अणिमा आदि अष्ट महासिद्धियाँ इन अष्ट वर्गों से ही उत्पन्न होती हैं ।

इस प्रकार आगमशास्त्र के अनुसार मातृकादेवी के स्वरूप को संक्षेपतः प्रस्तुत करने के अनन्तर अब हम मातृका साधना के सूक्ष्म तत्त्व पर विचार करेंगे । अक्षमाला अथवा मातृका न केवल सामान्य जनों के द्वारा

---

१. तन्त्रसार, पृ० ६३ । २. परशुराम कल्प, सू० २१, खण्ड दशम । ३. स्वच्छन्द पट० ११, श्लोक १९९ । ४. तन्त्रालोक तृ० आ० । ५. तन्त्रालोक, तृ० अ० श्लोक १४३ । ६. सूतसंहिता तात्पर्य-दीपिका व्याख्या । ७. सौभाग्यभास्कार, पृ० १००, तन्त्रालोक, तृ० आ० पृ० २२५ ।

१. नेत्र तन्त्र अधिकार २१, श्लोक. ३७–३८, पृ० २७१ । २. शिवसूत्रवार्तिक, श्लोक २३ । ३. स्वच्छन्दोद्योत १ पट०, पृ० २८ । ४. स्वच्छन्दोद्योत १० पट०, पृ० ४२३ । ५. मालिनीविजयोत्तर, तृ० अधि० श्लोक १४ ।

अपितु महायोगी शिव के द्वारा भी जपी जाती हैं।[1] मातृकाओं के अभ्यास में प्रायः साधक की प्राण और वाक् की क्रिया चलती हैं अर्थात् अं, आं आदि का स्थूल स्तर पर उच्चारण करता हैं। अन्तर्वैखरी में केवल सावधान भाव रख कर इनको उच्चरित करते हैं। मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योगिनी मुद्रा नामक इन तीन तत्त्वों का साचात्कार कर लेना अत्यन्त आवश्यक हैं। अन्तर्वैखरी अवस्था में मातृकाओं का मानसिक आकार होता है। जो श्रवण साचात्कार के विषय थे, वे इस स्तर पर मानसिक बोध के अनुरूप स्फुरित होते हैं। अतीव सूक्ष्म भूमि में इनका रूप-साचात्कार होता है। प्रत्येक मातृका का एक वर्ण हैं। इस वर्ण के साथ प्रकृति और भाव का सम्बन्ध है। सत्त्व, रजस् और तमोगुण के अनुसार मातृकाओं की प्रवृत्ति होती हैं। इनमें मूल प्रकृति को घटन विघटन करने की पूर्ण सामर्थ्य निहित हैं। ये मन, बुद्धि और अहंकार के स्तर से सूक्ष्म हैं। प्रकृति की विकृत अवस्था में जिन वर्णों का साचात्कार होता है, उनको विकृत-प्राण वर्णात्मक मातृकाएँ समझना चाहिए। पञ्च भूतात्मक सृष्टि इन्हीं की विकृति के फल-स्वरूप होती हैं। विकृत मातृकाओं में मूलभूत शक्ति और संकुचित आत्म-तत्त्व का मिश्रण है। प्राण की विकृति, मन की विकृति एवं बुद्धि की विकृति सब मिलकर अहंकार में होती हैं। अहंकार में इन मातृकाओं का कार्य चलता है। इनके अधीन ही संस्कार, इच्छा, ज्ञान और क्रिया चलती है।

प्रकृति की साम्यावस्था में समस्त वर्ण एकात्मक हैं। एकत्वानुभव में इनका एकाकार वर्णात्मक स्फुरण होता रहता हैं।

प्रत्येक स्तर पर मातृकाओं का एक केन्द्र हैं। इसको तत्त्वशक्ति भी कहते हैं। मातृकाओं के वर्णों से तत्त्वों की सृष्टि होती है। मातृकाओं का सूक्ष्म केन्द्र 'कला' माना जाता है। प्रत्येक स्तर पर मातृका शक्ति कलात्मक बन कर परवर्ती स्तर की सृष्टि का कारण बनती है।

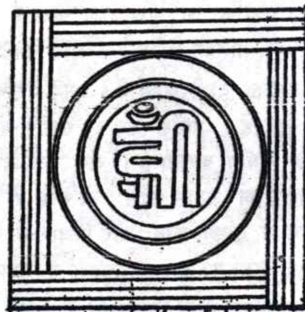
मातृकाओं के स्थूल उच्चारण से साधक की स्थूल भावना पर प्रभाव पड़ता है। इनके उच्चारण के चण में यदि बोध का ठीक तादात्म्य हो जाए, तो उस समय उस-उस मातृका का स्वरूप बोधगत हो जाता है। साधक जब मन के स्तर पर इन मातृकाओं की तरङ्गित अवस्था का अनुभव करता हैं, तब वह प्राणशक्ति जिसके बल पर यह खड़ा है, झट से कार्य करता है। इन मातृकाओं का जो आधान केन्द्र है, वह भी चार प्रकार के मातृकाओं के स्तर के अनुसार पृथक् पृथक् हो जाता हैं। वैखरी स्तर में विकृति का केन्द्र-बिन्दु जो एक स्वरूप से अलग है और सतत अलग-अलग प्रकार के बोध में रहता है, जिसका अन्त नहीं हो सकता हैं। यह निरन्तर काल तत्त्व में ग्रसित होता रहता हैं। यहाँ पर इसकी गति वामावर्त और दचिणावर्त दोनों प्रकार की हैं। साधारणतया सृष्ट्युन्मुखी गति दचिणावर्त और संहारात्मक वामावर्त मानी जाती हैं। इनमें मातृका का जप न वामावर्त से किया जाता है और न दचिणावर्त से ही, अपितु इन दोनों से सेतु बाँध जाता है। यह है अचमाला प्रकार का मातृका जप। 'च' वर्ण मेरु हैं, इसका उल्लङ्घन किये बिना यदि 'अ' से 'ह' और 'ह' से 'अ' अर्थात् लोम विलोम प्रकार से जप किया जाता हैं। तब एक गति प्राप्त होती है जो एक बिन्दु से वृत्त तक जाकर पुनः उसी स्थान से प्रवृत्त होती है। इसी सरल गति द्वारा केन्द्र में प्रवेश मिलता है।

मातृका शक्ति वैखरी अवस्था में एक स्वरूप पाती हैं, तो मध्यमा स्तर पर अतिसूक्ष्म बोधगत आकार में रहती है। इसकी भेदाभेद अवस्था होती है। यह प्राणशक्ति की चालिका हैं। पश्यन्ती अवस्था में यह क्रियात्मक है और स्व में प्रकाशित है। अनन्तवर्णा होते हुए भी एकात्मना है एवं अभिन्न बोध युक्ता है। एक अखण्ड प्रकाश में अनन्त प्रकाशों का खेल इस भूमि में दिखाई देता है। इस स्तर पर इच्छाशक्ति ज्ञानाश्रित है। इससे भी अति सूक्ष्म भूमि है—'परा' की। इसमें मातृकाओं का केन्द्र बिन्दु 'कला' है। वाणी की चारों अवस्था में सृष्टि होती है और इस सृष्टि की अभिव्यक्ति का मूलकारण कला है। शान्त्यतीत आदि कलाओं का स्थूलस्वरूप मातृका शक्ति है। सृष्टि की निर्माण-शक्ति शक्ति-संकोच के कारण सीमित होती जाती है। इनमें परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव है। इनमें कई स्तर हैं। प्रत्येक स्तर पर संकोच-बोध है। यह संकुचित बोध ही सृष्टि के अधीन कराता है। अब यदि हम सावधान होकर इनका रहस्य समझने का प्रयास करेंगे, तो स्पष्ट हो जाएगा कि मातृकाओं की वैखरी भूमि में इच्छा, ज्ञान और क्रिया—ये तीनों काल के अधीन हैं। जब इन मातृकाओं का मध्यमा अवस्था में सूक्ष्म स्पन्दन का अनुभव होता हैं, तो ये न केवल स्थूल आकारगत हैं किन्तु इनमें सूक्ष्म प्राण के स्तर पर इनकी शक्ति प्राणों को प्रेरित करती है। जितना प्राण में सामर्थ्य है, वह इन मातृकाओं की दृढ़ता है। इससे सूक्ष्म होने पर पश्यन्ती स्तर पर मातृका नादात्मक स्वरूप धारण कर लेती है।

वैखरी अवस्था में वर्णों का इच्छाकृत प्रयत्न से उच्चारण किया जाता है, तब मन अन्तः और बाह्य संस्कारों से युक्त होने के कारण नाना प्रकार के विकल्पों से आक्रान्त होता है। उनका अन्तःकरण पर प्रभाव पड़ता है। इनको हटाकर शुद्ध विकल्प का संस्कार डालने के लिए मातृका उच्चारण की प्रक्रिया पूर्ण सचम है। इस उच्चारण के साथ मन, प्राण और बिन्दु का सम्बन्ध है। पल्लवोच्चार क्रम एवं संपुटोच्चार क्रम—इन दोनों क्रमों के द्वारा साधक के अवधान की मात्रा में तीव्रता एवं स्पन्दशक्ति पकड़ में आती हैं। प्राण की भूमि से चित्ताकाश में प्रवेश करते ही साधक को अपने सहज आन्तरिक अवधान की स्थिति में रहने के कारण अपने भीतर ही मातृकाओं का उच्चारण पुनः पुनः सहज रूप से सुनाई देने लगता है। यह एक प्रकार की अन्तर्वैखरी अवस्था है। इससे जब और सूक्ष्म मध्यमा भूमि लाभ होती है तब वर्ण अर्थात् ज्योतिरूप और ध्वन्यात्मक नाद निरन्तर बोध में आता है। नवनाद और ज्योति के ससवर्णों का साचात्कार होता है। पश्यन्ती के स्तर पर प्रत्येक वर्ण शक्तिस्वरूप है और प्रत्येक का वर्णात्मक देवता है। यहाँ मातृका शक्ति का दर्शन होता है। क्रम में अखण्ड मातृका स्वरूप देवी की शक्ति का स्फुरण निरन्तर मातृका शक्ति के रूप में होता है। इन शक्तियों के सूक्ष्म मिलन और मिश्रण से मन्त्र बनते हैं। इसी स्थिति में मन्त्रद्रष्टा मन्त्र का साचात्कार करता है। इस स्तर पर प्रत्येक मातृका

१ परात्रिंशिका टि०, पृ० १९४।

नादगत छन्द भी है। इसका अनुभव ऋषि करते हैं। इस जगह मातृका विज्ञान भी है। जो समष्टि मातृका शक्ति का अनुभव करता है; वह स्वयं अनन्त देव-देवियों के केन्द्र में रहता है। वह इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति को एक केन्द्रगत शक्ति के रूप में साक्षात्कार करता है। यहाँ तक मातृका-साधना की गति संभव है। इसके पश्चात् जब अखण्ड महाशक्ति स्वरूप जगदम्बा की कृपा होती है, तो योगी अद्वैत भूमि में प्रवेश करता है, वह है परा भूमि। इस समष्टिस्वरूप मातृका शक्ति का अति सूक्ष्म स्वरूप 'विमलकला' है। यह समस्त जगत् की प्रसविणी है। इस स्तर पर मातृका शक्ति कलात्मक बन जाती है और स्वरूपगत मन्त्र और मातृकाओं के ऊपर के परा स्वरूप का स्वात्म स्वरूप में साक्षात्कार होता है। इस प्रसङ्ग में इतना ही कहना उचित प्रतीत होता है। ●



गुरु तत्त्व : आगमिक दृष्टि

आचार्य बलदेव उपाध्याय

व्यावहारिक जगत् एवं आध्यात्मिक जगत् उभयत्र गुरु की महिमा सर्वातिशायी है। साधक की चक्षु अज्ञानरूपी तिमिर रोग के कारण बिल्कुल बन्द रहती है। वह दूर की बात कौन कहे पास-पड़ोस की वस्तुओं के जानने में भी सर्वथा असमर्थ रहता है। ज्ञानरूपी अंजन की शलाका से गुरु ही उस रोग को हटा देता है जिससे साधक के अन्तर्नेत्र खुल जाते हैं और वह इन्द्रियातीत विषयों के भी जानने में सर्वथा कृत-कार्य होता है। इसीलिये गुरु की महिमा सर्वदा स्तुत्य एवं श्लाघ्य मानी जाती है—

"अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥"

शास्त्र की दृष्टि में गुरु मानव रूप में भी देवाधिदेव का ही साक्षात् स्वरूप प्रस्तुत करता है। गुरु ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर है। इतना ही नहीं, वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का ही रूप है। अत एव वह सर्वथा वन्दनीय होता है।

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साचात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवेनमः॥"

आगम की दृष्टि में शिव ही गुरु भाव के पूर्णतम आदर्श हैं। वही आदि गुरु, नित्य गुरु, विश्व के परम गुरु है। शिव अर्थात् गुरु ही सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। उनमें जो नित्य शक्ति अभिन्न रूप से विराज-मान रहती है, वह सच्चिदानन्द स्वरूपा है। शिव निष्क्रिय द्रष्टा और कर्ता है। शक्ति उनके साथ पूर्ण रूप से अभिन्न होने पर भी दृष्टिस्वरूप और करणस्वरूप है। सृष्टि के पूर्व शिव और शक्ति में किसी प्रकार का अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु सृष्टि के पश्चात् ही यह पार्थक्य दृष्टि में आता है। द्वैत दृष्टि से विचार करने पर जीव अनादि काल से अणु के रूप में विद्यमान रहता है। आरम्भ से ही जीव के ऊपर एक आवरण चढ़ा रहता है जिससे उसका विभुत्व सदा आच्छादित रहता है। सत्य तो यह है कि शिव और जीव में सर्वथा आरम्भ से ही अभेद है, परन्तु इसी आवरण के कारण जिसे 'मल' की संज्ञा से आगम पुकारता है, दोनों में भेद प्रतीत होता है। यही आवरण जीवत्व या पशुत्व कहलाता है और इसे ही 'मल' भी कहते हैं। यह अनादि काल से जीव के साथ लगा रहता है और इसी के कारण जीव अपना विभुत्व भूल कर अपने को अणु समझने लगता है। यही 'आणव मल' की संज्ञा से आगमों में प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्त इसे 'स्वरूप प्रच्छादन' की संज्ञा देते हैं; उनका वचन है—

देवः स्वतन्त्रश्चिद्रूपः प्रकाशात्मा स्वभावतः।
रूप-प्रच्छादन-क्रीडा योगादणुरनेककः॥

—(तंत्रालोक भाग, ८, १३।१०३)।

इस वचन का अर्थ है कि शिव वस्तुतः स्वतन्त्र, चिद्रूप, स्वभाव से ही प्रकाशात्मा और एक होता है, परन्तु अपने स्वरूप के प्रच्छादनरूपी अपनी क्रिया के योग से वह अणु होता है और अनेक रूप धारण करता है। यदि यह आवरण नहीं रहता, तो जीव अपने को शिव रूप से ही पहचानता, पशु रूप से नहीं। इसी आवरण के समान कहीं-कहीं एक दूसरा ही आवरण इसके ऊपर दृष्टिगोचर होता है और इस आवरण को 'कर्म' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इस आवरण के ऊपर भी एक दूसरे मल की सत्ता दृष्टिगोचर होती हैं, जिसे 'मायीय मल' के नाम से पुकारते हैं। इस मायीय मल के द्वारा भेद बुद्धि का उदय होता है। कर्म के दो प्रकार हैं—शुभ एवं अशुभ। मायीय मल के द्वारा जब कोई पुरुष-संज्ञक वितात्मा किन्हीं वेद्यों को शुभ समझ कर उनके सम्पादन की ओर अग्रसर होता है और किन्हीं को अशुभ समझ कर उनसे हट जाता है, यही जीव की 'शुभाशुभ वासना' 'कार्मण मल' के नाम से अभिहित की जाती है। सच पूछिये तो अज्ञानरूपी मल तो एक ही प्रकार का होता है और वह है अपने स्वरूप को न पहचानना, परन्तु वह तारतम्य त्रिविध रूप से प्रतिभासित होता है जिसका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है।

यह तो बन्धन का रूप हुआ। इसी बन्धन से जीव को मुक्ति दिलाने वाला महनीय व्यक्ति 'गुरु' होता है। अभिनवगुप्त ने 'मोक्ष' के स्वरूप के विषय में लिखा है—

"मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूप-प्रथनं हि सः।"

अर्थात् 'स्वरूप प्रथन' को ही मोक्ष नाम से तन्त्र शास्त्र व्यवहृत करता है। 'स्वरूप प्रथन' का अर्थ है—शिव के यथार्थ रूप की प्रतीति। शिव की सर्वतो महनीया शक्ति है स्वातन्त्र्य शक्ति। इसी स्वातंत्र्य शक्ति से सम्पन्न शिव रूप की प्रतीति ही वस्तुतः स्वरूप प्रथन है। इस दशा में साधक अपने को शरीर, मन, बुद्धि प्राण से उत्तीर्ण शुद्ध प्रकाश-विमर्श-रूप संवित का अनुभव करता है। परमार्थसार ने मोक्ष के स्वरूप का निरूपण स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार किया है—

"मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः॥

—(परमार्थसार, ६०वीं कारिका)।

कारिका का तात्पर्य है कि मोक्ष का न कोई धाम है और उस दशा में न कहीं अन्यत्र गमन होता है, प्रत्युत अज्ञान ही ग्रन्थि को भेदन करने से जो स्वशक्ति की अभिव्यक्ति होती है, वही मोक्ष है। फलतः यथार्थ गुरु का यही महनीय कार्य होता है कि वह साधक के हृदय में विद्यमान अज्ञान की ग्रन्थि को खोल डाले जिससे उसके शिवत्व की

पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाय। आचार्यों का कथन है कि आगम-सम्मत परामुक्ति ही पूर्णत्व है।

आगम के मत में न तो सांख्य का 'कैवल्य' पूर्णत्व है और न वेदान्त की मुक्ति ही। द्वैत और अद्वैत दोनों ही आगमों में दूसरा समर्थन मिलता है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ वेदान्त की मुक्ति को सवेध प्रलयाकल की अवस्था के सदृश मानते हैं। वे इस मुक्ति को 'विज्ञान कैवल्य' के समान भी नहीं मानते। इससे अनुमान होता है कि वेदान्त की मुक्ति में आणव मल पूर्ण रूप से वर्तमान रहता है। वह ध्वंसोन्मुख भी नहीं होता, परन्तु 'विज्ञान कैवल्य' में आणव मल ध्वंसोन्मुख तो होता ही है। कर्म न होने के कारण 'विज्ञानकेवली' की पुनरावृत्ति नहीं होती। आणवमल ध्वंसोन्मुख होने के कारण उससे कर्मों की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। वेदान्त मोक्ष में पुनरावृत्ति निवृत्त नहीं होती। इस मत के अनुसार वैष्णवादि की मुक्ति प्रलयाकल की तरह की है। उस स्थान में दीर्घकाल तक भोग होता है। फिर नई सृष्टि में जन्म होता है। न्यायादि का अपवर्ग आत्मा के सर्वविशेषोच्छेद होने के कारण अपवेद्य प्रलयाकल के सदृश है। फलतः आगम सम्मत परामुक्ति में ही पूर्णत्व है।[1]

अब गुरु-योग्यता पर किञ्चित् विचार करें। कौन व्यक्ति गुरु बनने की योग्यता रखता है? व्यक्ति में किन गुणों की सत्ता आवश्यक है, जिससे वह 'सद्गुरु' होने की क्षमता रखता है? लोक में नेत्र सम्पन्न व्यक्ति ही गन्तव्य मार्ग को देख सकता है और दृष्टि शक्ति के युक्त होने के कारण वही व्यक्ति दूसरों का मार्ग दर्शन करा सकता है। अध्यात्म जगत् में भी इसी प्रकार गुरु को ज्ञान सम्पत्ति से युक्त होने की नितान्त आवश्यकता होती है। वह परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान-उभयविध ज्ञान की सम्पत्ति से पूर्ण रहता है, परन्तु केवल इतने साधन से ही क्या वह व्यक्ति गुरु की महनीय पदवी का अधिकारी बन जाता है? नहीं कभी नहीं। उसमें ज्ञान शक्ति के साथ ही साथ अन्य दो शक्तियों का भी अस्तित्व आवश्यक है। एक है इच्छाशक्ति और दूसरी है क्रियाशक्ति। दूसरे के दुःख दूर करने की जो इच्छा है, उसे 'कृपा' या 'करुणा' कहते हैं। ज्ञानी होकर भी जो व्यक्ति कृपा से विरहित है वह कथमपि गुरु का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। 'करुणा' ही एक मात्र प्रवर्तिका होती है, परन्तु इच्छाहीन में करुणा कहाँ? ज्ञानी में केवल इच्छा से ही कार्य नहीं होता, यदि उसमें इस इच्छा को सफल बनाने का सामर्थ्य नहीं रहता। इच्छा अप्रतिहत होना चाहिये। तभी वह क्रिया के रूप में स्थूल आकार धारण करती है। यही इच्छा अमोघ इच्छा होती है। ज्ञानी होने से ही गुरु होने की योग्यता नहीं होती, यदि उसके हृदय में दुःखी व्यक्ति के दुःखों को दूर करने की करुणा का उदय नहीं होता। बुद्ध धर्म में भी यह तथ्य जागरूक रहा है। 'बोधिसत्त्व' में ज्ञानपारमिता का सद्भाव अवश्यमेव रहता है, परन्तु पूर्ण बुद्धत्व प्राप्ति के लिये उसमें करुणा का उद्रेक होना आवश्यक होता है। 'करुणा' की प्रेरिका शक्ति ही उसे उपदेश देने के लिये अग्रसर करती है, अन्यथा समस्त ज्ञान को धारण करने वाला भी व्यक्ति मानो एक धरोहर की तरह अपने में ही ज्ञान को संजोये रहता है, अपने में उसे साधक में संक्रान्त करने के लिए वह कथमपि उद्यत नहीं होता। इसलिये 'करुणा' के उदय लेने पर ही बोधिसत्त्व बुद्ध रूप को प्राप्त कर जगत् के कल्याण के साधन में तत्पर होता है। निष्कर्ष यह है कि—यथार्थ गुरु में प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इच्छा एवं क्रिया का योग रहना चाहिये, इसे ही शास्त्र में 'सद्गुरु' या 'आत्म-पुरुष' कहते हैं। ऐसे व्यक्ति को 'सांसिद्धिक गुरु' कहते हैं, जिसमें स्वतः सत्तर्क का उदय होता है, जिसके सारे बन्धन ढीले हो जाते हैं और जिसमें पूर्ण शिवत्व का आविर्भाव होता है। ऐसे पुरुष के लिये स्वयं कर्तव्य शेष नहीं रहता, वे आत्मा में कृतकृत्य हो जाते हैं। दूसरे पर अनुग्रह करना ही उनका एकमात्र प्रयोजन रहता है। ऐसे व्यक्ति के स्वरूप का निरूपण शास्त्र इस प्रकार करता है—

> "स्वं कर्तव्यं किमपि कलयन् लोक एकप्रयत्नात्।
> नो पारं प्रतिघटयते काञ्चन स्वात्मवृत्तिम्॥
> यस्तु ध्वस्ताखिल भवमलो भैरवीभावपूर्णः।
> कृत्यं तस्य स्फुरतरमिदं लोक कर्तव्यमात्रम्॥"

योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने ईश्वर के विषय में जो कहा है वह इस सांसिद्धिक गुरु के विषय में भी पूर्णतया चरितार्थ होता है—"तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्" आत्मानुग्रह के अभाव होने पर भूतानुग्रह प्राणियों पर अनुग्रह करना, कृपा करना ही उसका प्रयोजन होता है।

यही अनुग्रह शक्ति गुरुत्व का स्पष्ट वैलक्षण्य है। अनुग्रह शक्ति के स्वरूप जानने के लिये 'निग्रह शक्ति' के रूप को जानना नितान्त आवश्यक है। आगम शास्त्र में परमेश्वर के पाँच कर्म प्रसिद्ध हैं जिसका नाम है, पञ्चकृत्य-सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं निग्रह। निग्रह का अर्थ तिरोधान है। सृष्टि होने से पहिले निग्रह या तिरोधान की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में अवश्यमेव होती है। निग्रह या तिरोधान शब्द आत्मस्वरूप के आच्छादन के लिये आगमशास्त्र में व्यवहृत होता है। इस आच्छादन को लेकर अद्वैतमत तथा द्वैतमत में पार्थक्य है। अद्वैत मत में एक अद्वितीय परमेश्वर के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं होती। वे ही अपने आपको स्वतन्त्र रूप से पृथक् कर लीला की निष्पत्ति के लिये अणु रूप धारण करते हैं अर्थात् विभु परमेश्वर का अणु होना लीला का व्यापार है। यह तो हुआ अद्वैतमत का सिद्धान्त। द्वैतमत में अनादि काल से ही आत्मा में एक आवरण विद्यमान रहता है, धान में छिलके की तरह। यह आवरण ठीक छिलके की तरह होता है। द्वैत मत में यह आणव मल एक प्रकार का द्रव्य विशेष है। इसे समझने के लिये चक्षु के ऊपर विद्यमान परदे (मोतिया विन्दु) का दृष्टान्त सर्वथा उपयुक्त है। किसी कारणवश यह परदा नेत्र के ऊपर आ जाता है, कुछ दिनों में पक जाता है। तब चिकित्सक अपने अस्त्र विशेष से इसे काट कर बाहर

१—द्रष्टव्य; म० म० गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना (प्रथम भाग, पृ० २५४, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३ ई०)।

तिखाल देता है। यही ठीक दशा द्वैतमत में आणव मल की होती है। आणव मल भी एक विशिष्ट द्रव्य ही होता है, जिसके प्रभाव से शिवत्व संकुचित होकर अणुत्व में परिवर्तित हो जाता है। आत्मा स्वरूपतः शिव-रूप होने पर भी इसी परदे के कारण पशु हुआ है, जिससे उसमें शिव भाव के उपयोगी अपरिच्छिन्न ज्ञान और अप्रतिहत क्रिया का स्फुरण नहीं होता। यह आवरण रूपी परदा भगवान् की तिरोधान शक्ति के ही प्रभाव से आविर्भूत होता है। इस आवरण के हटाने का सर्वातिशायी एक ही उपाय है और वह है—अनुग्रह-शक्ति। इसी अनुग्रह कृत्य के निष्पादन करने के कारण ही शिव गुरु के रूप में पूजित तथा समादृत है। शिव रूपी गुरु इस अनुग्रह शक्ति के प्रभाव से जीव के ऊपर अनादिकाल से विद्यमान आणव मल को काट कर हटाने में समर्थ होते हैं। फलतः जीव के अणुत्व का निराकरण कर उसे शिव रूप में प्रतिष्ठित करने का महनीय कार्य गुरु का ही उत्तरदायित्व है। ऊपर तान्त्रिक मुक्ति के प्रसंग में कहा गया है कि मोक्ष को आगम शास्त्र 'स्वरूप प्रथन' स्वीकारता है। अर्थात् शिवभाव से आवरण के कारण जो विभु अणु के रूप में संकुचित हो गया है, उसको अनुग्रह शक्ति के द्वारा शिवत्व की प्राप्ति करा देना ही गुरु का उदात्तदायित्व है। फलतः अपनी अनुग्रह शक्ति के द्वारा जीव को बन्धन से मुक्त कर 'स्वरूप प्रथा' रूपी मुक्ति से सम्पन्न करने वाला ही व्यक्ति गुरु के गौरवशाली आख्या से मण्डित होता है।

दक्षिणामूर्ति का रहस्य

भक्तों को अद्वैत तत्त्व के उपदेश देने के लिए भगवान शिव द्वारा परिगृहीत रूप को दक्षिणामूर्ति के नाम से पुकारते हैं। 'दक्षिणामूर्ति' के स्वरूप तथा उपासना का प्रतिपादक एक स्वतन्त्र उपनिषद् ही विद्यमान है जिसके १९ वें पद्य में उस नाम की स्पष्ट व्याख्या की गई है—

"शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्।
दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः॥

अर्थात् बुद्धि को दक्षिणा कहते हैं। यह बुद्धि जिसके साक्षात्कार करने में प्रमुख साधन हो, उस शिव को ब्रह्मवादी गण 'दक्षिणाभिमुख' अर्थात् दक्षिणामूर्ति के नाम से पुकारते हैं। दक्षिणामूर्ति का पाषाण विग्रह बड़ा ही सुन्दर तथा आकर्षक निर्मित मिलता है। उनके रूप के ध्यान का वर्णन पर यह पद्य नितान्त प्रख्यात है (दक्षिणामूर्ति उपनिषद्, तीसरा पद्य)—

"स्फटिकरजतवर्णंमौक्तिकीमक्षमालाम्।
अमृतकलश-विद्या-ज्ञान मुद्राकराग्रैः॥
दधतमुरगकक्षं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं।
विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे॥"

उनका वर्ण स्फटिक तथा रजत के समान शुभ है। वे हाथों में मोती की रुद्राक्षमाला, अमृत कलश, विद्यामुद्रा एवं ज्ञानमुद्रा धारण करने वाले हैं। कटि में साँप का वेष्टन है तथा जटाजूट में चन्द्रमा विराजमान हैं एवं अन्य अंगों में विविध भूषणों को धारण करने वाले हैं, ऐसे रूपधारी दक्षिणामूर्ति की मैं स्तुति करता हूँ।

आदि शंकराचार्य ने 'दक्षिणामूर्ति' की स्तुति में दो स्तोत्रों की रचना की है, जिनमें गुरुमूर्ति शिव का रूप प्रतिपादक यह पद्य नितान्त विश्रुत है। इस स्तोत्र के ऊपर प्राचीन अद्वैताचार्यों की टीका भी उपलब्ध है। पद्य इस प्रकार है—

'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं।
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं।
तस्मै श्री गुरुमूर्तये नमः इदं श्री दक्षिणामूर्तये॥"

इस पद्य का आशय है कि निद्रा की अवस्था में स्वप्न में दीखने वाले पदार्थों के समान ही यह विश्व आत्मा में ही प्रतिभासित होता है जिस प्रकार दर्पण में दीखनेवाली नगरीप्रतिबिम्ब रूप से दृष्टिगोचर होती है। आत्मसाक्षात्कार रूप जाग्रत् अवस्था में एकमेवा द्वितीय ब्रह्म का ही जो साक्षात्कार करता है ऐसे गुरुमूर्तिधारी दक्षिणामूर्ति को नमस्कार। इस पद्य में निद्रा तथा जागरण दोनों दशाओं की तुलना के द्वारा अद्वैत तत्त्व का निरूपण किया गया है।

इस दक्षिणामूर्ति के चार प्रकार होते हैं—वीणाधर, योग, ज्ञान और व्याख्यान। इन चारों के विभिन्न रूप तथा आकृति प्रस्तार में अंकित मिलती है।

(१) वीणाधरमूर्ति—चार भुजा वाली होती है, वह खड़ी रहती है तथा भक्तों को वीणावादन सिखलाती है।

(२) योगमूर्ति—ध्यानस्थ मुद्रा में बैठी रहती है और भक्तों को अपने दर्शन से योग शिक्षा देती है।

(३) ज्ञानमूर्ति—ज्ञान की शिक्षा देने के लिए होती है।

(४) व्याख्यानमूर्ति—इतर शास्त्रों के उपदेश के निमित्त धारण की जाती है। अन्तिम दोनों मूर्तियाँ वीरासन धारण कर ज्ञान तथा व्याख्यान की मुद्राओं का प्रदर्शन करती हुई भक्तों को तत्तत् विषयों का उपदेश देती है।

ऊपर निर्दिष्ट मूर्तियों की उपलब्धि दक्षिण भारत में विशेष रूप से हुई हैं, जगन्नाथपुरा में वीणाधार दक्षिणामूर्ति प्राप्त होती है। विष्णुकाञ्ची में योग दक्षिणामूर्ति की प्राप्ति हुई है। योगपट्ट धारण करने के कारण इस मूर्ति के पहिचानने म कोई सन्देह नहीं होता। इसके दाहिने हाथ में वितर्क मुद्रा प्रदर्शित की गई है। मूर्ति के चारो ओर अनेक ऋषि लोग बैठ कर योग विद्या सीख रहे हैं—यह दिखाया गया है। १०८ उपनिषदों के ५१ वीं संख्या वाला है जिसमें 'दक्षिणामूर्ति उपनिषद्' शिवतत्त्व के उपदेष्टा गुरु के अद्वैत सिद्धान्ती उपदेशों का वर्णन किया गया है। इस देवमूर्ति की आराधना के निमित्त अनेक मन्त्र भी दिए गए हैं। इनमें 'ॐ ब्रं नमः दक्षिणपदमूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा', यह १८ अक्षरों का मन्त्र सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।

---

१. दक्षिणामूर्ति के एक प्राचीन अंकन के लिये द्रष्टव्य भारतीय संस्कृति-कोश (मराठी) चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ३३३, प्रकाशक—पण्डित महादेव शास्त्री जोशी, शनिवार पेठ, पुणे, १९६७ ई०।

काञ्ची में विराजमान उपरिनिर्दिष्ट दक्षिणामूर्ति का निर्माण 'दक्षिणामूर्त्युपनिषद्' के निम्नलिखित अष्टम पद्य के आधार पर सम्पन्न किया गया प्रतीत होता है। पद्य इस प्रकार है—

भस्मन्यापाण्डुराङ्गः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमाला।
वीणा-पुस्तैर्विराजत्करकमलधरो योगपट्टाभिरामः॥
व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः।
सव्यालः कृत्तिवासाः सतत भवतु नो दक्षिणामूर्तिरीशः॥

दक्षिणामूर्ति वाले भगवान् शंकर का यह व्याख्यान शब्दों के माध्यम से नहीं होता (जैसा साधारणतः जगत् में होता है) प्रत्युत यह मौन व्याख्यान है। व्याख्यापीठ पर विराजमान गुरु को शब्दों के द्वारा अद्वैत तत्त्व के उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत उनके दर्शन मात्र से ही शिष्यों के हृदयस्थ सन्देह स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसी तत्त्व को दृष्टि में रखकर सच्चे गुरु के विषय में यह प्राचीन सूक्ति है—

"गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुच्छिन्न संशयाः।"

शारीरक भाष्य में शंकराचार्य ने बाध्व ऋषि के प्रसंग में इस तथ्य की अभिव्यक्ति की है। बाध्व ऋषि गुरु के पास ब्रह्मोपदेश के लिये गए, तब गुरु ने अपना उत्तर शब्दों के द्वारा न देकर केवल मौन का आश्रयण किया। बाध्व ने तीन प्रश्न किया, तब गुरु ने कहा कि मैं तो आपके प्रश्न का उत्तर प्रतिबार दे रहा हूँ। मेरा मौन ही व्यवहारिक उपदेश है—उस ब्रह्म का। "उपशान्तोऽयमात्मा"। जब आत्मा शान्त-स्वरूप है, तो उसके उपदेश के लिए शब्द का माध्यम अकिञ्चत्कर है। ठीक ही है।

'यन्मौनव्याख्यया मौनिपटलक्षणमात्रतः।
महामौनपदं याति स हि मे परमागतिः॥



श्याम सरस्वती का सिद्ध स्थान—चीन

डॉ० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'

आर्यों ने रसपरिप्लुत रसना पर नर्तन करने वाली वाग्देवता सरस्वती का अभिनन्दन-वन्दन प्रारम्भ से ही कर दिया था—"शं सरस्वती सह धीभिरस्तु" (ऋग्वेद संहिता ७. ३५. १) =सरस्वती बुद्धि-शक्तियों का साथ देकर कल्याण करे। देवी भागवत (९. ५, १३-१४) के सरस्वती स्तोत्र में सरस्वती को स्मृति शक्ति, ज्ञान शक्ति, बुद्धि शक्ति, प्रतिभा शक्ति एवं कल्पना शक्ति बताया गया है।

शक्ति प्रकृति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अतः प्रकृति में दृश्यमान शक्तिसंवलित उपादानों का आरोप सूक्ष्म शक्तियों में किया जाना नैसर्गिक है। अष्टमूर्ति (=पंच महाभूत, सूर्य, चन्द्र तथा आत्मा) का संस्तवन इसका निदर्शन है। सरस्वती नदी के अप्रतिदेय उपकारों से प्रभावित होकर उसकी धारावाहिकता एवं कलकल निनाद को वाणी की धारावाहिकता, सरसता तथा शब्द का प्रतिरूप मान लिया गया। सरस्वती का उद्गम स्थान ब्रह्मसर होने के कारण इसे ब्राह्मी तथा सरस्वती नाम दिए गए। भाग्दीप्ति (चमक) में रति=क्रीडा होने के कारण भारती शब्द होने के कारण शब्दार्थक वण् से वाणी गॄ से गिर् तथा √वच् से वाक् प्रभृति संज्ञायें हुईं सरस्वती की।

देवी भागवत (९. ८. ३) के अनुसार संपूर्ण स्रोतों में पानी दृष्टिगोचर होता है। हरि सरस्वान् (पानीवाले हैं)। उनके इस नाम के कारण नदी इत्यादि जलाशयों का नाम भी सरस्वती पड़ गया—

"सरो वाप्यां च स्रोतस्सु सर्वत्रैव हि दृश्यते।
हरिः सरस्वांस्तस्येयं तेन नाम्ना सरस्वती॥"

शनैः शनैः उपमा विस्मृत हो गयी और रूपक मात्र अवशिष्ट रह गया। फलतः हम शतपथ ब्राह्मण में सरस्वती को स्पष्टतः वाग्देवता के रूप में पाते हैं - "वाग्वै सरस्वती (३, ९, १, ७), (स्वराट्) मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वती" (श० ब्रा० ७, ५, १, ३१) "जिह्वा सरस्वती" (श० ब्रा० १२, ९, १, १४) "वागेव सरस्वती" (ऐतरेय ब्राह्मण २, २४)।

देवीभागवत पुराण (९,८,२) में सरस्वती नदी को शब्दतः वाग्देवता के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है—

"सरस्वती पुण्यक्षेत्रमाजगाम च भारते।
गङ्गाशापेन कलया स्वयं तस्थौ हरेः पदे॥
भारती भारतं गत्वा ब्राह्मी च ब्रह्मणः प्रिया।
वाण्यधिष्ठातृदेवी सा तेन वाणी प्रकीर्तिता॥"

विष्णु की पत्नियों—गंगा तथा सरस्वती को परस्पर शाप के कारण भारत में नदी होकर आना पड़ा। ब्रह्मप्रिया होने के फलस्वरूप सरस्वती को ब्राह्मी—वाग्देवता कहा गया। सृष्टिविधान में पाँच प्रकार की प्रकृतियों में से एक प्रकृति सरस्वती भी है (दे० भा० ९. ४. ४)।

"गणेशजननी दुर्गा राधा लक्ष्मी सरस्वती।
सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता॥"

सृष्टि के आदि में विद्यमान देवी प्रकृति नाम से संबोधित होती है (दे० भा० ९. १. ८)—

"प्रथमं वर्तते प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टेरादौ च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥"

इसी प्रकृति को शक्ति रूप में दैत्य दानव तक पूजते थे, क्योंकि शक्ति सामर्थ्य अथवा बल के न रहने पर सभी असमर्थ हो जाते हैं। इकार शक्ति के न रहने पर भी शिव शव बन जाते हैं (दे० भा० १.८.३१)—

"शिवोऽसि शवतां याति कुण्डल्यादिविवर्जितः।
शक्तिहीनस्तु यः कश्चिदसमर्थः स्मृतो बुधैः॥"

लक्ष्मी समुद्र पुत्र जालंधर राक्षस की बहन थी। पत्नी के प्रेम के कारण विष्णु ने जालंधर का विनाश नहीं किया। इसके विपरीत उसके घर में ही रहना प्रारंभ कर दिया (पद्मपुराण ६. ८. ७८)—

"प्रेम्णा प्रियस्तं न जघान दानवम्।
स्वयं हरिस्तस्य शरैः पपात॥
अब्धौ वसति देवेशांलक्ष्म्याः प्रियचिकीर्षया॥"
—पद्मपुराण ६.८.८३।

सरस्वती लक्ष्मी की बहिन (सपत्नी) मानी गयी हैं (दे० भा० ९. ६. १७)। पुराणों में दुर्गा, पार्वती, सरस्वती इत्यादि भेद एक ही शक्ति के स्वरूप बताये गये हैं।

गायत्री का एक नाम सरस्वती भी है। अरुण दैत्य गायत्री की उपासना के बल पर अविजेय हो गया था। "हमारी आराध्य देवी की पूजा तुम करते हो!" बृहस्पति के इस प्रकार कहने पर अरुण ने अहंकार में आकर गायत्री की उपासना छोड़ दी। फलतः उसके निस्तेज होने पर इन्द्र ने उसे परास्त कर दिया (दे० भा० १०. १३. ७७)। इन्हीं सरस्वती की हिमालय के उत्तर में प्रतिष्ठापना की गई थी (दे० भा० १२. ३. ११)।

महाचीनक्रमाचार तन्त्र में शाक्त रीति का पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। इस तंत्र में भगवान् बुद्ध को विष्णुरूप में प्रदर्शित किया गया है। "बुद्ध उवाच" वाक्य वहाँ स्पष्टतः मिलता है। तब प्रश्न होता है—क्या बौद्ध धर्म के पूर्व चीन में नील सरस्वती का सिद्ध स्थान नहीं था? उत्तर

है—अवश्य था। तारा का पर्यायवाची "श्री" शब्द है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि "श्री" बुद्ध की पश्चाद्वर्तिनी देवी है। शीतप्रधान देश में जाकर बौद्ध धर्मानुयायियों को भी तदनुरूप शाक्त हो जाना पड़ा। जैसा देश वैसा वेष। यहीं से बौद्ध धर्म में मोड़ आया। तिब्बत आदि के बौद्ध-धर्मानुयायी "अहिंसा परमो धर्म:" का नारा लगाने के साथ ही साथ मांस भक्षण इत्यादि को हेय नहीं समझते। महाचीनक्रमाचार तंत्र "देव्युवाच" और "शिव उवाच" से प्रारम्भ होता है। मध्य में "विष्णु उवाच" के स्थान पर "बुद्ध उवाच" प्राप्त होता है। वहाँ इस प्रकार के शब्द प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं। बौद्ध धर्मानुयायियों का अपने में शाक्त सम्प्रदाय को खपा लेने का यह बौद्धिक प्रयास तर्कणीय है।

द्वितीय विद्या तारा की वाचक नीलसरस्वती वाग्देवता ही है (तन्त्रसार)—

"तारावा पञ्चवर्णेयं श्रीमन्नीलसरस्वती।
सर्वभाषामयी शुद्धा सर्वदेवैर्नमस्कृता।"

तन्त्रसार में नीलसरस्वती की व्युत्पत्ति यों दी गई है—

"नीला च वाक्प्रदा चेति तेन नीलसरस्वती"

वाग्देवता सरस्वती शतपथ इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध है। ऋग्वेद संहिता में तो इसका बुद्धियों के साथ संकेत किया गया है। वैदिक वाङ्मय की वाग्देवता यही सरस्वती तन्त्र आदि वाङ्मय का स्रोत है।

वाग्देवता सरस्वती को काण्व शाखोक्त सपर्या इत्यादि में शुक्लवर्ण बताया गया है (ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्र० खं० ३, ५३, ५४, ५६)—

"आविर्बभूव तत्पश्चान्मुखतः परमात्मनः।
एका देवी शुक्लवर्णा वीणापुस्तकधारिणी।५३।
कोटिपूर्णेन्दुशोभाढ्या शरत्पंकजलोचना।५४।
वागधिष्ठातृ देवी सा कवीनामिष्टदेवता।
शुद्धसत्त्वस्वरूपा च शान्तरूपा सरस्वती।।५६।।"

मननीय है कि यह स्वरूप शारदा सरस्वती का है। शारद काल में होने के कारण शारदा कहते हैं। वर्ष का वह उदयकाल है। फलतः शुभ्र है। वसन्त वर्ष का सायंकाल है। सायं गायत्री का अपर रूप सन्ध्या-देवता श्यामवर्णा सरस्वती विदित है (दे० भा० ११. २०. ३६)—

"ध्यानं प्रकुर्यात् सन्ध्यायां सायंकाले विचक्षणः।
वृद्धां सरस्वतीं देवीं कृष्णांगीं कृष्णवाससम्।।"

यह पीताम्बरधरा रूप में भी वर्णित है (दे०भा० ११. २०. ४०)—

"पीताम्बरधरां देवीं सच्चिदानन्दरूपिणीम्।"

यही पीताम्बरधरा श्यामसरस्वती श्रीपञ्चमी अथवा वसन्तपंचमी की उपास्य देवता हैं। इन्हीं का सिद्ध स्थान चीन है जिसे हम भारत-वासियों ने चिरकाल से भुला रखा है।

गोपथ ब्राह्मण (उ० १. १२) में सरस्वती को अमावस्या कहा गया है। अमावस्या कृष्णपक्ष में होने के कारण श्याम (नील) होती है—

"अमावास्या वै सरस्वती।"

अश्विन् और सरस्वती ने फेन को वज्र के रूप में सींचा। वह न शुष्क था न आर्द्र। इन्द्र ने उससे सन्ध्या वेला में (जब न निशा थी, न दिन तब नमुचि का सिर उड़ा दिया (श० ब्र०१२.७.३. १-३) फलतः तब से सन्ध्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की प्रसिद्धि श्याम सरस्वती के रूप में हो गई।

श्याम सरस्वती के सिद्ध स्थान चीन का अपर नाम "नीलरम्यक" भी उपलब्ध होता है (लिङ्गपुराण पूर्वार्द्ध ४९. ९)—

"इलावृतात् परं नीलं रम्यकं नाम विश्रुतम्"।

इलावृत (तिब्बत) पर "नीलरम्यक" वर्ष है। सुनील तथा श्वेत पर्वतों के मध्य में रम्यक वर्ष अवस्थित है (स्कन्द पुराण १.३७.५४)—

"सुनीलश्वेतयोर्मध्ये खण्डमाहुश्च रम्यकम्"।

सुपार्श्व पर्वत तिब्बत के उत्तर में है (कूर्मपुराण पूर्वार्द्ध ४५. १४. १५. १६)—

"इलावृत्तं महाभागाश्चत्वारस्तत्र पर्वताः।
पूर्वेण मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादनः॥
विपुलः पश्चिमे भागे सुपार्श्वश्चोत्तरः स्मृतः॥"

इसी सुपार्श्व पर्वत के बगल में स्थित नीलपर्वत (कू० पु० पू० ४५. ९) पर सरस्वती विराजमान हैं (कूर्म पुराण पूर्वार्द्ध ४७. २१)—

"सुपार्श्वस्योत्तरे भागे सरस्वत्याः पुरोत्तमम्"

नीलरम्य वर्ष से पर श्वेत (हिरण्मय) पर्वत है (लिङ्गपुराण पूर्वा० ४९, १०)।

"रम्यात् परतरं श्वेतं विख्यातं तद्धिरण्मयम्"

श्वेतपर्वत दैत्य दानवों का स्थान है (लिङ्गपुराण पू० ५२. ४७)—

"दैत्यानां दानवानां च श्वेतः पर्वत उच्यते"

इस श्वेत (हिरण्मय) से भी पर शृंगी और कुरुवर्ष दक्षिणोत्तर भाग में धनुराकार विद्यमान हैं (लिङ्ग पुराण पू० ४९. १०)—

हिरण्मयात् परं चापि शृङ्गी चैव कुरुः स्मृतः।
धनुःसंस्थे तु विज्ञेये द्वे वर्षे दक्षिणोत्तरे॥

यह कुरु=कुरुवर्ष (लिङ्गपुराण पू० ५२.१९) > (कुलोप) > रूवर्ष > रूष-रूस है। निष्कर्षतः "नीलरम्यक" (चीन का नामान्तर) विशाल देश है। उसमें (दक्षिण उत्तर आदि) चीन, प्रदेश सदृश हैं। अतः "चीन" शब्द में बहुवचन जोड़ा जाता है—"चीनेषु"। जिस प्रकार भारत के "अंग" "वंग" "कलिंग" इत्यादि प्रदेश रूप—भागों में बहुवचनान्त प्रयोग होता है—"अङ्गेषु" "वङ्गेषु" "कलिङ्गेषु" उस प्रकार भारत में नहीं होता। किन्तु "भारते वर्षे" एकवचन होता है। केवल कूर्मपुराण (पूर्वार्द्ध ४७. २१) बहुवचन मिलता है। उसे प्रदेशपरक समझना चाहिए।

इस नीलरम्यक देश का मर्यादा (सीमा) पर्वत नील पर्वत है—"नीलस्तथोत्तरे मेरोः" (लिङ्गपुराण पूर्वार्द्ध ४९.३)। श्याम सरस्वती का सिद्धस्थान होने के कारण इस पर्वत का नामकरण "नील" हुआ और देश का नाम "नीलरम्यक"। यद्यपि "तत्रत्या पृथिवी सर्वदेवी रूपा स्मृता बुधैः" (दे० भा० ७. ३८. १८) के अनुसार नीलरम्यक (चीन) की सम्पूर्ण भूमि देवीरूपा होने के कारण हमारी प्रापणीय है, अधिकरणीय है, तथापि अभिव्याप्तिपूर्वक सीमा निर्णय के अनुसार उक्त सीमा पर्वत तो भारत का है ही। वह हमारी वसन्त एवं सायं सन्ध्या की उपास्य देवता सरस्वती का सिद्धस्थान है।

शाक्त-महापीठ

श्री राजेन्द्रप्रसाद भट्ट 'नागेश'

'आराध्या परमा शक्तिर्यया सर्वमिदं ततम् ।'[1]

संसार के समस्त धर्मों में पुरातनकाल से ही कुछ विशिष्ट स्थलों की पवित्रता एवं आध्यात्मिकता के कारण तत्-तत् धर्मावलम्बियों के लिये तत्-तत् स्थलों की यात्रा-विधान के साथ ही इनमें प्रतिष्ठापित अधिष्ठातृ देवी-देवताओं की आराधना हेतु धार्मिक व्यवस्था बतलाई गई है। भारतवर्ष में भी ऐसे धार्मिक स्थलों का उसके इतिहास में प्राचीनकाल से ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यही कारण है कि ये स्थल जहाँ एक ओर अपने अलौकिक सामर्थ्य के कारण यहाँ की धर्मपरायण जनता के लिये विशेषरूप से आकर्षण के केन्द्र रहे हैं तथा जिनके अनुकूल आचरण से उसे अभीष्ट प्राप्ति एवं लोकोत्तर शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति होती रही है, वहाँ दूसरी ओर ये स्थल भारतीय संस्कृति एवं देश की मौलिक एकता की भावना का संवर्धन भी करते रहे हैं। भारत में ऐसे स्थल सामान्यतः तीर्थ, धाम अथवा पीठ के नाम से जाने जाते हैं।

देवोपासना की भाँति शक्ति की आराधना के मार्ग की भी सम्पूर्ण भारत में प्राचीनकाल से ही परम्परा रही है और जो निरन्तर सुदृढ़ होती गई। इसी परम्परा के फलस्वरूप आज के इस अनास्था के भौतिक युग में भी भारत में अनेक ऐसे शाक्त-महापीठ हैं जहाँ शाक्त-गण नित्य महाशक्ति की आराधना किया करते हैं। यहाँ शाक्त-महापीठ से तात्पर्य शक्ति के उपासकों की आराधना के उन प्रमुख स्थलों से है जहाँ विष्णुचक्र से कटकर दक्ष-सुता सती के अङ्ग-प्रत्यङ्ग या आभूषण गिरे थे और जहाँ आदिशक्ति जगज्जननी जगदम्बा गुणक्रिया भेद से विभिन्न रूपों में प्रकट होकर अपनी असीम अनुकम्पा से भक्तजनों को सदा से कृतार्थ करती आ रही हैं। ये शाक्त-पीठ समस्त भारत के विभिन्न भागों में स्थित हैं। इनकी संख्या भिन्न-भिन्न पुराणों एवं तन्त्र ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न मिलती है।[2] इनमें भी इक्यावन शाक्त-महापीठ विशेष प्रसिद्ध माने जाते हैं।

शाक्त-महापीठों के उद्भव के सम्बन्ध में ऐसी पौराणिक ख्याति है कि सत्ययुग में एक समय प्रजापति दक्ष ने वृहस्पति नामक यज्ञ का आरम्भ किया जिसमें शिवजी व अपनी कन्या सती को छोड़कर दक्ष ने सभी देवगणों को आमन्त्रित किया। पित्रालय में यज्ञ समारोह की बात सुनकर बिना निमन्त्रण के ही शिवजी से विशेष आग्रह के बाद अनुमति पाकर सती पितृगृह पहुँची, किन्तु दक्ष ने फिर भी सती का कोई आदर नहीं किया वल्कि क्रोध में आकर शिवजी की निन्दा करने लगा। तब पितृमुख से पति की निन्दा सुनकर सती अत्यधिक क्रुद्ध हुई और सोचने लगी कि मैं यज्ञ सहित पिता का विनाश कर सकती हूँ किन्तु पितृहत्या पाप के भय से सती ने तत्काल अपने योगबल से अपनी देह में ही एक छायासती की प्राण-प्रतिष्ठा कर उस छायासती से यज्ञ सहित दक्ष को विनाश करने को कहकर स्वयं अन्तर्धान हो गई। तदनन्तर छायासती भी दक्ष-मुख से शिवजी की निन्दा सुनकर अति क्रोधित हुई और देह का परित्याग कर चित्तकला रूप से यज्ञ की अग्नि में प्रविष्ट हो गई। छायासती की क्रोधाग्नि से देवी भद्रकाली की उत्पत्ति हुई।

इसके पश्चात् नारदमुख से सती की मृत्यु का वृतान्त सुनते ही शिवजी व्याकुल हो उठे। उन्होंने रौद्ररूप धारण कर, दक्ष के यहाँ पहुँचकर देवी भद्रकाली एवं वीरभद्र आदि श्रेष्ठ परिजन सहित दक्ष को मार उसके यज्ञ का विध्वंस कर दिया। तत्पश्चात् सती की मृतदेह को स्कन्ध पर धारण कर शिवजी उद्धतभाव से पृथ्वी पर चारों ओर घूमने लगे जिससे सारा ब्रह्माण्ड डाँवाडोल हो उठा और विश्व में एक विचित्र स्थिति पैदा हो गई। ऐसी स्थिति को देख भगवान विष्णु ने शिवजी को स्थिर करने के लिये अपने सुदर्शन चक्र से सती के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को काट डाला। फलतः सती के शरीरावयव एवं आभूषण भूमि पर जहाँ-जहाँ गिरे, वहाँ-वहाँ शाक्त-सम्प्रदाय के अति पूज्य सिद्धस्थल शाक्त-महापीठों की प्रतिष्ठापना हुई। इनमें एक-एक भैरव और एक-एक शक्ति भक्तजनों के उद्धार हेतु व साधकों की सिद्धि निमित्त नाना प्रकार की पाषाणमयी मूर्ति धारण कर अव-स्थान करती हैं।[1] इन शाक्त-महापीठों के नाम इस प्रकार हैं—१—कामरूप पीठ, २—काशिका पीठ, ३—नैपालपीठ, ४—महत्पीठ, ५—काश्मीरपीठ, ६—कान्यकुब्जपीठ, ७—पूर्णगिरिपीठ, ८—अर्बुदा-चलपीठ, ९—एकाम्रपीठ, १०—आम्रातकेश्वरपीठ, ११—त्रिस्रोतपीठ, १२—कामकोटिपीठ, १३—कैलाशपीठ, १४—भृगुपीठ, १५—केदार-पीठ, १६—चन्द्रपुरपीठ, १७—श्रीपीठ, १८—ज्योतिष्मतीपीठ, १९—ज्वालामुखीपीठ, २०—मालवपीठ, २१—कुलान्तकपीठ २२—

१. देवीभागवत ३।९।३३।

२. दृष्टव्य; चक्रेश्वर भट्टाचार्य प्रणीत 'शाक्त-दर्शन'; पृ० २३३-३६।

१. "यत्र-यत्र महादेव्या अङ्गप्रत्यङ्गपातनम्।
महाविष्णुश्चक्रपाणिश्चकार धरणीतले ॥
तत्र-तत्र जगद्धात्री ब्रह्मज्योतिः स्वरूपिणी।
पाषाणं रूपमास्थाय भक्तानां मुक्तिहेतवे ॥"
—योगिनीतन्त्र, एकादश पटल।

कोट्टकपीठ, २३—गोकर्णपीठ, २४—मातुरेश्वरपीठ, २५—अट्टहासपीठ, २६—विरजपीठ, २७—राजगृहपीठ, २८—महापथपीठ, २९—कौलगिरिपीठ, ३०—एलारपुरपीठ, ३१—कालेश्वरपीठ, ३२—जयन्तीपीठ, ३३—उज्जयिनीपीठ, ३४—योगिनीपीठ, ३५—क्षीरिकापीठ ३६—हस्तिनापुरपीठ, ३७—उड्डीशपीठ, ३८—प्रयागपीठ, ३९—षष्ठीशपीठ, ४०—मायापुरपीठ, ४१—मलयपीठ, ४२—श्रीशैलपीठ ४३—मेरुपीठ, ४४—गिरिपीठ, ४५—माहेन्द्रपीठ, ४६—वामनपीठ, ४७—हिरण्यपुरपीठ, ४८—महालक्ष्मीपीठ, ४९—अत्रिपीठ, ५०—छायापीठ, ५१—क्षत्रपीठ।[1]

किस-किस स्थान पर सती-देह का कौन-कौन अङ्ग व आभूषण गिरे थे तथा कौन-कौन भैरव एवं महाशक्ति वहाँ निवास करती है। इस सम्बन्ध में इक्यावन शाक्त-महापीठों का जो पूरा-पूरा उल्लेख 'तन्त्रचूड़ामणि' में मिलता है उसके आधार पर यह तालिका प्रस्तुत है, जिसमें अलग से अधिकांश के वर्तमान स्थल-संकेत देने का भी प्रयास किया गया है।

स्थान नाम	नाम (अङ्ग या आभूषण)	शक्ति	भैरव
१—हिङ्गुला (बलूचिस्तान में हिङ्गलाज)	ब्रह्मरन्ध्र	कोट्टवीशा	भीमलोचन
२—शर्करार (सिन्ध प्रदेश के शक्कर नगर में)	तीनो चक्षु	महिषमर्दिनी	क्रोधीश
३—सुगन्धा (पूर्वी बंगाल के शिकारपुर गाँव में)	नासिका	सुनंदा	त्र्यंबक
४—काश्मीर (श्रीनगर के समीप उत्तर में या अमरनाथ गुफा के पास)	कण्ठदेश	महामाया	त्रिसंध्येश्वर
५—ज्वालंधर (हिमालय के त्रिगर्त्त क्षेत्र में)	वामस्तन	त्रिपुरमालिनी	भीषण
६—ज्वालामुखी (पंजाब के कांगड़ा प्रान्त में)	महाजिह्वा	सिद्धिदा अम्बिका	उन्मत्तभैरव
७—वैद्यनाथ (वैद्यनाथ धाम में श्री वैद्यनाथ मंदिर में ही)	हृदय	जयदुर्गा	वैद्यनाथ
८—नैपाल (पशुपतिनाथ मन्दिर के पृष्ठ भाग में)	जानु	महामाया	कपाली
९—मानस (मानसरोवर के किनारे)	अर्द्धदक्षिणहस्त	दाक्षायणी	अमर
१०—विरजाक्षेत्र (उत्कल के पुरी क्षेत्र में)	नाभिदेश	विमला	जगन्नाथ
११—गंडकी (नैपाल में गण्डकी उद्गम के समीप)	गंडस्थल	गंडकी	चक्रपाणि
१२—बहुला	वामबाहु	बहुलादेवी	भीरुक
१३—उज्ययिनी (उज्जैन में रुद्रसागर के समीप)	कूर्पर	मंगलचण्डिका	कपिलांबर
१४—त्रिपुरा (त्रिपुरा प्रदेश के राधाकिशोरपुर में)	दक्षिणपद	त्रिपुरसुन्दरी	त्रिपुरेश
१५—चट्टल (चटगाँव के समीप चन्द्रनाथ पर्वत पर)	दक्षिणबाहु	भवानी	चन्द्रशेखर
१६—त्रिस्तोता (बंगाल में तिस्तानदी के तट पर)	वामपद	वामपद	भैरवेश्वर
१७ कामगिरि (गोहाटी के समीप नीलपर्वत पर)	योनिदेश	कामाख्या	उमानंद
१८—प्रयाग (अलोपीदेवी का स्थान व ललितादेवी के दो मन्दिरों में से)	हस्ताङ्गुलि	ललिता	भव
१९—जयंती (श्रीहट्ट प्रदेश में जयन्तीया पर्वत पर)	वामजंघा	जयंती	क्रमदीश्वर
२०—युगाद्या (बर्द्धमान स्टेशन से कुछ दूर कटियार के समीप)	दक्षिणांगुष्ठ	भूतधात्री	क्षीरखंडक
२१—कालीपीठ (कालीघाट, कलकत्ता)	दक्षिणपादांगुलि	कालिका	नकुलीश
२२—किरीट (मुर्शिदाबाद के किरीट कोना ग्राम में)	किरीट	विमला	संवर्त्त
२३—वाराणसी (मणिकर्णिका के समीप मीरघाट स्थित विशालाक्षी देवी का मंदिर, वाराणसी)	कर्णकुण्डल	विशालाक्षी	कालभैरव
२४—कन्याश्रम (महाभारत के वनपर्व में मात्र उल्लेख)	पृष्ठ	सर्वाणी	निमिष
२५—कुरुक्षेत्र (कुरुक्षेत्र के समीप द्वैपायनहृद के किनारे)	गुल्फ	सावित्री	स्थाणु
२६—मणिबंध (अजमेर से कुछ दूर पुष्करतीर्थ में)	दा. मणिबंध	गायत्री	सर्वानंद
२७—श्रीशैल (दक्षिण भारत में श्रीपर्वत पर)	ग्रीवा	महालक्ष्मी	शंबरानंद
२८—काञ्ची (काञ्चीपीठ या काञ्चीवरम्)	अस्थि	देवगर्भा	रुरु
२९—कालमाधव	नितम्ब	काली	असिताङ्ग
३०—शोणदेश (नर्मदा तट पर स्थित होने का उल्लेखमात्र)	नितंबक	नर्मदा	भद्रसेन

---

१. उद्धृत, कल्याण, तीर्थ विशेषांक, जनवरी १९५७ में पू० अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज के 'शक्तिपीठ रहस्य' नामक लेख से।

स्थान	नाम	शक्ति	भैरव
३१—रामगिरि (मध्यप्रदेश के विलासपुर के समीप पर्वत पर)	दक्षिण स्तन	शिवानी	चण्डभैरव
३२—वृन्दावन (वृन्दावन में केशिघाट के समीप)	केशपाश	उमा	भूतेश
३३—शुचि संभवतः कन्याकुमारी से कुछ दूर शुचीन्द्रम् में	ऊर्ध्वदंत	नारायणी	संहार
३४—पंचसागर (किन्हीं के मत में हरिद्वार के समीप पचकुंड)	अधोदंत	वाराही	महारुद्र
३५—करतोयातट (बंगाल में भवानीपुर में)	तल्प	अपर्णा	वामनभैरव
३६—श्रीपर्वत (कृष्णा व तुङ्गभद्रा के संगम पर)	दक्षिण गुल्फ	श्रीसुन्दरी	सुन्दरानंद भैरव
३७—प्रभास (दक्षिणभारत के जूनागढ़ प्रान्त में)	उदर	चन्द्रभागा	वक्रतुंड
३८—विभास (मेदिनीपुर के तुमलुक स्थान में)	वामगुल्फ	कपालिनी	महादेव
३९—भैरव पर्वत (क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित)	ऊर्ध्वोष्ठ	अवंती	लंबकर्ण
४०—जनस्थल (नासिक पंचवटी में भद्रकाली मंदिर)	दोनों चिबुक	भ्रामरी	विकृताक्ष
४१—सर्वशैल (गोदावरी के तट स्थित)	वामगण्ड	राकिणी	वत्सनाभ
४२—गोदावरी तीर (दक्षिण भारत में गोदावरी के तट पर)	गण्ड	विश्वेशी	दंडपाणि
४३—रत्नावली (सम्भवतः हुगली प्रदेश में)	दक्षिण स्कन्ध	कुमारी	शिव
४४—मिथिला (नेपाल में जनकपुर रोड के सन्निकट)	वामस्कन्ध	उमा	महोदर
४५—नलहाटी (बंगाल के वीरभूमि प्रदेशान्तर्गत)	नला	कालिकादेवी	योगेश
४६—कर्णाट	कर्ण	जयदुर्गा	अभीरू
४७—वक्रेश्वर (वीरभूमि प्रदेशान्तर्गत दुबराजपुर के समीप)	मन	महिषमर्दिनी	बक्रनाथ
४८—यशोर (पूर्वी बंगाल खुलना मण्डलान्तर्गत)	पाणिपद्म	यशोरेश्वरी	चण्ड
४९—अट्टहास (अहमदपुर कटवा लाइन में लाभपुर के पास)	ओष्ठ	फुल्लरा	विश्वेश
५०—नंदिपुर (वीरभूमि प्रदेशान्तर्गत)	कण्ठहार	नंदिनी	नंदकेश्वर
५१—लंका	नूपुर	इन्द्राक्षी	राक्षसेश्वर
विराट (राजस्थान के भरतपुरमण्डलान्तर्गत)	पादाङ्गुलि	अम्बिका	अमृत
मगध (पटना में बड़ी पटनेश्वरी देवी का मन्दिर)	दक्षिणजंघा	सर्वानन्दकरी	व्योमकेश

इनमें से कई एक के वर्तमान स्थल सम्बन्धी मतभेद भी पाया जाता है तथा अन्तिम शेष दो पीठों का उल्लेख कहीं-कहीं ही मिलता है। इक्यावन शाक्तमहापीठों का ही वर्णन अनेक ग्रन्थों में आया है। 'शिवचरित में पीठसंख्या सतहत्तर बतलायी गयी है जिनमें छब्बीस उपपीठ हैं। इसके अतिरिक्त 'देवी भागवत' में एक सौ आठ पीठों का उल्लेख किया गया है किन्तु इसमें महर्षि वेदव्यास ने जनमेजय के प्रश्नानुसार केवल पीठ स्थान एवं तदधिष्ठात्री शक्ति का नामोल्लेख भर किया है—अङ्ग, आभूषण व भैरव का नहीं। इसके अतिरिक्त विभिन्न ग्रन्थों में कहीं-कहीं तो इन पीठों की नाम सम्बन्धी एकरूपता में भी भिन्नता पाई जाती है।

शाक्तमहापीठों के सन्दर्भ में सामान्यतः कुछ बातें उल्लेखनीय हैं जैसे—सती के कटिभाग से ऊपर के भाग जहाँ गिरे वे पीठ दक्षिणमार्ग की उपासना के लिये और जहाँ कटि से नीचे के भाग गिरे वे वाममार्ग की उपासना में विशेष फलप्रद माने जाते हैं। यदि पीठ की शक्ति व भैरव को जाने बिना कोई चाहे कितना ही जपादि कर्म क्यों न करे फिर भी उसका सारा प्रयास निष्फल चला जाता है। इसी प्रकार पीठ के देवताओं के अतिरिक्त अन्य देवता का पूजन तथा क्षेत्रीय देवता की पूजा किए बिना पीठ स्थित देवता का भी पूजन पीठ स्थित भैरव अपहरण कर लेते हैं।[1] वैसे तो समस्त महापीठों का अपना अलग-अलग वैशिष्ट्य है किन्तु उनमें भी कामरूप महापीठ श्रेष्ठतम पीठ के रूप में प्रख्यात है जहाँ शिवजी के सहित महाशक्ति साक्षात् भाव से निवास करती है।[2]

इसके अतिरिक्त शाक्तागम सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों में आध्यात्मिक साधना के दृष्टिकोण से देवी के इन इक्यावन महापीठों का गम्भीर

---

१. "अज्ञात्वा भैरवं पीठंपीठशक्तिञ्च शङ्कर।
प्राणनाथ न सिध्येत्तु कल्पकोटिजपादिभिः॥
क्षेत्राधिपं विना देव पूजयेत् पीठदेवताम्।
भैरवैर्ह्रियते सर्वं जपपूजादिसाधनम्॥"
—तन्त्रचूड़ामणि, सरस्वती भवन, हस्तलिखित ग्रंथ सं० २४६६७।

२. "देवीक्षेत्रं कामरूपं विद्यतेऽन्यत्रतत्समम्।
अन्यत्र विरलादेवी कामरूपे गृहे-गृहे॥"
—कालिकापुराण ५८।४१।

"कामरूपं महातीर्थं गुह्याद् गुह्यतरं परम्।
सदा सन्निहितस्तत्र पार्वत्या सह शङ्करः॥"
—योगिनीतन्त्र, एकादश पटल।

रहस्य भी वर्णित है जिसके अनुसार मनुष्य शरीर के विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों में तथा शरीर के अन्तर्वर्ति विभिन्न चक्रों व पद्मों में शिव एवं शक्ति के समस्त इक्यावन पीठ विद्यमान हैं, जिस प्रकार बाह्य-जगत् में इक्यावन पीठों में पराशक्ति विभिन्न रूपों में विराजमान है ठीक उसी प्रकार वह मनुष्य शरीर में पादादि-शीर्ष पर्यन्त आभ्यन्तर स्थित अनेक पीठों में भी नित्य विराजमान है। फलतः अन्तर्मुखी साधक बाह्य-जगत् में स्थित पीठों में नहीं बल्कि शरीराभ्यन्तर स्थित पीठों में ही चिन्मय भाव से अपनी आराध्या शक्ति की साधना करते हैं। शरीर में साधक को कहाँ-कहाँ किस नाम के देवीपीठ की भावना करनी चाहिए, इस सम्बन्ध में 'रुद्रयामलतंत्र' में समस्त इक्यावन शाक्त महापीठों का विशेषतापूर्वक उल्लेख किया गया है। उदाहरणस्वरूप शरीरस्थित कतिपय प्रधान पीठों की स्थिति का 'बृहत्तंत्रसारग्रन्थ' में वर्णन करते हुए इस प्रकार कहा गया है—

"मूलाधारे कामरूपं हृदि ज्वालन्धरं तथा।
ललाटे पूर्णगिर्याख्यम् उड्डीयानं तदूर्द्धके ॥
वाराणसीं भ्रुवोर्मध्ये ज्वलन्तीं लोचनत्रये।
मायावतीं मुखवृत्ते कण्ठे मधुपुरी ततः ॥
अयोध्यां नाभिदेशे च कट्यां काञ्ची विनिर्दिशेत्।
दशैतानि प्रधानानि पीठानि क्रमतो विदुः ॥"[1]

शाक्त आगमोक्त साधना पद्धति की दृष्टि से शरीर स्थित इन महापीठों के सन्दर्भ में मातृकान्यास का भी विशेष महत्व है क्योंकि शाक्तागम की मान्यता के अनुसार मूलाधारादि स्थित कामरूपादि इक्यावन देवीपीठ मातृकावर्ण रूप हैं और पराशक्ति मातृकावर्ण रूपिणी है।[2] इक्यावन मातृकावर्ण के विषय में आगमशास्त्र की अपनी मान्यता है कि "अखिल ब्रह्माण्ड और तत्कृतीभूत पिण्डाण्ड यह मानव शरीर शब्द ब्रह्म की कृति अथवा सृष्टि है। मानवशरीर में यह 'ॐ'ङ्कार मयी शब्दब्रह्म 'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' और 'वैखरी' के रूप में चार प्रकार से अवस्थित है। इनमें से 'परा' व 'पश्यन्ती' की स्थिति अव्यक्त रूप है। मध्यमा की सत्ता में यह शब्द ब्रह्म मातृका रूप में मूलाधारादि षट्चक्रदलों के ऊपर व्यक्त होता है तथा वैखरी की अवस्था में वह व्यक्त मातृक से जन्य वर्णरूप से स्थूलता को प्राप्त

१—शाक्त दर्शन, पृ० ३१४।
२—"एते पीठा समुद्दिष्टा मातृकारूपमास्थिताः।"
योगिनीहृदयतन्त्र, ३।४३।
"पीठानि चैकपञ्चाशत्कामरूपादिकानि च।
अकारादि क्षकारान्त-वर्णरूपाणि जज्ञिरे ॥"
—शाक्तदर्शन, पृ० ३१५।
"एकपञ्चाशन्मातृकावर्णा एव रूपमस्या इति।"
—'ललितासहस्रनाम' ९।२०८ पर भास्करराय की टीका से।

व्यक्त शब्द ही कर्णगोचर होता है।"[1] इसीलिये शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वरूप इस वर्ण समूह के सम्बन्ध में 'अक्षर' (जिसका कभी क्षय न हो) की उक्ति सब प्रकार से उत्तमोत्तम कही गई है।

अतः शाक्तागम में 'मातृकान्यास' की दृष्टि से अकारादि सोलह स्वर-वर्ण, कादि से क्षकार पर्यन्त चौंतीस व्यंजनवर्ण तथा मूलकारणीभूत शब्द ब्रह्म 'ॐ' को लेकर जो इक्यावन मातृकावर्ण कहे जाते हैं, वे ही इक्यावन देवीमयी देवीपीठ हैं और जो कि मूलाधारादि षट्चक्रों के एक-एक दल के ऊपर विराजमान हैं। इस सम्बन्ध में शाक्तागम का विधान है कि प्रकृत 'मातृकान्यास' के गूढ़ रहस्य को समझकर उसके भली-भाँति प्रयोग से साधक अपनी देह के भीतर और बाहर मूलादि से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त विभिन्न स्थानों में मातृकावर्ण समूह की स्थापना कर अपने अस्तित्व को मन्त्रमयी एवं देवीमयी समझकर चिदात्मिका रूप देवी का ध्यान करे[2]। देवीभागवत में मातृकान्यास के फल के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो साधक प्रतिदिन नियम से इस प्रकार का योगाभ्यास करता है, वह निसन्देह जरा-मरणादि दुःखों से व सांसारिक बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर देवी गुणोंवाला हो जाता है[3]।

इस प्रकार अनादिकाल से ब्राह्यजगत् में स्थूल रूप में अवस्थित ये महापीठ जहाँ भक्तगणों एवं साधकों के लिये शक्ति की आराधना के प्रमुख स्थल रहे हैं, वहाँ शब्दब्रह्म से उद्भूत विश्वब्रह्माण्ड के पिण्डाण्ड स्वरूप मानव शरीर में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से इनके अस्तित्व की यथार्थ परिकल्पना कर उच्चकोटि के साधकों द्वारा अभीष्ट सिद्धि के निमित्त परमरहस्यमी एवं सारयुक्त साधना के श्रेयस्कर मार्ग को भी प्रशस्त किया गया है, जिसका उचित रूप से अनुसरण करने से साधक को लोकोत्तर चमत्कार की सहज रूपेण प्रत्यक्षानुभूति हो जाया करती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी विश्वास के साथ शाक्त महापीठ सम्बन्धी प्रकृत विवेचन के अन्त में सकललोककल्याणनिमित्त, अनन्त-शय्याविलसनशील, त्रिगुणातीत, सच्चिदानन्द निराकार ब्रह्म को साकार रूप प्रदान करने वाली, अद्भुतलीलामयी, जिसकी सत्ता संसारके सम्पूर्ण पदार्थों में चेतना रूप से सर्वत्र विराजमान है, उस महामहिमशाली महा-शक्ति के वास्तविक स्वरूप का हम सबको इस प्रकार से स्मरण करना चाहिए—

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमये नारायणी नमोऽस्तु ते ॥

१—शाक्त-दर्शन, पृ० ३१५-१६।
२—"मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं ध्यायेद्देवीं चिदात्मिकाम्।
बिन्दुश्रुतसुधासारैस्तर्पयन् मातृकां न्यसेत् ॥"
—शाक्तदर्शन, पृ० ३१६।
३—द्रष्टव्य; देवीभागवत ७।३५।५२-५४।

पाञ्चरात्रागमिक अन्तर्याग

डॉ० राघव प्रसाद चौधरी

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का मूल उत्स तथा आधार जिस प्रकार निगम रहा है उसी तरह आगम भी। वराही तन्त्र में आगम का लक्षण अधोलिखित कहा है—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट् कर्म साधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥

इस लक्षण का विवक्त् विश्लेषण करने पर सामान्यतः हम देखते हैं कि आगम शास्त्र मुख्यरूप से आचारपरक विषयों का प्रतिपादन करता है। वैष्णव तथा शैवादि आगमों के उपलब्ध साहित्य के अध्ययन से सरलता पूर्वक ज्ञात होता है कि इन आगमों के प्रधान प्रतिपाद्य विषय देवतार्चन तथा तदङ्गभूत अन्यान्य अनेक विषय हैं।

पाद्म संहिता ने वैष्णवागमविषयों को चार भागों में विभक्त किया है। ये चार विषय हैं–१. ज्ञान, २. योग, ३. क्रिया तथा ४. चर्या। ज्ञान तथा योग विषय अत्यन्त संक्षेप में वर्णित हैं। क्रिया तथा चर्यापरक विषय अत्यन्त विस्तार पूर्वक प्रतिपादित हुये हैं। चर्यापरक विषयों में भगवदाराधन के साथ-साथ वैष्णवागम ग्रन्थों ने वैष्णवों के आचार-सम्बद्ध विषयों का भी स्पष्ट विस्तृत प्रतिपादन किया है। इसके अन्तर्गत वैष्णवों के दैनन्दिन क्रिया कलापों का निर्देश देखा जा सकता है। पाञ्चरात्र वैष्णवों के लिये पञ्चकाल प्रक्रिया का वर्णन अनेक पाञ्चरात्रागम संहिताओं में देखते हैं। नारदीय संहिता कहती है—

शृणुष्वावहितो ब्रह्मन् पञ्चकालविनिर्णयम्।
अथाभिगमनाख्यस्तु कालः प्रथम उच्यते॥
अथोपादानसंज्ञस्तु द्वितीयः काल उच्यते।
इज्याकालस्तृतीयस्तु स्वाध्यायाख्योऽन्य उच्यते॥

पञ्चमो योगकाल स्तु पञ्चकालाः प्रकीर्तिताः। अ० ३०. श्लो० ३-५; अर्थात् वैष्णवों का दैनन्दिन आचार अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग इन पाँच भागों में विभक्त है। इन सबों का विशिष्ट विवेचन तथा परिचय एक स्वतंत्र निबन्ध का विषय हो सकता है। प्रस्तुत लेख में हम वैष्णवों के पञ्चकाल के अन्तर्गत आने वाले तृतीय काल अर्थात् इज्याकाल से सम्बद्ध एक विशिष्ट विषय 'अन्तर्याग' के विवेचन का प्रयत्न करेंगे।

इज्या-काल वैष्णवों के दैनन्दिन आचार का वह काल है, जिसमें वैष्णव आराधक स्नानादि से पवित्र होकर आलय में आता है और विहित विधान से भगवदर्चन सम्पादित करता है। इस क्रम में जब आराधक भगवदर्चन में प्रवृत्त होता है, उससे पूर्व उसे मानसिक तथा शारीरिक उभय दृष्टि से पूर्ण शुद्ध होना आवश्यक होता है। पवित्रता के लिये विहित इस क्रियाकलाप को 'अन्तर्याग' या 'मानसयाग' की संज्ञा दी गई है। 'अन्तर्याग' या 'मानसयाग' ये दोनों सर्वथा अन्वर्थक नाम हैं, क्यों कि इसके द्वारा आराधक अन्तःकरण तथा पाञ्चभौतिक शरीर को सब तरह से शुद्ध तथा पवित्र करने का प्रयत्न करता है। इसमें पूर्णरूपेण मानसिक भगवदाराधन तथा मानसिक भूतपदार्थ शोधन की प्रक्रिया का पालन होता है। इस प्रक्रिया में बाह्य किसी भी साधन अथवा वस्तु का प्रयोग नहीं करते। अतः इस आराधन को अन्तर्याग या मानसयाग कहना युक्ति-युक्त है।

अन्तर्याग सम्पादन क्रम में प्रथमतः भूतशुद्धि का अवसर आता है। श्रीप्रश्नसंहिता ने भगवदाराधन प्रसंग में पञ्चशुद्धि का विधान किया है। संहिता कहती है—पूजा काले पुरा कुर्यात् पञ्चशुद्धिं गुरूत्तमः।
स्थानशुद्धिं पात्रशुद्धिं बिम्बशोधनमेव च॥
आत्मनो भूतशुद्धिं च.......................।
(अ० २८. २३–२४।)

परन्तु अन्तर्याग के क्रम में प्रत्यक्षरूप में भूतशुद्धि ही सम्बद्ध शुद्धि है। लक्ष्मीतन्त्र कहता है—"अन्तर्यागादिसिद्ध्यर्थं भूतशुद्धिं निशामय।" ३५.१। अर्थात् अन्तर्याग की सिद्धि के लिये भूतशुद्धि आवश्यक है। भूतशुद्धि का अर्थ है, प्राकृत देहस्थ मांसमेद अस्थिभूयिष्ठ भूतों को शुद्ध करना। उस शुद्धि का प्रयोजन भगवदाराधन की योग्यता प्राप्त करना मात्र है। भूत शुद्धि के बिना आराधक पवित्र नहीं हो पाता। अपवित्र शरीर से भगवदाराधन सर्वथा वर्जित है। प्रायः सभी आगम ग्रन्थों में भूतशुद्धि का विधान किया गया है। वैष्णवागम के अतिरिक्त शैवागमग्रंथों में भी अत्यन्त व्यवस्थित तथा विस्तृत रूप से भूतशुद्धि की प्रक्रिया वर्णित है। शैवागम ग्रन्थ 'अजितागम' ने देवालय में भगवदाराधन से पूर्व अर्चक के द्वारा जो प्रतिपाद्य कृत्य बताये हैं, उनका क्रम अधोलिखित है। सर्वप्रथम आत्मशुद्धि का विधान किया गया है। आत्मशुद्धि दो तरह की होती है। आत्मा की शुद्धि तथा शरीर की शुद्धि। आत्म शुद्धि की प्रक्रिया से सामान्यतः प्राणायाम के साथ पादाङ्गुष्ठ से आरंभकर मस्तकान्त दग्धनिःशेषपापव्यक्ति आत्मशुद्ध होता है। इसके लिये मन्त्र विहित हैं। आत्मशुद्धि के अनन्तर भूतशुद्धि का अवसर उपस्थित होता है। अजितागम कहता है—

पञ्चभूतसमारब्धं शरीरं सर्वदेहिनाम्।
तस्मात्तेषु कृता शुद्धिः भूतशुद्धिरिति स्मृता॥ क्रि. पा. २०.५१।

कहा जाता है कि शरीर में यद्यपि भूतांश सम्मिश्रितरूप में स्थित हैं, फिर भी उनकी शुद्धि के लिए व्यवच्छिन्न स्थिति की कल्पना करनी चाहिये।

जहाँ तक शुद्धि का प्रश्न है, वह मन्त्र के द्वारा ही हो सकती है, क्योंकि शुद्धि सर्वदा मन्त्रात्मिका ही कही गई है। इस के बिना वैष्णव भगवदर्चन में सर्वथा अनर्ह ही रहता है। पारमेश्वर संहिता कहती है—

भूतशुद्धिं शृणु मुने ! यथावदनुपूर्वशः ।
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलाकाशं शरीरं भूतपञ्चकम् ॥
इन्द्रजालोपमं विद्धि ज्ञानाधैरुज्झितं गुणैः ।
मलिनं चास्वतंत्रं च रतो रक्तोद्भवं चयि ॥
यावन्न शोधितं सम्यक् धारणाभिर्निरन्तरम् ।
तावदेतदयोग्यं स्यात् मन्त्रन्यासादिवस्तुषु ॥

इस तरह पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के अन्तर्यागक्रम में भूतशुद्धि का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इसका क्रम इस आगम की अनेक संहिताओं में विस्तृतरूप से वर्णित है। जैसा कि कहा गया है भगवदर्चन प्रारंभ करने से पूर्व अन्तर्याग का अवसर आता है, और उसका अङ्गभूत यह भूतशुद्धि प्रक्रिया है। स्नानादि से निवृत्त शुक्लाम्बरधारी, सर्वालङ्कार-युक्त, माला तथा चन्दन से समलङ्कृतशरीर, ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने के पश्चात् अर्चक अथवा आराधक देव के दक्षिण भाग में आसीन होता है। बैठने के लिये विष्टर का निर्देश किया गया है। श्रीप्रश्न संहिता के अनुसार आसन का ऋषि-मेरु, छन्द-अतल, देवता-कूर्म तथा स्वरूप-पद्म कहा गया है। इस क्रम में सात दर्भों का कूर्च आसन पर रखना विहित है। उसमें कूर्म का स्मरण कर आराधक पद्मासन अथवा स्वस्तिक आसन से आसीन होता है। पुनः अस्त्र मंत्र से दिशाओं को बाँधता है। वह्नि मन्त्र से दहन तथा अग्नि प्राकार मुद्रा के द्वारा प्राकार की अवस्थिति का चिन्तन करता है। चक्रमुद्रा से गगन का ध्यान कर चक्रमन्त्र से आच्छदन करता है। पुनः तीन प्राणायाम का विधान होता है। ये ही प्राणायाम योग मुद्रा के द्वारा देहस्थ पाप के शोधक होते हैं। इन्हीं के द्वारा सम्पूर्ण शरीर के तत्तदङ्गों को शुद्ध किया जाता है। यहाँ प्राणायाम के क्रम में प्रयुक्त प्रणव के ऋषि आदि विषयों का विस्तृत वर्णन देखा जाता है, जैसे—

ऋषि — छन्द — देवता — बीज — शक्ति — कीलक — वर्ण
ब्रह्मा — गायत्री — ब्रह्मा — हकार— ह्रां — ककार — धूम्र।

योग मुद्रा के द्वारा पाप के शोधन क्रम में अधोलिखित स्वरूप का चिन्तन करना कहा गया है — आभा — स्थान — बीज — स्वरूप
धूम्र — नाभिकन्द — यं — चतुरस्र

इस तरह रेचक के द्वारा पाप शोधन कर पूरक के द्वारा पाप के दहन का निर्देश रखते हैं। उसके ध्यान का क्रम यों है—आभा – स्थान — बीज— स्वरूप
पाटलप्रभ–हृदब्ज – वह्नि – त्रिकोण

पुनः कुंभक के द्वारा वह्नि के स्तंभन का विधान कहा गया है। इसका क्रम अधोलिखित है— आभा — स्थान — बीज — स्वरूप
पीताभ – कण्ठ — माहेन्द्र – चतुरस्र

उसके बाद अर्थात् वह्निस्तंभन के अनन्तर अमृतधारा से देह के संक्षालन का ध्यान विहित है। उस क्रम में ध्यान का क्रम अधोलिखित है—

आभा — स्थान — बीज — स्वरूप
स्फटिकाभ — मूर्धा — वारुण — वृत्त

इस प्रकार आराधक रेचक से पाप शोधन, पूरक से दहन तथा कुंभक से स्तंभन कर अमृतधारा से ध्यानकर पाप विशुद्ध होता है।

पाप विशुद्ध आराधक पाद से मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर में भूमि आदि पञ्चभूत तत्त्वों का संहार क्रम से तत्तत्कारणों अर्थात् उत्पत्ति मूलों में लय करता है। लयक्रम अधोलिखित रूप में वर्णित है—साधक पाद से जानु पर्यन्त चतुरस्र, पीतवर्ण पृथ्वीतत्त्व का चिन्तन कर उसका घ्राणोपस्थ समायुक्त गन्ध तन्मात्रा में लय करता है। पुनः जानु से पायुपर्यन्त आपः का स्थान निर्दिष्ट है। 'आपः' पूर्वोक्त की अपेक्षा चतुर्गुण कहा गया है। 'आपः' श्वेतवर्ण, चन्द्रार्ध संस्थित निर्दिष्ट है। पूर्वोक्त गन्ध तन्मात्रा का इसी 'आपः' में लय का चिन्तन किया जाता है। इस क्रम में पायु संयुक्त रसना गन्धतन्मात्रा के साथ रस में संहृत होता है। पुनः रस का तेज में लय किया जाता है। वह्नि का स्थान नाभि से हृदय पर्यन्त कहा गया है। वह त्रिगुण होता है। वह्नि का स्वरूप त्र्यस्र होता है। वर्ण पाटलवर्ण की तरह निर्दिष्ट है। सरस दृष्टि पादों के साथ रूप में उसका लय कहा गया है। उसका भी संहार वायु में विहित है। वायु का स्थान हृदय से भ्रूमध्य तक होता है। वायु धूम्रवर्ण, पूर्वोक्त की अपेक्षा द्विगुणित कहा गया है। वायु का संहार स्पर्शगुण में किया जाता है। स्पर्शगुण का लय आकाश में होता है। आकाश का स्थान भ्रूमध्य से शिर के अन्त तक कहा गया है। उसका गुण शब्द तथा वर्ण नील कहा गया है। श्रुतिवाक् सहित आकाश का संहार शब्दतन्मात्रा में विहित है। शब्द तन्मात्रा का लय अहंकार में, अहंकृति का बुद्धि में, बुद्धि का प्रकृति में, वासना सहित प्रकृति का जीव में लय करते हैं।

वासनायुक्त प्रकृति का जीव में लय होने के पश्चात् नाभि चक्रस्थ सूक्ष्म सूर्य की प्रतिभा के समान जीव को पद्म सूत्र की तरह सूक्ष्म सुषुम्ना नाडी से कुंभक वायु के द्वारा शनैः शनैः ऊपर की ओर ले चलने का विधान है। ऊपर ब्रह्मरन्ध्र का निर्भेदकर उक्त जीव को देह से ऊपर निकालते हैं। ऊपर उठता हुआ अशरीरी-जीव रवि बिम्ब में प्रविष्ट होकर ऊपर की ओर बढ़कर परब्रह्म में प्रवेश करता है। इस तरह संहार क्रम से जीव को परब्रह्म में ध्यान के द्वारा चिन्तन कर साधक समाहित करता है।

जीव के पर ब्रह्म में समाहित करने के पश्चात् साधक पादाग्रसंस्थित उज्वल त्विष् वाले वह्नि बीज के द्वारा योनिज शरीर के दहन की भावना करता है। तदनन्तर आकाश में चन्द्रकोटि प्रभा के समान निवृत्ति बीज का ध्यान विहित है। उससे उत्पन्न अमृत जलधि में श्वेत पंकज का ध्यान साधक के द्वारा विहित है।

इस उपर्युक्त ध्यान के पश्चात् सृष्टि क्रम का ध्यान किया जाता है। यह क्रम अधोलिखित है—साधक पर ब्रह्म से जीव, जीव से प्रकृति, प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से मन, मन से शब्दतन्मात्रा, शब्द-तन्मात्रा से वाक् तथा श्रुति के साथ आकाश की उत्पत्ति का चिन्तन करता है। शब्दैक गुण आकाश से स्पर्श तन्मात्रा उत्पन्न होती है। उससे युक्त शब्दस्पर्श एवं रूप युक्त चक्षु की उत्पत्ति होती है। तेज से रसतन्मात्रा और उससे चतुर्गुण युक्त जल की उत्पत्ति का चिन्तन होता है। जल से जिह्वा, जिह्वा से गन्धतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध

युक्त घ्राणोपस्थ युक्त भूमि की उत्पत्ति की भावना की जाती है। इस प्रकार पञ्चभूत समुद्भव शरीर प्राप्त कर पूर्वोक्त अमृत जलधि में ध्यात श्वेत पंकज से उद्भूत अमृतौघ के द्वारा शुद्ध स्वकीय अप्राकृत देह का स्नान कराने के पश्चात् हरि के समाराधन के योग्य बनाया जाता है। इस तरह भूतशुद्धि के अनन्तर आराधक पूर्णरूपेण शुद्ध हो पाता है।

भूतशुद्धि के द्वारा पूर्ण शुद्ध आराधक अप्राकृतिक देह में अंगन्यास का चिन्तन करता है। इस क्रम में अष्टाक्षर या द्वादशाक्षर मन्त्र के प्रयोग का निर्देश किया गया है। यह मन्त्र न्यास ऋषि आदि के साथ प्रणव का प्रयोग कर नमः स्वाहान्त होता है। तदनन्तर आराधक अन्तर्यागाङ्गभूत कृत्य हृदय कमल पर वर्णात्मक वासुदेव का मानसिक उपचारों से होमान्त अर्चन करता है। श्रीप्रश्न संहिता कहती है—"इत्थं न्यासं पुरा कृत्वा पूजयेन्मनसा हरिम्।" मानसयाग के क्रम में आराधक प्राणायाम के द्वारा कुंभकवात से अधोमुख नाभि उत्थित पद्म का उन्नयन करते हुये उसका उद्घाटन करता है। उस पद्म पर पीठ की कल्पना का चिन्तन किया जाता है। पद्म को पारमेश्वर संहिता ने सहस्र दल होना कहा है। कमल सहस्र किरणों से आवृत होगा। कमल पर स्थित पीठ अथवा आसन के आग्नेय-नैर्ऋत-वायव्य तथा आग्नेय कोणों में क्रमशः धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य का स्वमन्त्र के द्वारा अवतारण किया जाना विहित है। पुनः पीठ के पूर्व-दक्षिण-पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में क्रमशः अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य की स्थापना भावित होती है। ये सभी पुरुष की आकृति वाले तथा बन्धूक कुसुम की तरह उज्वल होते हैं। पीठ के चतुर्दिक अधोलिखित रूप में ऋगादि चार वेदों तथा कृतादि चार युगों की स्थापना का ध्यान करना विहित—

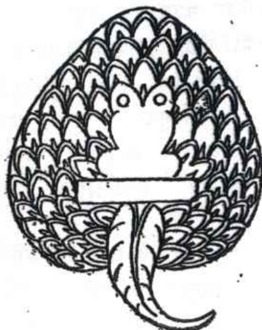
१. पूर्व-ईशान के भाग के मध्य-ऋग्वेद, २. पूर्व-आग्नेय भाग के मध्य-यजुर्वेद, ३. नैर्ऋत—वारुण भाग के मध्य-सामवेद, ४. वायव्य-वारुण भाग के मध्य-अथर्ववेद और १. ईशान-सोम भाग के मध्य-कृतयुग, २. अन्तक-अग्नि भाग के मध्य-द्वापर युग, ३. याम्य-राक्षस भाग के मध्य-त्रेतायुग, ४. सोम-सामीरण भाग के मध्य-कलियुग का ध्यान होता है।

यह क्रम पारमेश्वर संहिता ने अत्यन्त विस्तार से प्रतिपादित किया है। विष्वक् सेन संहिता में भी इसकी विस्तृत चर्चा हुई है। श्रीप्रश्न संहिता के अनुसार उपर्युक्त कमल पीठ पर भगवान वासुदेव का ध्यान विहित है। वासुदेव वनमाला विभूषित, पीताम्बरधारी, चतुर्भुज, अनेक दिव्यायुधों से सुसज्जित, श्रीवत्स तथा कौस्तुभ धारण किये हुये, योग लक्ष्मी सहित विराजित होते हैं। इस आसन पर श्री तथा भू देवियों के सहित भी भगवान् वासुदेव का ध्यान विहित है। पद्म पीठ पर आसीन भगवान् का भावनाओं से कल्पित परम पावन अर्चन, वस्तुओं तथा भोगों के द्वारा आराधक मानसिक पूजन करता है। उस क्रम में आराधक भगवान् के प्रति ज्ञापन करता हुआ निवेदन करता है कि हे देवदेवेश! हृत्पद्म में आपका स्वागत है। आप अत्यन्त सन्निधि में आयें। मेरी मानसी पूजा कृपया ग्रहण करें। साधक देव को प्रसन्न जान कर ही सान्निध्य तथा साम्मुख्य के हेतु प्रार्थना करता है। उस क्रम में वह हस्तन्यास के बिना ही मानसिक रूप से मंत्रन्यास करता है। तदनन्तर आराधक हृदयस्थ भगवान् के प्रति किरीट एवं वनमालादि मुद्राओं का प्रदर्शन करता है। पुनः मधुपर्क निवेदन तथा स्नानासन पर भगवान् का स्मरण करता है। मानसिक रूप से ही भगवान् का अभ्यञ्जनादि स्नान कराकर किरीटादि भूषणों से विभूषित करता है। मानसिक रूप से ही छत्रादि धूपदीपान्त उपचार प्रदर्शन का विधान विहित है। पूजा के पश्चात् मानसिक रूप से ही भोज्यासन पर भगवान् को अनेक लेह्य, चोष्य एवं चतुर्विधान्न निवेदित किया जाता है। तदनन्तर मानसिक रूप से ही अग्नि-होम सम्पादन कर पुरुषोत्तम को प्रसन्न किया जाता है। इस मानसिक आराधन से सर्वथा पवित्रान्तःकरण आराधक प्रतिमास्थ देव के बाह्याराधन में प्रवृत्त होता है।

स्थूल रूप से यही पाञ्चरात्रिक अन्तर्याग का स्वरूप पाञ्चरात्र ग्रन्थों में वर्णित है। इस प्रसंग में आये भूतशुद्धि क्रम की सृष्टि तथा संहार प्रक्रिया का दर्शनों की तात्त्विक दृष्टि से विवेचन एक स्वतंत्र तथा पृथक् विशिष्ट विषय हो सकता है। यहाँ जो अन्तर्याग का स्वरूप उपस्थापित है वह शुद्ध रूप से पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध क्रियात्मक रूप प्रतिपादन को लक्ष्य करके ही। उपर्युक्त वर्णन से अन्तर्याग का स्वरूप स्पष्ट होगा, ऐसा विश्वास है।

संदर्भ ग्रन्थ

१. अजितागम, २. नारदीय संहिता, ३. पाद्म संहिता, ४. पारमेश्वर संहिता, ५. भार्गव संहिता, ६. मार्कण्डेय संहिता, ७. लक्ष्मीतन्त्र, ८. विश्वामित्र संहिता, ९. विष्वक्सेन संहिता, १०. श्रीप्रश्न संहिता। ●



वैष्णव सम्प्रदाय में वैखानस आगम

श्री अर्जुन पाण्डेय

भगवान विष्णु की आराधना करने वाले को 'वैष्णव' एवं इस पद्धति से भगवत्प्राप्ति करने वाले मार्ग या सम्प्रदाय को वैष्णव सम्प्रदाय कहा जाता है। वैष्णव सम्प्रदाय के प्रधानतः दो भेद हैं—(१) वैखानस, (२) पाञ्चरात्र। जिन्हें क्रमशः वैखानसागम और पाञ्चरात्रागम कहते हैं।

वैखानस शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—ऋषि विशेष, तृतीयाश्रमी या वनस्थ व्रतधारी और वैखानससूत्राध्यायी। तैत्तिरीय आरण्यक १:२३ के अनुसार वैखानस शब्द ऋषि परक है। वैखानस ऋषि बालखिल्यादि के समान तपःपरायण तथा वनस्थ वृत्ति वाले थे। महाभारत शान्ति पर्व, अध्याय २५०, श्लोक १७; रामायण, किष्किन्धाकाण्ड ४०:५७ तथा ४३:३३, ३५ और शकुन्तला नाटक, १:१० तथा १:२६ इस सम्बन्ध में देखने योग्य हैं। शकुन्तला नाटक में 'ततः प्रविशति आत्मना तृतीयो वैखानसः' तथा 'वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानात्' वाक्यों द्वारा वैखानस की प्रशंसा की गई हैं तथा उसके प्रति आदर भाव व्यक्त किया गया है। मनु कहते हैं—

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत् सदा।
कालपक्वैः स्वयं शीर्णैः वैखानसमते स्थितः॥

इस श्लोक में वैखानसों की वृत्ति और आचार का वर्णन किया गया है। वैखानस वन में रहते हैं, पुष्प, कन्द और फलों पर जीवन निर्वाह करते हैं। कन्द, मूल और फल भी वृक्षों से तोड़े नहीं जाते, समय पाकर जब वे वृक्षों पर ही पक जाते हैं और शीर्ण होकर स्वयं गिर पड़ते हैं, तभी वैखानस उन्हें प्रयोग में लाते हैं।

वैखानसागम की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता—'वैखानस' अथवा 'विखनोमुनि' का उल्लेख आगमों के अतिरिक्त श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहासों में पाया जाता है।

श्रुति—"धेनुर्वह्राणमतितिस्सुराणाम्।
ब्रह्मा ऋभूणां विखनोमुनीनाम्॥"

स्मृति—"वेदान्तविद्भिर्विप्रैस्तद्वैखानससूत्रिभिः।
याजयेद् यज्ञपुरुषं विष्णुं राजा जगद्धितः॥"

—(वृद्ध-मनुस्मृति)।

"जगत् के हितकारी राजा को चाहिए कि वह वेदान्तवेत्ता वैखानस-सूत्र के ज्ञाता ब्राह्मणों से यज्ञपुरुष विष्णु का यजन करावे।

इतिहास—"विष्णुभक्तसहस्रेभ्यो विप्रो वैखानसो वरः।"

—(महाभारत)।

"हजारों विष्णु भक्तों से वैखानस ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।"

पुराण—"धर्माणां वैष्णवो धर्मः स्मृतीनां मानवी स्मृतिः।
विप्राणां वेदविदुषां सदा विखनसो वरः॥"

—(ब्रह्मवैवर्त०)।

'जिस प्रकार सब धर्मों में वैष्णव धर्म, स्मृतियों में मनुस्मृति श्रेष्ठ है, वैसे ही वेदवेत्ता ब्राह्मणों में वैखानस श्रेष्ठ हैं।'

"अनन्यशरणा राजन् तस्माद् वैखानसा वराः।"

—(कर्म पुराण)।

'भगवान के अतिरिक्त अन्य शरण न होने से वैखानस श्रेष्ठ हैं।' इनके अतिरिक्त गरुड़पुराण, ब्रह्माण्डपुराण, पौष्कर संहिता, हारीत स्मृति आदि अनेक ग्रंथों में अनेक प्रमाण हैं।

शास्त्र का कथन है कि भगवान विष्णु के संकल्प से श्री विखनस (ब्रह्मा) जी का आविर्भाव हुआ। उनके द्वारा यह प्रवर्तित सम्प्रदाय स्वायम्भुव मन्वन्तर से ही चला आ रहा है। इस वैखानस-सम्प्रदाय में वैदिक ढंग से भगवान विष्णु की उपासना की जाती है, जिससे लोक, परलोक, परमार्थ सभी सिद्ध होते हैं। अन्य ग्रंथ भी इनका समर्थन करते हैं। इस सम्प्रदाय में भगवान ब्रह्मा के पुत्र एवं शिष्य महर्षि मरीचि द्वारा रचित 'विमानार्चनकल्प' नामक ग्रन्थ में श्रीहनुमान जी की उपासना के विषय में भी वर्णन मिलता है। अनंत शयन ग्रंथमाला (नं० १२१) में प्रकाशित मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम' नामक ग्रंथ इस तंत्र का एकमात्र प्राचीन प्रतिनिधि है। किसी माधवाचार्य के पुत्र नरसिंह वाजपेयी के स्वलिखित 'प्रतिष्ठाविधिदर्पण' में वैखानस आगम के ऋषि क्रम का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

नारायणो ब्रह्मण आह सर्वं, वैखानसं वैदिक मंत्र युक्तम्।
सोऽयं विराजो विखना मुनीन्द्रः स काश्यपपादेरवदत् तदेतत्॥

इस प्रमाण से वैखानसों की आचार्य परम्परा में सर्वप्रथम नारायण आते हैं। नारायण के पश्चात् विखनस, विखनस के पश्चात् काश्यप और काश्यप के पश्चात् मरीचि का नाम है। वैखानस-आगम इन्हीं अन्तिम मरीचि ऋषि की रचना है। विखनस ऋषि नारायण के पुत्र थे। निम्नलिखित श्लोक इसके साक्षी हैं—

'नारायणः पिता यस्य माता चापि हरिप्रिया।
भृग्वादिमुनयः पुत्राः तस्मै विखनसे नमः॥
नमस्ते भगवन् ब्रह्मन् नमस्ते ब्रह्मणः सुत।
त्वमेव सर्ववेत्तासि त्वमेव ब्रह्मणः प्रियः॥"

—अर्चनाधिकार।

इसी तरह के शब्द खिलाधिकार के निम्नांकित श्लोक में आये हैं—

"ब्रह्मपुत्र मुनिश्रेष्ठ त्वमेव ब्रह्मणः प्रियः।
त्वमेव सर्ववेत्तासि त्वमेव वदतां वरः॥"

अतः इन श्लोकों से सिद्ध होता है कि विखनस नारायण के पुत्र थे। विखनस के पुत्रों में भृगु, मरीचि आदि ऋषियों की गणना है। विखनस की माता का नाम हरिप्रिया था। विखनस की एक संज्ञा ब्रह्मा भी है। पाञ्चरात्र साहित्य को महाभारत के साक्ष्य से मेरुगिरि निवासी चित्र-शिखण्डी नाम के सात ऋषियों द्वारा निर्मित माना गया है। इन सात ऋषियों में सबसे पहले मरीचि का नाम आता है। वैखानस आगम का प्रवर्तन भी इन्हीं मरीचि द्वारा हुआ। अतः दोनों आगमों में समता होनी चाहिये। यह समता कई बातों में दिखाई भी पड़ती है। दोनों आगम नारायण को परम देवता मानते हैं। मन्दिर निर्माण और प्रतिमा-पूजन की पद्धतियाँ भी दोनों में लगभग समान हैं, परन्तु वैखानस आगम वैदिकों के अधिक मेल में है, उन्हें विशुद्ध वैष्णव आगम भी कहा जाता है। वैखानसों की अपनी संहिता एवं अपने श्रौत, गुह्य एवं धर्मसूत्र हैं। पांचरात्रों की भाँति नारायण की प्रतिष्ठा तथा अर्चा का विशिष्ट विधान भी इनके अन्तर्गत है।

जैसा कि कहा गया है, वैखानस आगम मरीचिप्रोक्त है। इसमें ७० पटल (अध्याय) हैं। यह सम्पूर्ण रूप से गद्य में लिखा गया है। वैखानस आगम के आरम्भ में ऋषि महामुनि मरीचि से प्रश्न करते हैं :— 'किस मार्ग से, और किन मन्त्रों द्वारा, किस देव की अर्चना करते हुए, किन लोकों को प्राप्त किया जाता है ?' मरीचि उत्तर देते हुए कहते हैं— श्रुति-अनुकूल मार्ग से चतुर्वेदोद्भव मन्त्रों के द्वारा नारायण की पूजा करनी चाहिए। इससे विष्णु के साथ सालोक्यादि पद की प्राप्ति होती है। नारायण परब्रह्म हैं, परम ज्योति हैं, अक्षर हैं, सब भूतों के आधार हैं, सर्वात्मक सनातन और परमपुरुष हैं। भक्त को चाहिये कि वह अग्नि में नित्य होम करने के बाद, घर में या मन्दिर में भक्ति पूर्वक नारायण विष्णु भगवान की नित्य अर्चना या आराधना करे। यह आराधन दो प्रकार का है। अमूर्त और समूर्त। अग्नि में जो हवन किया जाता है, वह अमूर्त है। प्रतिमा का अर्चन करना समूर्त आराधन है।

द्वितीय पटल में साधक के विशेषणों का वर्णन करते हुए मरीचि लिखते हैं—साधक निषेधादि संस्कारों से युक्त विप्र और वेदविद हो। वैखानस आगम वेद पर आधारित है। उसका अनुयायी और साधना में निरत साधक वेद ज्ञाता हो जाता है। वैखानस-मतानुयायी गृहस्थधर्म का पालन करते हुए भी जितेन्द्रिय और ध्याननारायण, अविचल, योगी हो सकता है। यही भावना सिद्धों के सहज सुख से ध्वनित होती है और सहजिया सम्प्रदाय वाले इसी मत के अनुयायी हैं। कबीर भी इसी कोटि के थे। वैखानस सम्प्रदाय में वेद मान्यता के साथ प्रतिमा का अर्चन, ध्यान, ज्ञान, योग और भक्ति भाव की प्रधानता है।

आगे के पटलों में मन्दिर तथा प्रतिमाओं का विस्तारयुक्त एवं विशाल विवरण सहित वर्णन मिलता है। मन्दिर-निर्माण के लिए सर्वप्रथम भूमि का शोधन करना पड़ता है। उपयुक्त भूमि को खोजकर ही मन्दिर निर्माण सम्बन्धी अन्य विधान किये जा सकते हैं।

पुनर्जन्म के बारे में मरीचि ऋषि का मत है कि मृत्यु के पश्चात् जीव आकाश बनकर-वायु-में विचरण करता है; वायु बनकर अग्नि में, अग्नि बनकर जल में, जल बनकर बादल में और फिर बादल बनकर भूमि पर वर्षा के साथ ओषधि-वनस्पतियों में पहुँचता है। ओषधियों से वह अन्न में, अन्न से शुक्र में और उसके पश्चात् स्वयोनि में जाता है। (पटल ६९)। पटल संख्या ७० में जीव का देह धारणकर करके माया के वशीभूत होना, काम-क्रोधादि में पड़ना, पुनः पुनः जन्म लेना और स्वर्ग तथा नरक के सुख-दुख-रूपी फल प्राप्त करना, भगवान नारायण की उपासना से माया बन्धन से छूटकर भवसागर से पार होना और सालोक्य, सायुज्यमोक्षादि का विस्तृत विवेचन है।

मरीचि के अनुसार आराधन के चार प्रकार हो सकते हैं—जप, अग्निहोत्र, अर्चना और ध्यान। आराधक को सावित्री अर्थात् गायत्री का जाप करके अष्टाक्षर या द्वादशाक्षर मन्त्रों से भगवान का ध्यान करना चाहिये। परम पुरुष ही विष्णु है। विष्णु का अंश रूप पुरुष सत्य है। सदा विष्णु का अंश अच्युत और सर्वव्यापी अंश अनिरुद्ध है। इस तरह धर्म आदि गुणों से भगवान के चार रूप माने जाते हैं— परम पुरुष धर्ममय है, सत्यरूप ज्ञान और सर्वतेजों से युक्त है, अच्युत रूप अपरिमित ऐश्वर्यमय है और अनिरुद्ध रूप महान वैराग्यमय तथा संहारक स्वरूप है। वैखानस आगम के इस मत से पांचरात्रों का मत भिन्न है। दार्शनिक सिद्धान्तों में वैखानसों तथा पांचरात्रियों में विशेष अन्तर नहीं है जो कुछ अन्तर है वह मूर्ति-निर्माण तथा पूजा अर्चा के विधि तथा विशिष्ट विधान में ही है। वैखानस कृष्ण यजुर्वेद की स्वतंत्र शाखा मानी जाती है। चरणव्यूह के अनुसार कृष्णयजुः की प्रधान शाखायें हैं—आपस्तंब, बौधायन, सत्याषाढ़, हिरण्यकेशी तथा औखेय। वैखानस श्रौतसूत्र के भाष्यकार वेंकटेश के अनुसार वैखानसों का सम्बन्ध इसी 'औखेय शाखा' के साथ था जैसा कि स्पष्ट है—

येन वेदार्थविज्ञेयो लोकानुग्रहकाम्यया ।
प्रणीतं सूत्रमौखेय तस्मै विखनसे नमः ॥

इस तरह अप्पय दीक्षित जैसे मान्य वेदांती की दृष्टि में यह आगम विशुद्ध वैदिक है और इसके सिद्धान्त सर्वथा वेदानुकूल है।

किन्तु खेद है कि वैखानस आगम का विशाल साहित्य आज लुप्त-प्राय है। संभव है कि पांचरात्र की तीव्र लोकप्रियता की यह प्रतिक्रिया हो। पांचरात्र की व्यापकता से वैखानस आगम लुप्तप्राय हो गया।

उपर्युक्त सूक्ष्म विवेचन से वैखानस आगम अति प्राचीन, वैदिक तथा विशिष्ट वैष्णव सम्प्रदाय सिद्ध होता है। अतः "वैखानसों को अर्चाविधि नितांत वैदिक है। इसके किसी दार्शनिक तत्त्व का हमें पता नहीं चलता जिस पर वेद-विरोध का आरोप किया जाय"।[1]

---

१. विशेष द्रष्टव्य, बलदेव उपाध्याय, 'भारतीय दर्शन', पृ० ५३९-४०।

जैन आगम साहित्य और तत्सम्बन्धी मान्यताएँ

डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी

जैन दृष्टि से आगम-शब्द-विमर्श

आचार्य हेमचन्द्र ने 'अभिधान-चिन्तामणि-नाममाला' के देवकाण्ड में—'राद्ध-सिद्धकृतेभ्योन्त आप्तोक्तिः समयागमौ' (२४२) द्वारा आगम शब्द का निर्देश किया है, तथा स्वोपज्ञविवृत्ति में स्पष्ट किया है कि—'आगम्यत इति आगमः'। इसके अनुसार आगम का अर्थ सिद्धान्त माना गया है। 'आप्तोक्ति' और 'समय' की परम्परा में उल्लिखित यह अर्थ उचित ही है। योगदर्शन के भाष्य में व्यासजी का भी यही कथन है—आप्तेन दृष्टोऽनुमितोवाऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये, शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। (१-७) इत्यादि। भोजवृत्ति में 'आप्तवचनमागमः' कहकर भी इसी की पुष्टि की गई है।

'उपासकाध्ययन' में आगम-शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—

> "हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात्।
> कालत्रयागतानर्थान् गमयन्नागमः स्मृतः॥ १००॥"

अर्थात् हेय और उपादेय रूप से धर्मार्थकामादि चतुर्वर्गसमाश्रयपूर्वक त्रिकालगत अर्थों का जो ज्ञान कराये वह 'आगम' कहा गया है। आगामों की भाषा में जैनागमों को 'श्रुतज्ञान' भी कहते हैं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जैन आगमों का सनातन आगमों से कथमपि साम्य नहीं है। इन आगमों का विषय सार्वभौम है तथा विशुद्धरूप से भगवान् महावीर की वाणी का जो उपदेश एकादश गणधरों को प्राप्त हुआ वही 'जैनागम' नाम से ख्यात हुआ।

श्रुतज्ञान की पूर्वभूमिका

७२ वर्ष की आयु में भगवान् महावीर का निर्वाण होने के समय मुनिसंघ ग्यारह गणधरों की अध्यक्षता में नौ गणों में विभक्त था।[1] उनमें उनका उत्तराधिकार इन्द्रभूति गौतम को प्राप्त हुआ। इन्द्रभूति ने १२ वर्ष तक संघ का संचालन किया तथा महावीर के उपदेशों का संकलन करके व्यवस्थित रूप दिया।

प्राचीन काल में श्रुतज्ञान चौदह पूर्वों में अन्तर्भूत था। ये चौदह पूर्व-१-उत्पादपूर्व, २-अग्रायणीय, ३-वीर्यप्रवाद, ४-अस्तिनास्तिप्रवाद, ५-ज्ञानप्रवाद, ६-सत्यप्रवाद, ७-आत्मप्रवाद, ८-समयप्रवाद, ९-प्रत्याख्यानप्रवाद, १०-विद्यानुप्रवाद, ११-अवन्ध्य, १२-प्राणावाय, १३-क्रियाविशाल तथा १४-बिन्दुसार[1] नाम से प्रसिद्ध थे। ये सभी अंगों से पूर्व तीर्थंकरों द्वारा अभिहित होने से पूर्व कहे जाते हैं।

इन्हीं पूर्वों पर आधारित उपदेशों को विशिष्ट शक्ति सम्पन्न गणधर-नाम-कर्म-लब्धिशाली महापुरुषों ने सूत्ररूप में ग्रथित करके शिष्य-प्रशिष्यों तक पहुँचाया। श्रीभद्रबाहु स्वामी ने कहा है कि—

> "अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
> सासणस्स हियट्ठाएँ, तओ सुत्तं पवत्तेइ॥"
> —(आवश्यक निर्युक्ति १२)।

इसके अनुसार जैनागमों की प्ररूपणा भगवान् अर्हत् ने की और उनका सूत्ररूप में ग्रथन गणधरों ने किया, यह स्पष्ट है।

आगमों की संख्या

जैन आगमों की संख्या ४५+१=४६ छियालीस मानी गई है जिनमें १२ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्णक, ६ सूत्र, ४ मूलसूत्र तथा २ अन्यसूत्र। अन्यत्र इन आगमों की संख्या चौरासी ८४ भी मानी गई है, जिसमें ११ अंग, १२ उपांग, ५ छेदसूत्र, ५ मूलसूत्र, ८ अन्यग्रन्थ, ३० प्रकीर्णक, १२ निर्युक्तियाँ और १ विशेषावश्यक महाभाष्य का समावेश है। इनका संक्षिप्त नामांकन एवं परिचय इस प्रकार है—

(१) द्वादशांग –जैनागमों में सबसे प्राचीन द्वादशांगों को माना गया है। आचारांगचूर्णि में 'दुवालसंगं वा प्रवचनं वेदो' (५।१८५) कहकर इन अंगों को 'वेद' और 'गणिपिटक' नाम से भी कहा गया है। ये अंग भगवान् महावीर के गणधर सुधर्मस्वामी द्वारा ग्रथित हैं। हेमचन्द्राचार्य ने इनके नाम इस प्रकार दिये हैं—

> "आचाराङ्गं सूत्रकृतं स्थानाङ्गं समवाययुक्।
> पञ्चमं भगवत्यङ्गं ज्ञाताधर्मकथापि च॥ २-२४४॥
> उपासकान्तकृदनुत्तरोपपातिकाद् दशाः।
> प्रश्नव्याकरणं चैव विपाकश्रुतमेव च॥ २४५॥
> इत्येकादश सोपाङ्गान्यङ्गानि द्वादशं पुनः।
> दृष्टिवादः द्वादशाङ्गी स्याद् गणिपिटकाह्वया॥ २४६॥

---

१. समणस्स भगवओ महावीरस्स णवगणा होत्था। तं जहा— १—गोदासगणे, २—उत्तरबलियस्सयगणे, ३—उद्देहगणे, ४—चारणगणे, ५—उड्ढवाइयगणे, ६—विस्सवाइयगणे, ७—कामिड्ढियगणे, ८—माणवगणे, ९—कोडियगणे।"—स्थानांगसूत्र।

१. ... ... पूर्वाणि चतुर्दशापि पूर्व गते॥२४६॥
उत्पादपूर्वमग्रायणीयमथ वीर्यतः प्रवादं स्यात्।
अस्तेर्ज्ञानात् सत्यात् तदात्मनः कर्मणश्च परम्॥२४७॥
प्रत्याख्यानं विद्याप्रवाद कल्याणनामधेयं च।
प्राणावायं च क्रियाविशालमथ लोकबिन्दुसारमिति॥२४८॥
(—अभि० चिन्ता० द्वि० काण्डः)।

१--आचाराङ्ग (आयारंग)-शिष्टजनों द्वारा आचरित ज्ञानादि आसेवन विधि का प्रतिपादक यह ग्रन्थ है।

२--सूत्रकृताङ्ग (सूयगडंग)-स्व-पर सूचन द्वारा निर्मित ग्रन्थ।

३--स्थानाङ्ग (ठाणांग)-इसमें जीवदया का प्रतिपादन तथा एक से दस तक की संख्याओं के भेदरूप स्थान का प्रतिपादन है।

४--समवायांग (समवायांग)-एक से सौ तक की संख्या में निविष्ट पदार्थों का संग्रह और उनका हेतु प्रतिपादक ग्रन्थ।

५--भगवतीसूत्र (अपरनाम-व्याख्याप्रज्ञप्ति) (णवईसुत्त-विवाह पण्णत्ति)—इसमें पूजन आदि कर्मकाण्डों का प्रतिपादन हुआ है।

६--ज्ञाताधर्मकथा: (नायाधम्म कहाओ)-उदाहरण पूर्वक धर्मकथाओं का आख्यान।

७--उपासकदशा: (उवासगदसाओ)-श्रावकों के क्रियाकलापों के दस अध्ययनरूप वर्णन।

८--अन्तकृद्दशा: (अंतगडदसाओ)-कर्म एवं संसार का अन्त करने वाले तीर्थंकरों के दस अध्ययनों से परिपूर्ण।

९--अनुत्तरोपपातिकदशा: (अणुत्तरोववाइयदसाओ)-विजयादि अनुत्तर विमान पंचक जन्म वाले देवों के दस अध्ययनों से युक्त।

१०--प्रश्नव्याकरण (पण्हवागरणाइं)-प्रश्न और उनका निर्वचन करने वाला ग्रन्थ।

११-विपाकश्रुत-(विवागसुय)-शुभाशुभ कर्मों के परिणामों का प्रतिपादक ग्रन्थ।

१२-दृष्टिवाद-(दिट्ठिवाय)-सर्वविध नयदृष्टियों का आख्याता।[1]

(२) बारह उपांग-जैसे वेदों के अंग और उपांगों की रचना हुई है उसी प्रकार यहाँ भी उपांगों की रचना हुई है। इनके ग्रथन का श्रेय स्थविराचार्यों को है। यथा—

१-औपपातिक (ओववाइय), २-राजप्रश्नीय (रायपसेणिय), ३-जीवाभिगम, ४-प्रज्ञापना (पन्नवणा), ५-सूर्यप्रज्ञप्ति (सूरियपण्णत्ति), ६-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बूदीवपण्णत्ति), ७-चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपण्णत्ति), ८-निरयावलिका अथवा कल्पिका (निरयावलियाओ अथवा कप्पिया), ९-कल्पावतंसिका: (कप्पवडंसियाओ), १०-पुष्पिका: (पुप्फियाओ), ११-पुष्पचूलिका: (पुप्फचूलियाओ) तथा १२-वृष्टिदशा: (वण्हिदसाओ)।

(३) दस प्रकीर्णक-नन्दीसूत्र के टीकाकार श्री मलयगिरि के अनुसार तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते हैं अथवा वचन कौशलपूर्वक धर्मदेशना आदि के प्रसंग में कही गई रचनाएँ प्रकीर्णक कही जाती हैं। भगवान् महावीर के समय प्रकीर्णकों की संख्या १४ हजार थी किन्तु सम्प्रति मुख्यरूप से दस प्रकीर्णकग्रन्थ प्राप्त होते हैं। यथा—

१-चतुःशरण (चउसरण), २-आतुरप्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण), ३-महाप्रत्याख्यान (महापच्चक्खाण), ४-भक्तपरिज्ञा (भत्तपरिण्णा), ५-तन्दुलवैचारिक (तंदुल वैयारिय), ६-संस्तारक (संथारग), ७-गच्छाचार (गच्छायार), ८-गणिविद्या (गणिविज्जा), ९-देवेन्द्रस्तव (देविंदथय) तथा १०-मरणसमाधि (मरणसमाही)।

(४)-छेदसूत्र-जैनागमों का प्राचीनतम भाग होने से छेदसूत्रों का बड़ा महत्त्व है। इन सूत्रों में निर्ग्रन्थों की प्रायश्चित्त विधि का प्रतिपादन है। ये सूत्र चारित्रिक शुद्धता की स्थिरता में सहायक होने के कारण 'उत्तम-श्रुत' भी कहे जाते हैं। छेदसूत्रों में जैन भिक्षुओं के आचार-विचार सम्बन्धी नियमों का विवेचन हुआ है। ये नियम भगवान् महावीर तथा उनके शिष्यवर्ग ने देश-काल की परिस्थिति के अनुरूप निर्धारित किए हैं। कोई भी आचार्य इनका अध्ययन किये बिना भिक्षुसमुदाय को लेकर ग्राम, नगरादि में विहार नहीं कर सकता है। संक्षिप्त शैली में लिखित इन सूत्रों की संख्या छह है। यथा—

१--निशीथ (निसीह), २--महानिशीथ (महानिसीह), ३-व्यवहार (ववहार), ४-दशाश्रुतस्कन्ध (दसासुयक्खंध), ५-कल्प अथवा बृहत्कल्प (कप्प), ६-पञ्चकल्प अथवा जीतकल्प (पंचकप्प अथवा जीतकप्प) इति।

(५) मूलसूत्र—साधुजीवन के मूलभूत उपदेशों को प्रकट करने के लिये मूलसूत्रों की सृष्टि हुई है। आगमों में मूलसूत्रों का स्थान अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना गया है। इन की संख्या ४ है जिनमें से दो प्राचीनतम सूत्र माने जाते हैं। यथा—

१-उत्तराध्ययन (उत्तरज्झयण), २-दशवैकालिक (दसवेयालिय), ३-आवश्यक (आवस्सय), तथा ४-पिण्डनिर्युक्ति अथवा ओघनिर्युक्ति (पिंडनिज्जुत्ति अथवा ओहनिज्जुत्ति)।

इनके अतिरिक्त दो और सूत्रों की आगमों में परिगणना होती हैं, उनके नाम हैं—१-नन्दिसूत्र (नन्दिसुत्त) तथा २-अनुयोगद्वारसूत्र (अनुयोगदारसुत्त)। इस प्रकार ये सब मिलकर ४६ आगमों की संख्या को पूर्ण करते हैं।

अन्य मान्यता के अनुसार चौरासी आगम

विभिन्न आचार्य एवं सम्प्रदाय की दृष्टि से आगमों की मान्यता में तरलमता का आना स्वाभाविक ही है। जो लोग ८४ आगमों को मानते हैं उनके अनुसार ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है—

११ अंग-(इसमें दृष्टिवाद को स्थान नहीं मिला है।)

१२ उपांग-(पूर्ववत्)

५ छेदसूत्र- (इनमें पंचकल्प को स्थान नहीं दिया गया है।)

५ मूलसूत्र-(उपर्युक्त उपान्त्य और अन्त्य सूत्रों में से पिण्डनिर्युक्ति की गणना नहीं की है।)

८-अन्यग्रन्थ—

१-कल्पसूत्र, २-जीतकल्प, ३-यतिजीतकल्प, ४-श्राद्धजीतकल्प ५-पाक्षिक, ६-क्षामणा, ७-वंदित्तु और ८-ऋषिभाषित।

३० प्रकीर्णक-इनमें पूर्वोक्त नामों की अपेक्षा बहुत से नये नाम अंकित होते हैं। यथा-

१-चतु:शरण, २-आतुरप्रत्याख्यान, ३-भक्तपरिज्ञा, ४-संस्तारक, ५-तन्दुलवैचारिक, ६-चन्द्रवेध्यक, ७-देवेन्द्रस्तव, ८-गणिविद्या, ९-महा-

---

१. इन अंगों की संक्षिप्त व्याख्या हेमचन्द्राचार्य की नाम मालागत स्वोपज्ञवृत्ति के आधार पर दी गई है।

प्रत्याख्यान, १०–वीरस्तव, ११–अजीतकल्प, १२–गच्छाचार, १३–मरण-समाधि, १४–सिद्धप्राभृत, १५–तीर्थोद्गार, १६–आराधना पताका, १७–द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, १८–ज्योतिष्करण्डक, १९–अंगविद्या, २०–तिथिप्रकीर्णक, २१–पिण्डनिर्युक्ति, २२–सारावली, २३–पर्यन्ताराधना, २४–जीवविभक्ति, २५–कवच, २६–योनिप्राभृत, २७–अंगचूलिका, २८–बंशचूलिका, २९–वृद्धचतुःशरण, ३०–जम्बूप्रकीर्णक।

१२–निर्युक्तियाँ—(ये मान्य ग्रन्थों पर उपलब्ध टीकाएँ हैं)

१–आवश्यक निर्युक्ति, २–दशवैकालिक निर्युक्ति, ३–उत्तराध्ययन निर्युक्ति, ४–आचारांग निर्युक्ति, ५–सूत्रकृतांग निर्युक्ति, ६–बृहत्कल्प निर्युक्ति, ७–व्यवहार निर्युक्ति, ८–दशाश्रुत निर्युक्ति, ९–कल्पसूत्र निर्युक्ति, १०–पिण्ड निर्युक्ति, ११–ओघ निर्युक्ति, १२–संसक्त निर्युक्त।

१–विशेषावश्यक महाभाष्य–इसके निर्माता श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं।

इस प्रकार से सब मिलकर चौरासी की संख्या को पूर्ण करते हैं। इनके साथ ही 'सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति' और 'ऋषिभाषित निर्युक्ति' की भी रचनाएँ हुई थीं किन्तु वे अब प्राप्त नहीं हैं, अतः उनका समावेश नहीं किया गया।

जैन आगमों का महत्त्व

यह सर्वथा सत्य है कि कालदोष के कारण आगम साहित्य बहुधा क्षतिग्रस्त हो गया। भगवान महावीर के परिनिर्वाण के अनन्तर एक हज़ार वर्ष का समय बड़ा संकट पूर्ण था। अनेक स्थानों पर दुष्काल के कारण आचार्य और साधुगण श्रुत की रक्षा करने में प्रायः असमर्थ हो गये थे। वृद्धसम्प्रदाय परम्परा विच्छिन्न हो गई। तथापि जो सुरक्षित रहा उससे जैनपरम्परा, अनुश्रुतियाँ, लोक कथाएँ, तत्कालीन सामाजिक प्रथाएँ, धर्मोपदेश की पद्धतियाँ, आचार-विचार, संयमपालन-विधियाँ आदि का वास्तविक आदर्श हमारे समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। उस समय की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं व्यावहारिक अवस्थाओं के पर्यालोचन से आगमों का महत्त्व बहुत ही बढ़ जाता है।

ईसा की दूसरी शती से सोलहवीं शती तक आगमों का व्याख्याकाल माना जाता है। इस सुदीर्घकाल में विद्वान् आचार्यों ने आगम-साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका, विवरण, वृत्ति, दीपिका, अवचूरि, विवेचन, छाया, अक्षरार्थ, पंचिका, टब्बा, भाषाटीका, वचनिका आदि के रूप में विशाल साहित्य का निर्माण किया।

व्याख्यामूलक इस विशाल साहित्य से आगमों के गम्भीर एवं पारिभाषिक शब्दावली के समझने का अवसर पाठकों को सुलभ हो जाता है। सम्भवतः यही कारण था कि कतिपय प्रमुख टीका ग्रन्थों को भी आगमों में मान्य स्थान दिया गया।

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार जैन आगम

भगवान् महावीर की स्थिति के समय दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी जैसे सम्प्रदायमूलक कोई भेद नहीं थे। सभी महावीर के उपदेशों-निर्ग्रन्थप्रवचनों के अनुयायी थे। कालान्तर में प्रायः प्रथम शती के निकट अचेलकत्व के विषय में मतभेद आरम्भ हुआ और तदनन्तर आगमों की स्वीकृति में भी मतभेद उत्पन्न हो गया। दिगम्बर सम्प्रदाय आगमों के दो भेद मानता है—१–अंग बाह्य आगम तथा २–अंग प्रविष्ट आगम।

इनमें अंग बाह्य आगम १४ हैं, यथा—

१–सामायिक, २–चतुर्विंशतिस्तव, ३–वन्दना, ४–प्रतिक्रमण, ५–वैनयिक ६–कृतिकर्म, ७–दशवैकालिक, ८–उत्तराध्ययन, ९–कल्पव्यवहार, १०–कल्पाकल्प, ११–महाकल्प, १२–पुण्डरीक, १३–महापुण्डरीक, १४–निषिद्धिक।

अंगप्रविष्ट आगम १२ हैं, यथा—

१–आचारांग, २–सूत्रकृतांग, ३–स्थानांग, ४–समवायांग, ५–व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६–ज्ञाताधर्म कथा, ७–उपासकाध्ययन, ८–अन्तकृद्दशा, ९–अनुत्तरोपपातिकदशा, १०–प्रश्नव्याकरण, ११–विपाकसूत्र, १२–दृष्टिवाद।

दृष्टिवाद के ५ अधिकार हैं, यथा—

१–परिकर्माधिकार, २–सूत्राधिकार, ३–प्रथमानुयोगाधिकार, ४–पूर्वगताधिकार तथा ५–चूलिकाधिकार।

१. परिकर्माधिकार में ५ प्रज्ञप्तियाँ आती हैं, यथा—

१–चन्द्रप्रज्ञप्ति, २–सूर्य प्रज्ञप्ति, ३–जम्बूदीप-प्रज्ञप्ति, ४–द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और ५–व्याख्या प्रज्ञप्ति।

२. सूत्राधिकार में ८ वादों का संग्रह है, यथा—

१–जीववाद, २–त्रैराशिकवाद, ३–नियतिवाद, ४–विज्ञानवाद, ५–शब्दवाद, ६–प्रधानवाद, ७–द्रव्यवाद और ८–पुरुषार्थवाद।

३. प्रथमानुयोगाधिकार में पौराणिक उपदेश वर्णित है।

४. पूर्वगताधिकार में—उत्पाद, ध्रौव्य आदि का कथन है जिनकी संख्या १४ है।

५. चूलिकाधिकार में ५ भेदों का वर्णन है, यथा—

१–जलगत, २–स्थलगत, ३–मायागत, ४–रूपगत और ५–आकाशगत।

दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार श्वेताम्बर-सम्प्रदाय जिन ४५ आगमों को मानता है उनमें द्वादशांग आगमों का विच्छेद हो गया है। केवल दृष्टिवाद का ही कुछ अंश बचा है, जो "षट्खण्डागम, कर्मप्राभृत और कषाय प्राभृत" के रूप में प्राप्त है।

अन्य प्रकार से जैन आगमों को १–प्रथमानुयोग, २–करणानुयोग, ३–द्रव्यानुयोग तथा ४–चरणानुयोग के रूप चार अनुयोगों में भी विभक्त माना है और इन विभागों में निम्न लिखित ग्रन्थों की मान्यता है—

१. प्रथमानुयोग में—रविषेण का पद्मपुराण, जिनसेन का हरिवंश पुराण, आदि पुराण तथा जिनसेन के शिष्य गुणभद्र का उत्तर पुराण।

२. करणानुयोग में—सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति तथा जयधवला।

३. द्रव्यानुयोग में—आ० कुन्दकुन्द की रचनाएँ—प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार आदि। उमास्वामि का सटीक तत्त्वार्थसूत्र। समन्तभद्र की टीका सहित आप्तमीमांसा।

४. चरणानुयोग में—वट्टकेर का मूलाचार तथा त्रिवर्णाचार। समन्तभद्र का रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर की द्वादशाङ्गवाणी से सम्बद्ध केवल दो ग्रन्थ ही अवशिष्ट हैं, शेष सभी विलुप्त हैं। अतः अवशिष्ट १-षट्खण्डागम तथा २–कषायप्राभृत का सामान्य परिचय देना भी आवश्यक मानकर कुछ परिचय दे रहे हैं—

१. षट्खण्डागम—महावीर के निर्वाणोत्तर ६८३ वर्षों तक अंग ज्ञान की प्रवृत्ति चालू रही। बाद में गुरु-शिष्य-परम्परा में दिया जानेवाला उपदेश क्रम विलुप्त हो गया। इस द्वादशांग का कुछ ज्ञान गिरनार (गुजरात) स्थित चन्द्रगुफा में तपस्यारत धरसेन नामक आचार्य को था। उन्होंने श्रुतज्ञान के विलोप के भय से महिमा नगरी स्थित मुनिसम्मेलन को पत्र भेजा, उसके फलस्वरूप आन्ध्र प्रदेश से 'पुष्पदन्त' और 'भूतबलि' नामक दो मुनि उनके पास आये और उन्होंने शिष्यत्व प्राप्त करके बड़ी तत्परता से अध्ययन किया। अध्ययन में दृष्टिवाद और व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुछ अंश थे। आचार धरसेन मन्त्रशास्त्र के भी विद्वान् थे, अतः कूष्माण्डिनी देवी से 'योनिप्राभृत' नामक ग्रन्थ प्राप्त करके पुष्पदन्त और भूतबलि के लिये लिख दिया था। इन दोनों मुनियों ने 'षट्खण्डागम' की रचना को जिसमें पुष्पदन्त ने १७७ सूत्रों पर सत्प्ररूपणा की और भूतबलि ने शेष अंश की पूर्ति की।

षट्खण्डागम ही कर्मप्राभृत, महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, आगम-सिद्धान्त, परमागम, खण्डसिद्धान्त और षट्खण्डसिद्धान्त नाम से भी पहचाना जाता है। यह ग्रन्थ चतुर्दश पूर्वों के अन्तर्गत द्वितीय आग्रायणीय पूर्व के कर्मप्रकृति नामक अधिकार के आधार पर अधिकांशतः उद्धृत है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में आचाराङ्गादि की जैसी आगमिक मान्यता है वैसी ही दिगम्बर सम्प्रदाय में कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत को दी गई है।

षट्खण्डागम के १—क्षुल्लकबन्ध, २—जीवस्थानक्षुल्लक बन्ध, ३—बन्धस्वामित्वविचय, ४—वेदना, ५—वर्गणा और ६—महाबन्ध नाम छह खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड में चूलिका, अधिकार, अनुयोगद्वार आदि हैं जिनसे सूचित विषयों का विस्तार से ज्ञान होता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर उत्तरकाल के आचार्यों ने अनेक टीकाएँ लिखी हैं जिनमें कुन्द-कुन्दाचार्य की 'परिकर्म-टीका', शामकुण्डकी 'पद्धति', तुम्बूलूराचार्य की 'चूडामणि', समन्तभद्रस्वामी की 'टीका' तथा बप्पदेवगुरु की 'व्याख्या-प्रज्ञप्ति' टीका थी। दुर्भाग्य से ये सभी अप्राप्त हैं। सम्प्रति श्रीवीरसेन की 'धवला' टीका महत्त्वपूर्ण प्राप्त है जिसमें ७२ हजार श्लोक प्रमाण व्याख्यान है। इसके अन्त में प्रदत्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसकी रचना १८१६ ई० में वटग्राम में हुई थी।

भूतबलि ने पुष्पदन्तविरचित ६ हजार सूत्रों के (पाँचखण्ड तक के) बाद छठे खण्ड में ३० हजार श्लोक प्रमाण महाबन्ध की रचना की। इस ग्रन्थराज को 'महाधवल' भी कहते हैं। इसका आधार लेकर श्रीनेमिचन्द्र ने 'गोम्मटसार' की रचना की। इस ग्रन्थ में 'जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड' ऐसे दो विभाग हैं।

२. कषायप्राभृत—का निर्माण आचार्य श्रीगुणधर ने किया है। इसका भी उद्गमस्रोत दृष्टिवाद ही है। दृष्टिवाद के 'ज्ञानप्रवाद' नामक पञ्चम पूर्व की दशमवस्तु 'पेज्जदोष' नामक तृतीय भाग से 'कसायप्राभृत' की उत्पत्ति हुई है। कहा जाता है कि तीर्थव्युच्छेद के भय से महावीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् गुणधर ने पूर्वाचार्यों से पारम्परिक उपदेश प्राप्त कर १६ हजार पद प्रमाण 'पेज्जदोसपाहुड' ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य ग्रन्थकार के ही शब्दों में इस प्रकार हैं—

"पेज्जदोषविहत्ती दिट्ठि-अणुभागे च बंधगे चेय।
वेदग-उवजोगे विय चउट्ठाण-वियंजणे चेया॥ १३॥
सम्मत्त-देसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च।
दंसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो॥ १४॥"

इसके अनुसार इस ग्रन्थ में—१—प्रेयोद्वेष, २—स्थितानुभागविभक्ति, ३—बन्धक, ४—संक्रम, ५—वेदक, ६—उदीरणा, ७—उपयोग, ८—चतुःस्थान, ९—व्यंजन, १०—सम्यक्त्वोपशामना, ११—दर्शनीय-मोहनीयक्षपणा, १२—देशविरति, १३—संयमोपशामना, १४—संयम-क्षपणा तथा १५—अद्धापरिमाणनिर्देश' ऐसे १५ अर्थाधिकार हैं। 'श्रुतावतार' के अनुसार १—आचार्ययतिवृषभकृत 'चूर्णिसूत्र', २—उच्चारणाचार्यकृत 'उच्चारणावृत्ति', ३—ज्ञानकुण्डकृत 'पद्धति टीका', ४—तुम्बूलूराचार्यकृत 'चूडामणि-व्याख्या', ५—बप्पदेवगुरुकृत 'व्याख्या-प्रज्ञप्तिविवृत्ति' तथा ६—आचार्य वीरसेन एवं जिनसेन कृत 'जयधवला' नामक टीकाएँ थीं जिनमें से आज आदि और अन्त की दो टीकाएँ ही प्राप्त हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय का श्रुताङ्गसाहित्य

श्रीयतिवृषभाचार्य ने करणानुयोग का प्राकृतभाषा ग्रन्थ 'तिलोय-पण्णत्ति' लिखा। इसमें त्रिलोक विषयक वर्णन है। इस ग्रन्थ का विषय श्वेताम्बरागम—सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति से साम्य रखता है। इसी ग्रन्थ में महावीर-निर्वाण के बाद होने वाले १ हजार राजाओं के काल का वर्णन है। यह आचार्य विक्रम से पूर्व ५२६ में हुआ था।

इस सम्प्रदाय के श्रुतधर आचार्यों में—गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, वज्रयश, चिरन्तनाचार्य, यति वृषभ, उच्चारणाचार्य, बप्पदेव, कुन्द कुन्द, वट्टकेर, शिवार्य, स्वामिकुमार, गृध्रपिच्छाचार्य आदि प्रमुख हुए हैं। इन आचार्यों ने—कर्मसाहित्य, आगम, प्रकरण, धर्म, उपदेश, योग, अध्यात्मसार, विधि-विधान, कल्प, मन्त्र-तन्त्र, पर्व, तीर्थ, सागार, अनगार, आचार आदि सभी विषयों पर बड़ी गम्भीरता-पूर्वक ग्रन्थ रचनाएँ की हैं।

आगमवाचना-परम्परा

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार समग्र आगम-साहित्य कहीं विच्छिन्न नहीं हुआ है, अपितु वह विभिन्न वाचनाओं के माध्यम से आज तक अक्षुण्ण चला आ रहा है। ऐसी वाचनाओं में ६ वाचनाएँ प्रमुख हैं, जिनका सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(१) पहली-वाचना—महावीर की पट्टपरम्परा में श्री भद्रबाहु स्वामी के समय १२ वर्ष का दुष्काल पड़ा। उसी समय में नन्दवंश के साम्राज्य में भी क्रान्ति आई। उन दिनों भीषण स्थिति के कारण साधु-समुदाय भिन्न-भिन्न स्थानों पर चले गये। कुछ प्रमुख आचार्य कालगति प्राप्त हो गये। जो जीवित थे उनका ज्ञान भी शीर्ण होने लगा था। ऐसी स्थिति में वीरनिर्वाण सं० १६० के निकट पाटलीपुत्र में श्रीस्थूलभद्र स्वामी की अध्यक्षता में श्रमणसङ्घ एकत्र हुआ और सभी ने स्मृति के आधार पर द्वादशाङ्गों का व्यवस्थित सङ्कलन किया। इसमें १२ वाँ अंग

दृष्टिवाद त्रुटित था। अतः इसका अध्ययन करने के लिये मगध के श्री-संघ ने श्री स्थूलभद्र आदि ५०० साधुओं को नेपालस्थित श्रीभद्रबाहुस्वामी के पास भेजा। इनमें स्थूलभद्रस्वामी ने दसपूर्व तक सूत्रार्थों का अध्ययन किया। शेष काल प्रभाव से खिन्न हो गये। तदन्तर विषम कलिकाल के कारण तथा स्त्रियों को भी विद्या पढ़ाने के अहम्भाव के कारण अन्तिम चार पूर्वों का वे अध्ययन नहीं कर पाये। यह वाचना **'द्वादशाङ्ग श्रुतसङ्कलन'** नाम से पहचानी जाती है।

(२) **दूसरी वाचना**—पुनः स्मृति-शैथिल्य एवं स्थिति वैषम्य आने पर वीर निर्वाण सं० २४५ से २९१ के बीच महाराजा सम्प्रति ने उज्जैन में श्रमणसंघ को एकत्र किया तथा आचार्य श्रीआर्यगिरि महाराज के गुरुभाई श्रीआर्य सुहस्तिसूरि की अध्यक्षता में द्वितीय वाचना हुई। इस वाचना का उल्लेख श्री हिमवन्तस्थविरावली ग्रन्थ में हुआ है। इसका नाम-'आगम-संरक्षण-वाचना' कहा जा सकता है।

(३) **तीसरी** वाचना-वीरनिर्वाण सं० ३०० से ३३० के बीच यह वाचना हुई। महामेघवाहन खारवेल की प्रार्थना से आचार्य सुस्थितसूरि और सुप्रतिबद्धसूरि की अध्यक्षता में शत्रुञ्जयतीर्थ (कुमर गिरि) में वृहद् श्रमणसंघ का सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसमें एकादश अंगों के दस पूर्वों के पाठ व्यवस्थित किये गये। आचार्य श्री बलिस्सहसूरि ने इस वाचना के प्रसंग से 'विद्याप्रवाद' पूर्व से 'अंग विद्या' आदि शास्त्रों का उद्धार किया। इसका उल्लेख भी 'हिमवन्त गिरिस्थविरावली' में प्राप्त है।

(४) **चौथी वाचना**—जब पुनः दुष्काल हुआ तो वीरनिर्वाण सं० ५९२ के निकट दशपुर (मन्दसौर म० प्र०) में आचार्य नन्दिसूरि के युगप्रधान श्रीआर्यरक्षितसूरि तथा गणाचार्य श्रीवज्रसेनसूरि ने समय की अवस्था जानकर यह वाचना की। आगमों की सुरक्षा के लिये प्रभावक आचार्यों की सम्मति से प्रत्येक सूत्र के मुख्यार्थ को लेकर तथा अन्यार्थों को गौण करके समस्त जिनागम साहित्य को वर्गीकृत किया। जिसमें मुख चार अनुयोग इस प्रकार थे—

१–द्रव्यानुयोग (दृष्टिवाद)–बारहवाँ अंग।

२–चरणकरणानुयोग—ग्यारह अंग, छेदसूत्र, महाकल्प उपांग एवं ५ सूत्र।

३–गणितानुयोग—सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि।

४–धर्मकथानुयोग–ऋषिभाषित उत्तराध्ययनादि।

(५) **पाँचवीं वाचना**–वी. नि. सं. ८३० से ८४० के बीच आ० स्कन्दिलसूरि ने उत्तरापथ में स्थित मुनियों को मथुरा में तथा श्रीनागार्जुनसूरि ने दक्षिणापथ में स्थित मुनियों को 'वलभी' नगरी में एकत्र करके वाचनाएँ कीं। यह समय राज्यक्रान्ति और दुष्काल के कारण अतिसंकटापन्न था, अतः दो विभागों में यह वाचना हुई। सम्भवतः इसी काल में पहली बार आगमों को पुस्तक रूप में लिखा गया क्योंकि इस समय विस्मृति और राज्यविप्लव से आगमों की रक्षा आवश्यक थी।

(६) **छठी वाचना**–यह वाचना क्रमशः माथुरी वाचना के उत्तराधिकारी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण और वालभीवाचना के उत्तराधिकारी श्रीकालकसूरि ने वलभी (सौराष्ट्र) में सम्पन्न की। इसका समय वी० नि० सं० ९८० माना गया है। पाँचवीं वाचना में निर्धारित पाठ एवं पाठभेद सहित गीतार्थों की आज्ञानुसार ८४ आगमों का ताडपत्रों पर लेखन साधुओं द्वारा किया गया तथा अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का पुस्तकों के रूप में आलेखन इस वाचना की महत्त्वपूर्ण देन है।

वाचनाओं के विशिष्ट गुण

जिस प्रकार वैदिक वाङ्मय को स्वर-प्रक्रिया के द्वारा तथा पाठ-सौष्ठवरूप विकृतिपाठों के यथावत् सुरक्षित रखा गया है, वैसे ही जैन आगम-साहित्य की वाचनाओं में भी पाठसुरक्षा के लिये पूर्ण तत्परता रही है। अनुयोग-द्वार में उपाध्याय **'सूत्र वाचना'** और आचार्य **'अर्थ वाचना'** किस प्रकार देते थे, इसका निर्देश हुआ है जिसमें 'आगम-पाठ-ग्रहण' में निम्नलिखित सावधानियाँ अपेक्षित थीं, यथा—

१. **शिक्षित**—साधारणतः सीख लेना।

२. **स्थित**—सीखे हुए पाठ को मस्तिष्क में स्थिर करना।

३. **जित**—अनुक्रम पूर्वक पठन करना।

४. **मित**—अक्षरादि की मर्यादा, संयोजन-प्रकारादि जानना।

५. **परिजित**—अननुक्रम-व्यतिक्रम से पाठ करना।

६. **नामसम**—जैसे प्रत्येक व्यक्ति को अपना नाम याद रहता है वैसे ही सूत्रपाठ को कण्ठस्थ कर लेना।

७. **घोषसम**—स्वर के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और व्यंजनों के स्थान प्रयत्नादि के अनुरूप उच्चारण करना।

८. **अहीनाक्षर**—पाठक्रम में किसी भी अक्षर को हीन-लुप्त या अस्पष्ट न करना।

९. **अनत्यक्षर**—अधिक अक्षर नहीं जोड़ना।

१०. **अव्याविद्धसर**—अक्षर, पद आदि का विपरीत पठन नहीं करना।

११. **अस्खलित**–पाठ का यथाप्रवाह, स्खलनारहित उच्चारण करना।

१२. **अमिलित**—अक्षरों को बिना मिलाये स्पष्ट उच्चारण करना।

१३. **अव्यत्याम्रेडित**–अन्य सूत्रों, शास्त्रों के पाठ को समानार्थक जानकर उच्चार्य पाठ के साथ न मिलाना।

१४. **प्रतिपूर्ण**—पाठ का पूर्णरूप से उच्चारण करना, किसी अंग को अनुच्चारित न रखना।

१५. **प्रतिपूर्णघोष**—उच्चार्य पाठ का मन्द, कृच्छ्रश्रव्य अथवा अबोध्य पाठ न कर सुश्राव्य सुबोध्य पाठ करना।

१६. **कण्ठौष्ठविप्रमुक्त**–पाठ को गले अथवा ओष्ठ में रोक कर न बोलना।

इस प्रकार श्रुतिपरम्परा एवं आगम-प्राप्तिक्रम में वाचना-विधि का यह निर्देश अवश्य ही उपादेय रहा है।

आगम-सम्बन्धी वर्तमान चेतना

विज्ञान के विकास से प्राप्त सुविधाओं के अनुसार जैन समाज ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुरूप आगमों की सुरक्षा के अनेक उपाय किये हैं। ताडपत्रों पर लिखे गये आगमों को हाथ के बने कागजों, वस्त्रों, शिलाओं, ताम्रपत्रों पर उतारा गया। यथा सम्भव प्रत्येक बड़े नगरों में 'भण्डार'

बनाकर वहाँ आगमों की लिखित प्रतिलिपियाँ रखना आवश्यक माना गया। मुद्रणकला की सुविधा मिलने पर सर्वोत्तम मुद्रण करवाया गया। टीका-प्रटीकाओं सहित मुद्रित ग्रन्थों को संग्रहालयों में रखा गया। बीसवीं शती में उत्पन्न आचार्य श्रीसागरानन्द सूरि ने सूरत में 'ताम्रपत्रागम' मन्दिर का निर्माण करवाकर समस्त आगमों को ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण करवा दिया। ठीक उसी तरह पालीताणा तथा एक अन्य नगर में भी इन्हीं आचार्य ने प्रस्तर शिलाओं पर आगमों को उत्कीर्ण करवाया। इसी आधार पर इन्हें 'आगमोद्धारक' पदवी से विभूषित किया गया था। इनके द्वारा सम्पादित मूल पाठों के बड़े आकार वाले पत्रों में मुद्रित आगम 'आगम-मञ्जूषा' के रूप में रखे गये। इनके प्रशिष्य मुनिराज अभयसागरजी गणी ने भी चतुर्विधसंघ की स्थिति में प्रकीर्णरूप से आगम वाचनाएँ की हैं और कर रहे हैं।

दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापन्थ आदि सभी जैन सम्प्रदाय आज अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार आगमों के प्रकाशन, संरक्षण एवं अध्ययनाध्यापन में पूर्णतः प्रयत्नशील हैं यह इस समाज के लिये गौरव की बात है।

●

आगम

पं० शिवकुमार शास्त्री

भारतीय सनातन धर्म की परम्परा के प्रवाह को अविरल गति प्रदान रने में सन्त-महात्माओं का प्रमुख स्थान रहा है। आज ऐसा समय है जसमें जन्म और जीवन से भारतीय रहने वाले प्राणी भी भारतीय शाश्वत ान धारा में अवगाहन करने की तो बात ही नहीं, उसका आचमन और ार्जन भी कम ही करते हैं। भारतीय सनातन धर्म की परम्परा में "श्रद्धा ौर विश्वास" दो अति महत्त्व की आधार शिला हैं। इसी श्रद्धा और ाश्वास से युक्त व्यक्ति ही अपने को, अपने में स्थित मन और आत्मा को ौर अन्य उच्चतम अनुभूतियों को तो जान पाता ही है, पृथ्वी, जल, तेज, ायु, आकाश, पत्थर, कपड़ा, कागज, लकड़ी, पशु-पक्षी, वृक्ष और मनुष्य भी में उस दिव्य सत्ता का अनुभव और दर्शन करता है जिसे ईश्वर, ह्म, खुदा, येहोवा आदि विभिन्न नामों से विभिन्न मतों के लोग जानते परन्तु वह स्त्री है या पुरुष या कुछ भी है, यह केवल स्वानुभूति से ही पनी-अपनी भावना के अनुसार व्यक्ति अनुभव करता है।

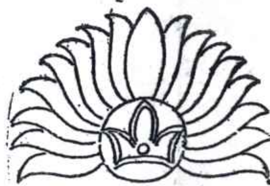
श्रद्धा और विश्वास पूर्वक जो व्यक्ति जिज्ञासा से इधर उधर भटकते , बहुत सी पुस्तकों को पढ़ते हैं, वह कदाचित् सरल बातों को भूले रहते । मनुष्य बिना किसी व्यक्ति विशेष की या शक्ति विशेष की कृपा के पनी ज्ञानेन्द्रियों—(आँख, कान, मुँह, नाक और स्पर्श) से उस अनुभूति ो, उस ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता जो अनुभूति या ज्ञान, ज्ञानेन्द्रियों ी सीमा के बाहर का है। इस ज्ञान को पढ़ाकर, सुनाकर, उपदेश देकर, योग विधि बतलाकर उसे सम्पन्न कराकर अनुभूति कराने में समर्थ एक ाभूति "श्री स्वामी करपात्री जी" हैं। जिनकी कृपा और मार्ग-दर्शन से संख्य श्रद्धालुओं को उस दिव्य अनुभूति के रसास्वादन का पथ प्राप्त ाता है।

भारतीय ज्ञान के दो मूल स्रोत "निगम और आगम" हैं। उपनिषद, राण, तंत्र, श्रीमद्भागवत, संत साहित्य से लेकर रामचरितमानस तक निगम और आगम की मणियाँ पिरोयी हुयी हैं। श्री स्वामी जी इस गाध समुद्र (रत्नाकर) में अवगाहन कर इन दुर्लभ मणियों को श्रद्धालुओं में विभूति रूप में वितरित करने में श्रीगुरु कृपा से समर्थ हैं। यह मन-चले का सौदा, जिसका मन चले बिना मोल कल्पवृक्ष के नीचे जाकर ले सकता है।

आत्मा, मन और शरीर के संयोग से जीवित प्राणी बुद्धि से युक्त हो आत्मज्ञान और परा का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा कर कर्म में प्रवृत्त होता है। उस जीवन को सुव्यवस्थित रूप से बिताने के लिये व्यक्ति का पूरा जीवन और समाज, धर्म के आधार में सुबद्ध हो इस महत् प्रयोग की प्रयोगशाला के समान हो जाता है। उसी को बतलाने का ज्ञान—(१) सृष्टि, प्रलय, (२) देवार्चन, (३) साधन, (४) पुरश्चरण, (५) षट्कर्म, (६) ध्यान, (७) योग, इन सात लक्षणों से युक्त विज्ञान-विशेष को 'आगम' कहते हैं। पुस्तकों को पढ़ने से, पुरश्चरण करने से, शब्दों के आडम्बर से और वाग्-विलास से विभूषित कर्मकाण्ड और कठिन तपस्या करने के 'अहं' से पुष्ट-व्यक्ति-विशेष समाज में सुशोभित तो हो सकते हैं, परन्तु बिना गुरु कृपा के अक्षरों को पढ़कर जो अक्षरों से परे हैं, उसका ज्ञान जो इन्द्रि-यातीत है, उसकी अनुभूति सम्भव कहाँ? भगवान् आद्य शंकराचार्य की परंपरा में दीक्षित स्वामी करपात्री जी के कृपा-प्रसाद से श्रद्धालु जिज्ञासुओं को यह ज्ञान सुलभ है। बाबा विश्वनाथ की नगरी काशी, विज्ञान के प्रकाश पुञ्ज से युक्त जगत् में व्याप्त अज्ञान जन्य अन्धकार, कलह, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, मद, मोह, मात्सर्य को दूर करती रहेगी, यही शाश्वत परंपरा है। निगम और आगम का ज्ञान होने के बाद मनुष्य की स्थिति भगवान् शंकराचार्य ने लिखा है—

माता च पार्वती देवी, पिता देवो महेश्वरः।
बान्धवाः शिव-भक्ताश्च, स्वदेशो भुवनत्रयम्॥

'सन्मार्ग' के आगम विशेषांक को पढ़कर जो सज्जन इन दिव्य विभू-तियों की अनुभूति कर सकें, यह तो काशी पुराधीश्वर और शिवोऽहं-शिवोऽहं का साधिकार उच्चारण करने वाले महात्मा की कृपा से ही सम्भव है।



श्री चरणों के विगत दो वर्ष

श्री आत्म चैतन्य ब्रह्मचारी

देश की अनेक पत्रिकाएँ धार्मिक जगत् के सम्राट् पूज्य श्री चरण अनन्तश्री विभूषित स्वामी जी महाराज के जयन्ती महोत्सव पर अपने विशेषांक प्रकाशित कर रही हैं। विगत अनेक वर्षों से वाराणसी का प्रमुख दैनिक पत्र 'सन्मार्ग' श्री चरणों के जयन्ती महोत्सव पर अनेक संज्ञाओं और आकर्षक आकार वाले विशेषांकों को प्रकाशित कर श्री चरणों में समर्पित कर चुका है। इस क्रममें अब तक 'योग विशेषांक', 'गोरक्षा-विशेषांक' तथा 'तन्त्र विशेषांक' प्रकाश में आकर बहुचर्चित और जनता के आदर भाजन बन चुके हैं। इस बार यह महत्त्वपूर्ण "आगम विशेषांक" प्रकाशित हो रहा है, इसका भी अपना विशिष्ट स्थान रहेगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

दो वर्ष पूर्व के उक्त अवसर पर प्रकाशित 'गोरक्षा' विषांक में हम लोगों से परामर्श करके उसके संपादक श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी ने अपने संपादकीय लेख में पूज्य श्री चरणों के एक वर्ष के क्रिया कलापों का संक्षिप्त विवरण दिया था और यह सोचा गया था कि इसी प्रकार प्रति वर्ष प्रकाशित होने वाले विशेषांकों में पूज्य श्री चरणों के उस एक वर्ष के अन्तराल में सम्पन्न कार्य कलापों का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित कर दिया जाय जिससे पूज्य चरणों के पवित्र क्रिया कलापों से विज्ञ भक्तजनों को लाभ होता रहे। कुछ कारणों से विगत वर्ष के तन्त्र विशेषांक में वह विवरण नहीं जा सका। इस वर्ष श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी ने मुझे पुनः उक्त आवश्यकता का स्मरण कराया और यह भी कहा कि अब विगत दो वर्षों का विवरण देना आवश्यक हो गया है क्योंकि पूज्य चरणों के सान्निध्य में यात्राओं में मैं ही सेवा में रहा हूँ अतः यह कार्य मुझे ही करना होगा। यद्यपि इस समय के इस कोटि के सर्वोच्च महापुरुष के कार्यों को लिपिबद्ध करना एक अति कठिन कार्य है, परन्तु अपनी दैनिकी की सहायता से जो सूचनाएँ मेरे पास एकत्र हो सकीं हैं, उन्हें प्रस्तुत कर देना मेरा पुनीत कर्तव्य है, यह समझ कर मैं इस लेखन में प्रवृत्त हूँ।

विगत दो वर्षों में श्रीचरणों की सेवा में रह कर सनातन धर्म के मूर्तिमान् साक्षात् स्वरूप को प्रत्यक्ष देखने का अनेक जन्मों के पुण्यों का फलीभूत सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है। इस अन्तराल में देश विदेश में अनेकानेक घटनाएँ घटीं, धार्मिक जगत् में भी अनेक प्रकार की उथल पुथल हुई। परम पूज्य श्री चरणों को भी स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक घात प्रतिघातों का सामना करना पड़ा, परन्तु इन सबके होते हुए भी सनातन धर्म के मूल्यों की रक्षा का उनका संकल्प अविचलित रहा। सभी प्रकार की विपरीततम परिस्थितियाँ आयीं, जैसा कि महापुरुषों के जीवन में आती ही हैं, परन्तु देखा यह कि जहाँ अन्य पुरुषों को विपरीत परिस्थितियों के झंझावात अपने मार्ग से विचलित करते हैं वहाँ इन महापुरुषों का स्वभाव यह होता है कि इन परिस्थितियों में ये अपने पवित्र लक्ष्य को और भी अधिक दृढ़ता से पकड़ते हैं, परिस्थियाँ ही हार कर दूर हो जाती हैं, इनके चरण लक्ष्य की ओर अधिक अग्रसर दिखाई देते हैं और इस विलक्षण घटना को प्रत्यक्ष देखने वालों के हृदय कमल इन रहस्यों के प्रत्यक्षीकरण के साथ ही विकसित हो उठते हैं, यद्यपि इन रहस्यों का अनुभव करने का दम भरना निरी मूर्खता ही है—

"लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति"

परन्तु अपने जीवन को धन्य और सफल बनाने की यह कुंजी भगवत्कृपा और विशिष्ट पुण्यों का ही फल होता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

परमपूज्य श्री चरणों के सान्निध्य के विगत वर्षों ने हमें यह अनुभव करा दिया कि प्राचीन पुराण आदि विविध साहित्य ग्रन्थों में महापुरुषों के विलक्षण जीवन की जिन लोकोत्तर घटनावलियों के चित्रण हुए हैं, उनमें कोई भी असत्य नहीं है। इस प्रामाणिकता का साक्षात्कार पूज्य श्रीचरणों के सान्निध्य में होना इसलिए संभव हुआ कि आप भारतीय इतिहास के प्रथम कोटि के निर्माताओं की श्रेणी में हैं।

वे अद्भुत समन्वयवादी हैं। सभी दर्शनों और सम्प्रदायों के मिलन बिन्दुओं को उपस्थित करते हुए उन्होंने वर्तमान समय में अनादि सनातन धर्म की जो सेवाएँ की हैं उससे भारत का धार्मिक जगत् सुपरिचित हो चुका है।

विगत वर्षों में पूज्य श्री चरण अत्यन्त गंभीर रूप से अस्वस्थ हो गए। कैसी थीं वह विलक्षण घड़ियाँ, चातुर्मास्य व्रत पूर्ण करके अनन्त श्री जगद्गुरु पुरी के शंकराचार्य जी महाराज के अत्यन्त आग्रह पर आप को काशी से सुदूर बीकानेर की यात्रा पर जाना पड़ा, वहीं एकाएक आपको अपनी ऐसी अस्वस्थता का अनुभव हुआ कि आपने यह देखा कि यदि इस गंभीर अस्वस्थता का यहाँ के लोगों को ज्ञान हो गया तो ये लोग ऐसा घेरा डालेंगे, डाक्टर-वैद्यों का ताँता लगेगा कि फिर यहाँ से निकलना कठिन हो जायगा। आपका ध्यान काशी की ओर लग गया, रात्रि में बहुत देर में, जब सभी लोग गहन निद्रा में थे, आपने अपने ड्राइवर को उठाया और तत्काल गाड़ी स्टार्ट कर वहाँ से चल देने का आदेश दिया। प्रायः मध्याह्न तक आप वृन्दावन आ गए और दूसरे दिन प्रातः काशी पधार आए। परन्तु अस्वस्थता पर्याप्त गम्भीर थी। पूरे पृष्ठ भाग

को दर्द ने जकड़ लिया था, गर्दन से लेकर दर्द कसता ही जा रहा था। हमलोग दर्शक भक्त लोगों को, जो एक बार दर्शन मात्र करने का हठकर रहे थे और अस्वस्थता का समाचार प्राप्त कर के दूर से चलकर आए थे, उन्हें किसी प्रकार रोकने में असमर्थ हो रहे थे। डाक्टरों तथा वैद्यों की परिषद बैठ कर चिकित्सा में लगी थी। प्रतिदिन शतशः तार और पत्र स्वास्थ्य समाचार जानने के लिए आते जा रहे थे। उनका यथा सम्भव मुझे उत्तर देना होता था। हर क्षण टेलीफोन और ट्रंककालों से फुर्सत नहीं मिल रही थी। परन्तु पूज्य चरण उस गम्भीर अस्वस्थता में भी अपने दैनिक कार्यक्रमों का, पूजन आदि का व्यतिक्रम सह नहीं पा रहे थे। समय होते ही मेरी ओर इंगित करके कह उठते थे, "पूजा लग गई?" हम लोग सुनकर मन ही मन विलक्षण कष्ट और अपार आनन्द की साथ-साथ अनुभूति करते थे कि ऐसे महापुरुष को ऐसा कष्ट झेलना पड़ रहा है और कितनी अपार भगवत्कृपा है कि शरीर की चरम पीड़ा की इस स्थिति में, जब कि रोगी को किसी भी बात की स्मृति तक सम्भव नहीं रह जाती, जरा भी चेतना आते ही पूज्य चरण यदि कुछ बोलते हैं तो कहते हैं—"कहाँ है आत्मचैतन्य, पूजा लगी कि नहीं?" चरणों में सिर लगा कर हमारा निवेदन होता कि "गुरुदेव, पूजा निरन्तर चल रही है, उसमें कोई व्यतिक्रम नहीं हो रहा है, थोड़ा भी चैतन्य होने पर आपके श्रीमुख से भक्ति और वैराग्यपरक भागवत, उपनिषद् और रामायण की पंक्तियाँ सुनने को मिलती थीं। श्रीराम, श्रीराम तो आपके श्रीमुख से अनवरत चलता रहता था।

चिकित्सक भी बड़े परेशान और निराश होने लगते कि जब ये हमारी निर्धारित कोई औषधि ही नहीं लेंगे तो रोग दूर होगा कैसे, आपके इस कथन से सारे लोग निरुत्तर और अधिक चिन्तित हो जाते कि "क्या करना है रोग दूर करके, बहुत हो गया, जैसी भगवदिच्छा होगी वही होगा।" जो भी औषधि स्थिर की जाती वह उसी अवस्था में ग्राह्य होती थी जब उसका निर्माण अपने सामने पूर्ण पवित्रता से किया जाता। कविराज ब्रजमोहनजी दीक्षित, पूज्य चरणों की प्रकृति से पूर्ण परिचित हैं और उन्होंने औषधियों की व्यवस्था पूज्य चरणों के आदेशानुसार ही कर दी। प्रायः एक मास की चिन्तित अवस्था के उपरान्त आपका स्वास्थ्य सम्हलने लगा, परन्तु स्वास्थ्य के कुछ ठीक होते ही, पूजन, लेखन, स्वाध्याय आदि का क्रम पूर्ववत् प्रारम्भ हो गया। 'आपन तेज सम्हारो आपै' वाली बात बिल्कुल पूज्य महाराज श्री में ही घटित होती है।

चिकित्सक के ऐसा करने से रोकने पर आपका यह उत्तर होता कि यदि हमें कुछ करना ही नहीं है तब तो हम बीमार ही रहें वही अच्छा है, कम से कम मन में यह तो रहेगा कि हम कार्यों में असमर्थ हैं। भगवत्कृपा से सामर्थ्य लाभ होने के उपरान्त अपने कार्यों के प्रति विराम हमसे सहन नहीं हो सकता।

और फिर प्रारम्भ हो गई वे ही लम्बी-लम्बी यात्राएँ। स्वास्थ्य ठीक करने के लिए आपने अपने चिर अभ्यस्त आसनों का काल कुछ और बढ़ा दिया जिससे इस अवस्था में शरीर में आश्चर्य जनक स्फूर्ति आ गई और चिकित्सकों को भी बहुत आश्चर्य होने लगा। भवभूतिका वाक्य बार-बार याद आता था—

"लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति"

हमें यह स्मरण करके आनन्दानुभव होता रहता है कि श्री चरणों का यात्रा आदि में नैकट्य होने से उनकी आवश्यकताओं का ज्ञान हो गया है और उनकी सेवा के समय जो आनन्दोपलब्धि होती है उसके सामने सब कुछ तुच्छ प्रतीत होता है। श्री चरणों को अस्वस्थदशा में जब कोई उठाते या एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का प्रयत्न करते तो श्री महाराज यही कहते कि "आत्मचैतन्य ही ले चलेगा।" मानव जीवन की इससे अधिक सफलता और धन्यता हमारे लिए और कुछ नहीं है। इसमें हमारी कोई विशेषता नहीं है, यह उनका विश्वास ही है कि उनके कार्य को हम उनके मनोनुकूल कर पाते हैं। कुछ महानुभावों ने जब हमसे यह पूछा कि आपही को श्री महाराज क्यों बुलाते हैं तो हमने उन्हें कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल का यह श्लोक सुनाया—

सिद्ध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां निरोद्धा
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्॥

विगत दिनों में पूज्य चरणों के साथ मिथिला की अमराइयों में जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। वहाँ की भूमि में पहुँचते ही श्री चरण राजराजेश्वरी भगवती सीता के स्वरूप ध्यान में निमग्न हो गए। मैंने प्रश्न किया कि इस स्थान विशेष का भगवती सीता से सम्बद्ध होने के सन्दर्भ में आज हम क्या प्रमाण दे सकते हैं, तो तत्काल पूज्य चरणों ने उत्तर में कहा कि इस प्रकार के सन्देह से तो सातों पुरियों की ऐतिहासिकता सन्दिग्ध हो जायगी! इन बातों को तो आज श्रद्धा और विश्वास के आधार पर ही देखना होगा। काल के लम्बे अन्तराल के उपरान्त श्रद्धा और विश्वास ही अन्तिम आधार शेष रह जाते हैं।

पूज्य चरणों के द्वारा इस समय युगों को प्रभावित करने वाला कार्य सम्पन्न हो रहा है—वेद-संहिताओं का भाष्य। निस्सन्देह यह भी एक महायज्ञ का अनुष्ठान है। पूज्य चरणों के द्वारा आज से ४० वर्ष पूर्व से पुनः भारत भूमि यज्ञ भूमि बनी थी! कोटि होम, लक्षचण्डी, सहस्र चण्डी आदि यज्ञों के अनुष्ठान से भारत का कोई प्रदेश शेष नहीं रहा। आपका बार-बार दीर्घकाल से इस ओर ध्यान था कि आधुनिक भारतीय और वैदेशिक विद्वानों ने वेदों की व्याख्या की अनधिकार चेष्टा करके बहुत अनर्थ फैलाया है। उनका समाधान होना आवश्यक है। वाल्मीकि रामायण, श्रीमद्भागवत आदि श्रद्धास्पद ग्रन्थों से सम्बद्ध इस प्रकार की अनर्गल चेष्टाओं के उत्तर में आप अब तक अनेक ग्रन्थ-रत्न दे चुके हैं, श्रीभगवत्तत्त्व, रामायण मीमांसा, विचार पीयूष आदि के रूप में। वेदों के सम्बन्ध में लिखने के लिए दीर्घ कालीन श्रम की अपेक्षा थी। विगत पाँच वर्षों से आपने वही कार्य हाथ में लिया और अब तक प्रायः ढाई हजार पृष्ठों के दो विशाल ग्रन्थ, जो कि भाष्य की भूमिका रूप में हैं, मुद्रित होकर "वेदार्थ पारिजात" के नाम से सामने आ चुके हैं। मुद्रण और लेखन का क्रम अनवरत चल रहा है। प्रायः पाँच घण्टा प्रतिदिन महाराज श्री का समय इसी कार्य में जाता है। काशी के मूर्धन्य विद्वानों की मण्डली भी पूज्य चरणों के निर्देश में निरन्तर कार्यरत है। हम सेवकों

का भी यही पुनीत कर्तव्य हमें समझ में आता है कि इस महान् कार्य में कोई बाधा न हो, इसका यथाशक्ति प्रयत्न करते रहें।

संकटमोचन के यशस्वी महन्त श्रीमान् वीरभद्र मिश्र जी 'सन्मार्ग' का विशेषांक निकालकर प्रतिवर्ष श्रीचरणों को समर्पित कर रहे हैं, यह एक बहुत बड़ी धार्मिक सेवा है, जिसके लिए महन्त जी का प्रयत्न स्मरणीय रहेगा।

पूज्यचरणों की विगत वर्षों की कुछ घटनाएँ इस प्रकार हैं—

संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने पूज्य स्वामीजी को डी. लिट. की उपाधि से विभूषित किया—७ फरवरी १९७८।

११, १२, फरवरी १९७९ को ओबरा, मिर्जापुर में प्रवचन।

२०३६ को रामनवमी के दिन भूतपूर्व काशीनरेश श्री विभूति नारायण सिंह जी के द्वारा "वेदार्थ पारिजात" ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का विमोचन—स्थान-संपूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी। २०३७ गंगादशहरा को "वेदार्थ पारिजात" के द्वितीय खण्ड का पूज्य स्वामी जी द्वारा विमोचन, इसी बीच कलकत्ता के हनुमान ट्रस्ट द्वारा "रामायण मीमांसा" नामक ग्रन्थ पर पाँच सहस्र मुद्रा का पुरस्कार प्रदान—पूज्य स्वामीजी को। १९, २०, २१ फरवरी सन् १९७९ को हजारीबाग में व्याख्यान।

३, ४ मार्च, १९७९ गोपालगंज (बिहार) में व्याख्यान।

जून, १९७९ के प्रथम सप्ताह में जमशेदपुर के प्रमुख उद्योगपति नगीन भाई पारीख के यहाँ प्रवचन। २२ सितम्बर से २७ सितम्बर, १९७९ को रावतसर (राजस्थान) में पुरी के जगद्गुरु शंकराचार्य महाराज के द्वारा आयोजित यज्ञ में प्रवचन। उसी सातत्य में उसके उपरान्त, भादरा (राजस्थान) तथा पूज्य चरण स्वामी श्री नन्दनन्दनानन्द सरस्वती जी महाराज के द्वारा आयोजित नोहर (राजस्थान) यज्ञ में प्रवचन।

१६ दिसम्बर १९७९ से १ जनवरी १९८० तक लोकसभा चुनाव में इलाहाबाद, प्रतापगढ़, लखनऊ, जालौन, हमीरपुर, बाँदा, कानपुर, कालपी, उरई, दुर्ग, राजनांद गाँव, दिल्ली, बीकानेर, चूरू, सिरसा, भिवानी, आरा, इन स्थानों पर रामराज्य परिषद् के प्रत्याशियों के समर्थन में चुनाव व्याख्यान दिये।

जनवरी १९८० के अन्तिम सप्ताह में ओपा (बिहार) यज्ञ में व्याख्यान।

२६ जनवरी १९८० को सीवान (बिहार) में आयोजित यज्ञ में व्याख्यान।

२७ जनवरी १९८० को स्वामी अखंडानन्द सरस्वती जी के सन्यास जयन्ती महोत्सव का चन्दौली के पास उद्घाटन।

५ फरवरी ८० को श्री विजयानन्द त्रिपाठी शताब्दी समारोह का काशी में उद्घाटन। फरवरी के द्वितीय सप्ताह में कालाकांकर यज्ञ में प्रवचन।

८ फरवरी ८० को उन्नाव में उत्तर प्रदेश रामराज्य परिषद् के अधिवेशन में सम्मिलित हुए।

उसके सातत्य में ही ओबरा (मिर्जापुर) में मानस सम्मेलन में प्रवचन।

११ से १४ फरवरी ८० तक जनकपुर तथा बिहार के अन्य अनेक स्थानों की यात्रा और प्रवचन।

शिवरात्रि दरभंगा में—वहीं कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय में वेद-भवन का शिलान्यास किया।

फरवरी १९८० के चतुर्थ सप्ताह में फतेहपुर यज्ञ में प्रवचन

१९८० में होलाष्टक वृन्दावन में व्यतीत किया।

१४ मार्च ८० को भाटपाररानी (देवरिया) में मदन मोहन मालवीय शिक्षण संस्थान में दीक्षान्त समारोह में प्रधान अतिथि पद से व्याख्यान दिया।

नवरात्र व्रत सीवान में सम्पन्न हुआ। रामनवमी १९८० को लक्ष्मण किला, अयोध्या में दर्शन किये।

मार्च ८० के अन्तिम दो दिन सहसराम (बिहार) के मानस सम्मेलन में प्रवचन।

२३ अप्रैल ८० को धर्मसंघ, देहली की मीटिंग में पधारे।

४ अप्रैल से १३ अप्रैल ८० तक हरिद्वार के अर्धकुम्भ में पधारे और अनेक प्रवचन किये।

हरिद्वार के इस निवास में ज्वर का प्रबल आक्रमण हुआ फिर भी संक्रान्ति को गंगा स्नान किया, प्रातः भ्रमण भी चलता रहा।

अप्रैल के दूसरे सप्ताह (८०) में सप्त सरोवर (हरिद्वार) स्थित भूमा निकेतन में नवनिर्मित सत्संग भवन का उद्घाटन।

२० अप्रैल ८० को पाली (राजस्थान) में यज्ञ में प्रवचन।

२१ अप्रैल ८० को ब्यावर (राजस्थान) में पुरी के श्री जगद्गुरु शंकराचार्य महाराज द्वारा सत्संग भवन का उद्घाटन।

२३ अप्रैल से ३० अप्रैल १९८० तक उज्जैन के पूर्ण कुंभ में सम्मिलित हुए। अनेक प्रवचन और सहस्रों का सत्संग होता रहा।

१० मई से २२ मई, १९८० तक विधान सभा चुनावों के लिए रामराज्य परिषद् के प्रत्याशियों के समर्थन में कवर्धा (मध्य प्रदेश), रायपुर (म० प्र०), इलाहाबाद, प्रतापगढ़, सुलतानपुर की सभाओं में व्याख्यान दिये।

६ जून ८० को हजारीबाग (बिहार) में श्री रामचरितमानस यज्ञ में प्रवचन।

जुलाई के तीसरे सप्ताह में गोवर्धनपुरी (उड़ीसा) में आयोजित अखिल भारतीय धर्मसंघ प्रशिक्षण शिविर एवं अ० भा० रामराज्य परिषद् के ३६ वें महाधिवेशन में पधारे।



स्वर्गीय को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर के वाक्यपदीय पर रचित ग्रन्थों की समीक्षा

एम० बिआर्दो

('जर्नल-एसियाटिक' से साभार)

(हम इस समीक्षा को व्याकरणागम के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर की स्मृति में प्रकाशित कर रहे हैं। प्रोफेसर अय्यर ने यावज्जीवन संस्कृत वाङ्मय का अध्यापन और अनुशीलन किया। वह लखनऊ विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के प्रोफेसर थे और सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद पर अधिष्ठित हो चुके थे। 'वाक्यपदीय' के अनुशीलन के द्वारा प्राचीन व्याकरणागम-परम्परा के अनुशीलन में उनका योगदान अविस्मरणीय रहेगा। उनकी कृतियों की समीक्षा सम्प्रति पश्चिम की सुप्रसिद्ध संस्कृत विदुषी, फ्रांसदेशनिवासिनी सुश्री एम० बिआर्दो ने की है। सुश्री बिआर्दो भारतीय मनीषा के सभी पक्षों पर अव्याहत अधिकार रखती हैं और उन्होंने भारतीय-परम्परा के सातत्य तथा ऐक्य को प्रस्तुत करने वाली एक समग्र दृष्टि अपनी रचनाओं में व्यक्त की है। उनका वैदुष्य व्याकरणागम, विशेषतः 'वाक्यपदीय' के क्षेत्र में विशेष मुखर हुआ है—अनुवादक)

वाक्यपदीय—तृतीय काण्ड, प्रथम भाग, हेलाराज की टीका से संवलित, सम्पादन—के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर—दकन कालेज मोनोग्राफ़ सीरीज—२१ पूना-१९६३, २७+४०७ पृष्ठ।

वाक्यपदीय—प्रथम काण्ड, वृत्ति तथा वृषभदेवरचित टीका 'पद्धति' से संवलित, के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा समालोचनात्मक सम्पादन, दक्कन कालेज मोनोग्राफ सीरीज—३२, पूना १९६६, पृ० २३+२६८।

वाक्यपदीय—तृतीयकाण्ड, द्वितीय भाग, हेलाराज-रचित 'प्रकीर्णक-प्रकाश' से संवलित, के० ए० सुब्रमणिआ ऐयर द्वारा समालोचनात्मक सम्पादन, पूना-१९७३, पृ० ९+४९२।

वाक्यपदीय—वृत्ति संवलित, प्रथम काण्ड, अंग्रेजी अनुवाद—के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर, दक्कन कालेज बिल्डिंग सेन्टेनरी एण्ड सिलवर जुबिली सीरीज—२६, पूना १९६५, पृ० ३८+१३७।

वाक्यपदीय—तृतीयकाण्ड, प्रथम भाग, अंग्रेजी अनुवाद—के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर, दक्कन कालेज बिल्डिंग सेन्टेनरी एन्ड सिलवर जुबिली सीरीज—७१, पूना, १९७१, पृष्ठ—१०+२४३।

वाक्यपदीय—तृतीयकाण्ड, द्वितीय भाग, अंग्रेजी अनुवाद—के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर, मोतीलाल बनारसीदास-दिल्ली-वाराणसी-पटना १९७४, पृष्ठ—४१२।

भर्तृहरि : ए स्टडी ऑफ वाक्यपदीय इन द लाइट ऑफ एन्शेन्ट कमेन्टरीज—सुब्रह्मण्य अय्यर, बिल्डिंग सेन्टेनरी एण्ड सिलवर जुबिली सीरीज—६८, पूना १९६९।

१९६४ में वाक्यपदीय के प्रथम कांड का अनुवाद प्रकाशित करते हुए उसकी भूमिका में मैंने यह भाव व्यक्त किया था कि मैंने अपना सिर फोड़ लिया होता। यद्यपि के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर के सभी ग्रंथ अभी भी पूरी तरह नहीं निकल पाये हैं (वाक्यपदीय का द्वितीय कांड अभी भी नहीं आया है), फिर भी अब तो जैसे मेरा सिर ही कट गया है। १९६४ से लोग भारत, जर्मनी, अमेरिका, वैंकुअर में वाक्यपदीय पर काम करते रहे हैं, लेकिन यह अत्यन्त स्पष्ट है कि सुब्रह्मण्य अय्यर के द्वारा प्रकाशित समालोचनात्मक संस्करण, अनुवाद और अनुशीलन के ग्रंथ इन प्रयासों में पहला स्थान रखते हैं। हमारे सामने एक ऐसा कार्य है, जो महान भारतीय पंडितों की परम्परा में अंकित है। जहाँ पारम्परिक स्वरूप पश्चिमी विज्ञान की अच्छी अधिगति से दूना हो गया है। दुर्भाग्य से अब इस बात को भूतकाल की क्रिया में कहना आवश्यक हो गया है। कहने का आशय यह है, सुब्रह्मण्य अय्यर पाणिनीय व्याकरण के और ब्राह्मणों के वाक्—दर्शन के विशेषज्ञों के लिए एक ऐसे ग्रंथ को दे रहे हैं, जिसका स्थान कोई दूसरा नहीं ले सकता।

लेखक का पक्ष १९६३ में प्रकाशित तृतीय काण्ड के प्रथम भाग की भूमिका में स्पष्ट रूप से उपस्थित कर दिया गया है और यह पक्ष एक पंडित का पक्ष है, इस मामले में एक ऐसा पंडित जो मूल पाठ को स्पष्ट करने के लिए उच्चतम सेवा समर्पित करने में समर्थ हुआ है। उसने भर्तृहरि की व्याख्या उनके टीकाकारों के माध्यम से करने का मार्ग चुना है। इसने उन्हें हेलाराज के प्रकाश (तृतीय काण्ड पर), वृषभदेव की पद्धति (प्रथम काण्ड पर), जिसका श्री चारुदेव शास्त्री ने अपने संस्करण में आंशिक रूप से ही उपयोग किया था, और द्वितीयकाण्ड का वह संस्करण जो पहली बार भर्तृहरि के नाम से कही जाने वाली वृत्ति तथा इस कांड पर पुण्यराज की टीका के साथ है—सभी को प्रकाशित करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रक्रिया में हरप्रसाद शास्त्री, चारुदेव शास्त्री और कुन्हन राजा के बाद श्री अय्यर ने हमें यह मनवाने के लिए प्रयत्न किया है कि पंचम काण्ड पर गंगाधर शास्त्री मानवल्ली के संस्करण में (बनारस संस्कृत सिरीज, १८८७) में जो टीका दी गई है, वह पुण्यराज की टीका नहीं है, बल्कि वृत्ति के संक्षिप्तरूप को उपस्थित करती है, जो वृत्ति पहली बार चारुदेव शास्त्री के द्वारा (लाहौर, १९३५) सम्पादित की

गई। प्रथम काण्ड पर पुण्यराज की टीका, यदि ऐसी कोई टीका थी, तो अभी तक हमारे सामने नहीं आ सकी।

टीकाओं को कारिकाओं के बारे में सूचना प्राप्त करने का प्रथम स्रोत मानने की यह पहला परिणाम है कि समालोचनात्मक संस्करण में कारिकाएँ, जिन्हें कि परवर्ती संस्कृत साहित्य में बहुधा उद्धृत किया किया गया है और जो विविध पाठ भेदों से युक्त रूप में मिलती है, के पाठ भेदों को विचार के लिए लिया जा सकता है। श्री अय्यर ने एक निश्चित मूल पाठ को निर्मित करने के लिए उन्हीं पाठों को लिया है जिन्हें वाक्यपदीय के टीकाकारों ने स्वीकार किया है यह एक बुद्धिमत्ता पूर्ण समाधान है, विशेषरूप से जब कि हम जानते हैं कि भारतीय लेखक स्मृति से ही उद्धरण देते हैं और यहाँ तक कि पवित्र धर्म ग्रन्थों के भी मूल पाठों का दोषपूर्ण रूप दे देते हैं। इसका दूसरा परिणाम यह है कि टीकाओं का मूल पाठ बेहतर बनाया जा सकता है। प्रस्तुत संशोधनों के महत्त्व का एक अन्दाज देने के लिए सुब्रह्मण्य अय्यर ने हेलाराज की टीका के बनारस संस्करण (तृतीय काण्ड प्रथम भाग पृष्ठ १३) में कुछ छूट गए पाठ की एक सूची दी।

लेखक की पसन्द के पाठ को हमेशा ही निश्चित नहीं माना जा सकता, लेकिन तब, जबकि यह पता है कि लेखक ने अपने ज्ञान को स्वर्गीय वी० ए० रामस्वामी शास्त्री और के० ए० शिवराम शास्त्री की सलाह का सहारा दिया है, किसी को भी किसी मूलपाठ को विरोध करने के पहले दो बार सोचना पड़ेगा। यदि सीधी तौर से कहा जाय, इन तीन पंडितों ने अपने जीवन के अंतिम काल में वह ज्ञान सम्प्रेषित किया है, जिसकी आज तुलना नहीं है। इसमें सन्देह नहीं है कि समग्र मूलपाठ कारिकाओं और व्याख्याओं के साथ जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, वह लम्बे समय के लिए, यदि हमेशा के लिए नहीं, प्रामाणिक रहेगा। इधर-उधर रह गयी मुद्रण की भूलों के लिए किसी को खेद हो सकता है, जिसके लिए अशुद्धियों की सूची का जोड़ना समुचित हो जाता है, लेकिन जब कि हमने ऐसे लेखक और उनके सहयोगी देखे हैं, जो अत्यंत धैर्यपूर्ण व्यक्ति को हतोत्साह कर देने वाले परीक्षण पर भी पीले पड़ जाते हैं, तब ऐसी बातों को तरह दी जा सकती है और एक पठनीय मूलपाठ को हाथ में देने के लिए धन्यवाद देने को तैयार रहा जा सकता है।

भर्तृहरि के विचारों के अनुशीलन के लिए समर्पित खण्ड उसी समालोचनात्मक संस्करण के सन्दर्भ में तार्किक रूप से ही सोचे गए हैं, यह एक पारम्परिक भर्तृहरि ही हैं, जिनका हमारे लिए पुनरुद्धार किया गया है और जिन पर भारतीय टीकाकारों ने टीका की है और उनका अध्ययन किया है। लेखक ने उस अति सरलीकृत मार्ग का अनुगमन नहीं किया है, जैसे कि उदाहरण के लिए भर्तृहरि को वेदान्ती बना दिया जाता है। इसके विपरीत वे यह दिखाने के लिए उत्सुक हैं कि हमारे वैयाकरण अपने केन्द्रीय अनुशासन से संयुक्त रहे हैं, उन्होंने दार्शनिक समस्याओं को भाषा के व्यापार के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है जिनका यह अध्ययन करते हैं और वह भाषा जिसका यह सामान्य रूप से प्रकाशन है। दूसरी ओर श्री अय्यर भर्तृहरि को पश्चिम में विकसित भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का पूर्वप्रवर्तक बताने के समसामयिक प्रयासों से अपरिचित नहीं हैं, लेकिन वह स्वयं इस मार्ग में अनावश्यक रूप से खुद को नहीं जाने देते हैं और क्या स्वीकार किया जा सकता है, इसकी सीमा के प्रति सजग हैं।

सुब्रह्मण्यम अय्यर को पढ़ने के बाद भी मैं बहुत निश्चित नहीं हूँ कि मैं उनकी बात मान गयी हूँ, कि भर्तृहरि प्रथम एवं द्वितीय काण्ड की वृत्ति के रचयिता हैं। मेरा विश्वास है कि इस पर जितना हम दोनों ने किया है, उससे और भी अधिक निकट से देखना जरूरी है। उदाहरण के लिए न कि केवल मण्डन मिश्र की स्फोटसिद्धि को, बल्कि उनके ही विधिविवेक के उल्लेख को। फिर एक वह उद्धरण जो किसी अज्ञात स्रोत से वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड के संस्करण पृष्ठ १७६, २७२-३ पर दिया गया है, इसके बारे में यह क्यों न याद रखा जाय कि यह अंश लगभग इसी रूप में और बिना उद्धरण चिन्ह के जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास में मिलता है। तथापि यह मानते हुए कि भर्तृहरि को वृत्ति का लेखक मानने और न मानने से उनका सम्पूर्ण दर्शन ही बदल जाता है। मैं यह मानती हूँ कि पाश्चात्य विज्ञान आवश्यक रूप से उच्चतर नहीं है क्योंकि यह "सेक्युलर" परम्परा को अंहड़-बहड़ करने में कोई संयम का अनुभव नहीं करता। भर्तृहरि के ऊपर विचार करने पर और टीकाकारों के द्वारा उनके बारे में जो दृष्टि दी गई है, उसको हटा देने पर उन पर और काम किया जा सकता है, यह निश्चित है। कम से कम यह तबतक नहीं किया जा सकता, जबतक कि पहले सुब्रह्मण्यम अय्यर के सारे अध्ययन को पचा न लिया जाय और अपनी जिस असंदिग्ध ईमानदारी का उदाहरण उन्होंने दिया है, उससे समंजस न हो लिया जाय।

(अनुवादक—डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी, बी० सुन्दरलिङ्गम्)

